संस्थापक
शिव वर्मा
संपादकीय परामर्श
असग़र वजाहत
संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान
संपादकीय सहयोग
कांतिमोहन 'सोज़'
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार
हरियश राय
बली सिंह
संजीव कौशल
आवरण
मनोज कुलकर्णी
कार्यालय सहयोग
मुशर्रफ़ अली
इस अंक की सहयोग राशि
साठ रुपये
(डाक ख़र्च अलग)
संपादकीय कार्यालय
ख़सरा नं 258, लेन नं 3, चंपा गली, वेस्ट एंड मार्ग, सैदुल्लाजाब, साकेत मैट्रो के पास, नयी दिल्ली-110030
Email : jlsind@gmail.com
मो. : 9818859545, 9818577833
Website: www.jlsindia.org
प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतः ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक।
पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं, जलेस की सहमति आवश्यक नहीं।

जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय पत्रिका

नया पथ

आततायी सत्ता और प्रतिरोध-1

वर्ष 33 : जुलाई 2019 - दिसंबर 2019 (संयुक्तांक)

अनुक्रम

संपादकीय / 3

आततायी : चेहरा, चरित्र और चाल

फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ जर्मन लेखकों का प्रतिरोध : *शाश्वती मजूमदार* /5
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और डा. आंबेडकर : *सिद्धार्थ* /10
कब लौटेंगे अग्निपक्षी? : *सुभाष गाताडे* /20
सत्ता के प्रति प्रतिरोधी स्वर : *नित्यानंद तिवारी* /30
निरंकुशता के स्रोत, प्रतिरोध के संसाधन : *रवि सिन्हा* / 35
छद्म राष्ट्रवाद : *रामशरण जोशी* /42

नाटक

अंधेर नगरी का संविधान : *असग़र वजाहत* /49

व्यंग्य

बेचने का अधिकार / *विष्णु नागर* /55
18 घंटे काम करने वाला प्रधानमंत्री / *विष्णु नागर* /56

कविताएं

कांतिमोहन 'सोज़', नरेश सक्सेना, इब्बार रब्बी, राजेश जोशी, असद ज़ैदी, मनमोहन, शुभा, कुमार अंबुज, अष्टभुजा शुक्ल, लाल्टू, गौहर रज़ा, जावेद मलिक, दिनेश शुक्ल, अनिल गंगल, अजय सिंह, हीरालाल राजस्थानी, पंकज चतुर्वेदी, संजीव कौशल निशांत, अनुज लुगुन, अनुराधा सिंह, ज्योति लकड़ा, चंद्रकांता, अदनान कफ़ील दरवेश, अनुपम सिंह, यतीश कुमार, ऋतेश, लीमा टूटी 58-125

कहानियां

ग्लेशियर टूट रहे थे : *मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी* /126
गोलाकार के तीन कोण : *नूर ज़हीर* / 134
कलुआ : *चरण सिंह पथिक* /140

विरासत

जनता एवं साहित्य : *रशीद जहां* /147

स्मरण

जलियांवाला बाग़ क़त्लेआम की शती : *शम्सुल इस्लाम* /149

अर्थव्यवस्था

दुहरा ख़तरा : मौजूदा आर्थिक संकट और हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद : *प्रभात पटनायक* /155

शिक्षा

नयी शिक्षा नीति 2019 : स्कूली शिक्षा का मूल्यांकन : *सच्चितानंद सिन्हा* /162

कश्मीर

संविधान की धारा 370 में संशोधन के निहितार्थ : *बद्री रैना* /166
अभिशप्त इतिहास और अनिश्चित भविष्य के बीच कश्मीर : *अशोक कुमार पांडेय* /169

स्त्री, आदिवासी और दलित

स्त्री विरोधी वातावरण के निर्माण में भाजपा सरकार की भूमिका : *किरन सिंह* /177
संघर्षों से जूझता आदिवासी जीवन : *कमलनयन चौबे* /180
स्वच्छता अभियान एक पर्दा है : *बेजवाड़ा विल्सन से प्रबीर पुरकायस्थ की बातचीत* /188

मीडिया का यथार्थ

कितनी आज़ाद है ग्रामीण पत्रकारों की कलम? : *पी साइनाथ* /193
इसे ख़बरों का मृत्युलेख ही समझिए : *राकेश तिवारी* /203
चुनाव प्रचार की नयी तकनीक़ : *मुशर्रफ़ अली* / 208

समीक्षा

लैला सीरियल : डरावने भविष्य की चुनौती : *जवरीमल्ल पारख* /216
ए जी नूरानी की पुस्तक, *द आर एस एस* : *अनन्या वाजपेयी* /225

संपादकीय

आततायी : चेहरा, चरित्र और चाल

वामन शिवराम आप्टे संस्कृत के बड़े आचार्य और पंडित रहे हैं। उन्होंने 1890 में संपादित अपने *संस्कृत-हिंदी कोश* में 'आततायी' शब्द का अर्थ लिखा है, 'किसी का वध करने के लिए प्रयत्नशील'। उनके द्वारा लिखित दूसरे अभिप्राय हैं : 'जघन्य अपराध करने वाला, चोर, अपहरणकर्त्ता, हत्यारा, आग लगाने वाला महापातकी'। संस्कृत और हिंदी के दूसरे बड़े आचार्य श्री रामचंद्र वर्मा द्वारा संपादित *संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर* में 'आततायी' का अर्थ बताते हुए कहा गया है, 'किसी के घर या संपत्ति में आग लगाने वाला, प्राण लेने के लिए विष देने वाला, शस्त्र से हत्या करने वाला, अत्याचारी मनुष्य अथवा घोर पाप करने वाला।' संभवतः इसी संदर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' ने ब्रिटिश सत्ता, सामंतों और पूंजीपतियों के लिए लिखा था, 'पापी महलों का अहंकार फिर-फिर देता आमंत्रण।' जर्मनी और इटली के फ़ासिस्ट और नाज़ी ऐसे ही थे। किंतु भारत की स्थानीय परिस्थितियों और ऐतिहासिक विकासक्रम की ठोस विशेषताओं को विकृत कर पेश करने वाली, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संचालित भाजपा की केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारें फ़ासिस्ट और नाज़ी जैसे विशिष्ट पारिभाषिक संदर्भों में उतना सटीक अर्थ व्यक्त नहीं करतीं जितना 'आततायी सत्ता' के संदर्भ में। चाहे गोरक्षा के नाम पर की गयी हत्याएं हों, या दलितों पर होने वाले नृशंस अत्याचार हों, या मुसलमानों के विरुद्ध फैलायी जा रही जघन्य घृणा और क्रूरता की राजनीति हो या आदिवासियों के साथ रोज़ाना किये जा रहे अत्याचार हों, अथवा किसानों-मज़दूरों को उनके हक़ों से वंचित करने का प्रश्न हो - सभी दृष्टियों से यह आततायी सत्ता अपनी हर कार्रवाई में संविधान के विरुद्ध काम करती जा रही है। इस आततायी सत्ता ने वैज्ञानिक चेतना को अवरुद्ध कर देश में अंधविश्वास फैलाया है, बलात्कारियों को शरण दी है और उनका बचाव किया है, महिलाओं के साथ यह हर प्रकार के भेदभाव करती है, अपनी शिक्षानीति के अंतर्गत देशव्यापी छात्र-समुदाय को ज्ञान और शिक्षा से वंचित करने के क़दम उठा रही है, पाठ्यक्रमों में बदलाव और फ़ीस बढ़ोतरी जैसे फ़ैसले लागू कर रही है। यह ऐसी आततायी सत्ता है जिसने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में हमेशा अंग्रज़ों के साथ साठ-गांठ करके देश के साथ ग़द्दारी की और आज वह फ़र्ज़ी राष्ट्रवाद की आड़ में असहमति के हर स्वर को राष्ट्रविरोधी क़रार देती रहती है। यह ऐसी आततायी सत्ता है जो भारत के उत्पीड़ित जनगण का खून चूसने वाले बड़े पूंजीपतियों या कॉरपोरेट घरानों के हितों के लिए काम करते हुए देश की पूरी अर्थव्यवस्था को मंदी के अंधेरे गर्त में डाल चुकी है। कश्मीर की पूरी जनता के विरुद्ध शस्त्रधारी शत्रु का कार्य कर रही है। यही नहीं, इसे वास्तविक इतिहास से कोई लेना-देना नहीं है। यह एक ऐसी ज्ञान-विरोधी आततायी सत्ता है जो मिथक को इतिहास के रूप में प्रस्तुत करने के हर हथकंडे का इस्तेमाल करती है।

स्वाधीनता आंदोलन की परंपरा के अंतर्गत विकसित पत्रकारिता और मीडिया को सच्चाई प्रस्तुत करने से रोकने की हर तिकड़म करने वाली यह आततायी सत्ता मीडिया की स्वतंत्रता नष्ट कर चुकी है जिसकी वजह से लोगों की ज़बान पर सत्ता की गोद में बैठे मीडिया को 'गोदी मीडिया' कहा जा रहा है

जिस पर कोई समझदार इंसान भरोसा नहीं कर रहा!

यह किसानों और मज़दूरों के पक्ष में कोई भी काम नहीं करती। देश के हर लोकतांत्रिक संस्थान का गला घोंट चुकी है, चाहे वह संविधान हो, संसद हो, चुनाव आयोग हो, विश्वविद्यालय हो या जनता का पक्ष लेने वाली कोई भी संस्था हो।

इसी क्रम में, इस आततायी सत्ता ने अभी-अभी जो नागरिकता पर क़ानून पारित किया है, उससे संविधान की, समानता के अधिकार की और धर्मनिरपेक्षता की धज्जियां उड़ायी गयी हैं। असल मुद्दा यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने एजेंडे को और भाजपा के नेता अपने चुनावी घोषणापत्र को ही देश का संविधान समझ बैठे हैं और लोगों के बीच इसी मान्यता के पक्ष में मीडिया से और अपने भाषणों से प्रचार कर रहे हैं।

इस आततायी सत्ता के विरुद्ध हर भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिरोध करे, तभी स्वाधीनता, समान अधिकार और हर नागरिक के मौलिक अधिकार तथा धर्मनिरपेक्षता को बचाया जा सकता है।

यह एक ऐसी आततायी सत्ता है जिसका पुलिस और सैन्य दलों की बर्बरता और मक्कारी पर पूरा भरोसा है। इस सत्ता का छोटे-बड़े विपक्षी राजनीतिक दलों से कोई संवाद नहीं होता। न किसानों, मज़दूरों, छात्रों, महिलाओं, दलितों और आदिवासियों के जनसंगठनों से कोई संवाद होता है। इन संगठनों के पास और कोई रास्ता नहीं बचता, शांतिपूर्ण प्रतिरोध और देशव्यापी प्रदर्शन ही एकमात्र विकल्प हैं। जब इस आततायी सत्ता को यह जानकारी है कि शांतिपूर्ण प्रदर्शन के दौरान पुलिस की बर्बरता के कारण किसी की आंख चली गयी, कोई प्राणघातक ज़ख़्मी हालत में अस्तपताल में पड़ा है, फिर भी गोदी मीडिया का यह प्रचार है कि प्रदर्शनकारियों ने ही हिंसा की, जबकि कुलपति की अनुमति के बग़ैर पुलिस जामिया के कैंपस, लाइब्रेरी, हॉस्टल - सब जगह घुसकर लाठी-गोली का शिकार बनाती रही निरीह छात्रों को। पूरे देश में इन अत्याचारों और दमनात्मक कार्रवाइयों के ख़िलाफ़ जन आक्रोश फूट पड़ा है, करोड़ों छात्र, युवा, बुद्धिजीवी, कलाकार इस प्रतिरोध में शामिल हो कर संविधान की रक्षा, धर्मनिरपेक्षता और समानता के अधिकार की रक्षा के लिए कृतसंकल्प दिखायी दे रहे हैं।

जलियांवाला बाग़ जैसा जनसंहार करने की हिम्मत यह आततायी सत्ता न कर सके, इसके लिए महात्मा गांधी की 150 जयंती के इस वर्ष में पुनः देशव्यापी सत्याग्रह की शपथ लेनी होगी।

नया पथ का यह अंक इसी प्रतिरोध को समर्पित है, हम तमाम लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने हमें सहयोग दिया है। सामग्री बहुत अधिक हो गयी है, इसलिए अगला अंक भी प्रतिरोध का एक और स्वर होगा।

इस दौरान हमारे कर्मठ साथी, इतिहासवेत्ता, भूतपूर्व 'डूटा' अध्यक्ष, जनाब ज़हूर सिद्दीक़ी, जाने माने कहानीकार, रचनाकार स्वयंप्रकाश और फ़िल्म-जगत के महान कलाकार श्रीराम लागू हमारे बीच नहीं रहे, उन सब को *नया पथ* परिवार की ओर से भावभीनी श्रद्धांजलि।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ जर्मन लेखकों का प्रतिरोध

शाश्वती मजूमदार

हिटलर 30 जनवरी, 1933 को सत्ता में आया था। उसी साल 27 फ़रवरी को जर्मन की संसद 'रेक्सटाग' में आग लगा दी गयी। नाज़ियों ने इसे कम्युनिस्ट साज़िश क़रार दिया। आग लगने के कुछ ही घंटों के भीतर कई कम्युनिस्टों को हिरासत में ले लिया गया। नाज़ियों ने 28 फ़रवरी को 'रेक्सटाग फ़ायर डिक्री' को अपनाने के बहाने के तौर पर इस आग का इस्तेमाल किया । यह एक ऐसा आपात फ़रमान था जिसके द्वारा जर्मन संविधान के मौलिक अधिकारों को वास्तव में निलंबित कर दिया गया था। इस फ़रमान को न केवल कम्युनिस्ट और आगे चलकर सोशल डेमोक्रेट्स बल्कि सभी विरोधी और वामपंथी बुद्धिजीवियों की गिरफ़्तारी का आधार बनाया गया।

नाज़ियों ने 10 मई 1933 को बर्लिन में आयोजित होने वाले केंद्रीय कार्यक्रम के साथ 20 से अधिक विश्वविद्यालयों में सार्वजनिक रूप से पुस्तक जलाने का मंचन किया। यहां नाज़ी प्रचार मंत्री गोएबल्स ने अपना 'फ़ायर स्पीच' दिया जिसमें उसने छात्रों और अन्य प्रतिभागियों से 'अन-जर्मन स्पिरिट' और 'यहूदी बौद्धिकता' से राष्ट्र को शुद्ध करने का आग्रह किया। जिन लेखकों की किताबें जलायी गयीं उनमें प्रमुख रूप से कार्ल मार्क्स, सिगमंड फ्रायड, अल्बर्ट आइंस्टीन, हेनरिक हेन, बर्तोल्त ब्रेख़्त, थॉमस मान, एरिच मारिया रेमार्क और सैकड़ों अन्य लेखक शामिल थे। न केवल जर्मन लेखकों बल्कि अर्नेस्ट हेमिंग्वे, जैक लंदन, विक्टर ह्यूगो, डी. एच. लॉरेंस, एच. जी. वेल्स, टॉल्स्टॉय, दोस्तोएव्स्की, गोर्की और मायाकोवस्की की किताबों को भी जलाया गया था।

'रेक्सटाग' में आग लगने के तुरंत बाद अनेक लेखक जर्मनी छोड़कर भाग गये और निर्वासन में चले गये। इनमें से कुछ को गिरफ़्तार कर यातना शिविरों में भेज दिया गया। कइयों ने आत्महत्या कर लीं। कई लेखकों को मजबूर किया गया कि वे रातोंरात जर्मनी छोडकर भाग जायें। वे दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में पलायन कर गये। यह एक बड़ा पलायन था जिसमें लेखक पहले पड़ोसी देश—ऑस्ट्रिया, स्विट्ज़रलैंड, चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, नीदरलैंड्स, फ़िनलैंड चले गये थे। लेकिन जैसे ही जर्मन सेना ने इन देशों में मार्च किया, उन्हें आगे भागने के लिए मजबूर होना पड़ा। पेरिस, एम्स्टर्डम, स्टॉकहोम, ज्यूरिख़ आदि शुरुआती स्थान थे जहां निर्वासित लेखक एकत्र हुए थे। बाद में उनमें से कई के लिए मास्को, न्यूयॉर्क और मैक्सिको भी केंद्र बन गये। कुछ एशिया (भारत सहित), अफ्रीका और लैटिन अमेरिका जैसे औपनिवेशिक प्रभाव वाले देश चले गये।

लेखकों में से जो जर्मनी में रह गये, उनमें से कुछ या तो पहले से नाज़ी शासन के समर्थक थे या बाद में बन गये और उनके साथ तालमेल बैठा लिया। अन्य लोग चुप हो गये या जिसे 'आंतरिक उत्प्रवास' कहा जाता है, उसमें चले गये। 'आंतरिक उत्प्रवासन' शब्द का प्रयोग उन लेखकों के ग़ैर-फ़ासीवादी और शासन के प्रति आलोचनात्मक साहित्य के संदर्भ में किया गया है, जिन्होंने जर्मनी

को नहीं छोड़ा, लेकिन धार्मिक या मानवीय कारणों से नाज़ी शासन के विरोध में ख़ुद को पाया। शासन-आलोचनात्मक साहित्य को छिपाये बिना प्रकाशित करना एक आत्मघाती उपक्रम था, इस तथ्य के अलावा कि शायद ही कोई प्रकाशक या प्रिंटर इसे प्रकाशित करने के लिए तैयार हुआ होगा। साहित्य को इसलिए या तो दूरदराज में छिपाकर रखना पड़ता था या ऐसी कूट भाषा में लिखा जाता था जो शासकों को धोखा दे सके और इस उम्मीद में कि पाठक आलोचना को सही ढंग से समझ सकें। ऐतिहासिक उपन्यास ऐसे उपन्यासकारों के लिए पसंदीदा विधा थी। अन्य रूप जो अक्सर चुने जाते थे, उनमें लेखकों को व्यक्तिपरक अनुभूतियों के लिए जगह मिल सकती थी, जैसे—डायरी और कविता, विशेष रूप से कुछ विधाएं जैसे—सॉनेट, ओड, शोक गीति, प्रकृति कविता आदि। वास्तव में 'आंतरिक उत्प्रवास' के लेखक प्रतिरोध में कोई प्रभावी भूमिका नहीं निभा सके। उनके साहित्य को खुद, प्रकृति और कविता के दायरे में वापसी के व्यक्तिवादी प्रयास के रूप में ही देखा जा सकता है।

कुछ लेखक, जो ज़्यादातर कम्युनिस्ट या समाजवादी थे, भूमिगत हो गये और नाज़ी शासन के दौरान सक्रिय प्रतिरोध में शामिल हो गये। उन्हें अवैधता की स्थिति में काम करना पड़ा। उन्होंने जर्मनी में वास्तविक परिस्थितियों के बारे में लोगों को सूचित करने में अपना ध्यान लगाया। साहित्य के पारंपरिक रूपों का उपयोग भूमिगत कार्यों में नहीं किया जा सकता था, इसलिए उन्होंने पत्रक, पोस्टर, दीवार के नारे या फ़ासीवाद विरोधी अख़बारों का इस्तेमाल किया। इनके काम अक्सर एक छुपे रूप में और गुमनाम प्रकाशनों के रूप में दिखायी दिये। हिटलर के सत्ता में आने के बाद भूमिगत प्रतिरोध के जिन मुख्य समूहों ने कुछ वर्षों तक गतिविधियां जारी रखीं उनमें सर्वहारा-क्रांतिकारी लेखक संघ और प्रतिरोध समूहों का एक अन्य नेटवर्क शामिल था, जिसे नाज़ियों द्वारा 'रेड ऑर्केस्ट्रा' का नाम दिया गया था ।

दरअसल 1933 और 1945 के बीच जर्मनी में लिखा गया साहित्य विविधरूपा है। इसमें फ़ासीवादी, ग़ैर-फ़ासीवादी से लेकर उग्र भूमिगत, गुप्त और विरोधी साहित्य के विभिन्न रूप शामिल हैं। निर्वासन में लिखे गये साहित्य की तरह इसका भी एक व्यापक स्पेक्ट्रम है, जिसकी तुलना किसी भी तरह से फ़ासीवाद विरोधी साहित्य के साथ सामूहिक रूप से नहीं की जा सकती। निर्वासन में लिखे गये साहित्य में भी कई तरह के राजनीतिक-साहित्यिक दृष्टिकोण मिलते हैं जिसमें एक तरफ़ मार्क्सवादी बर्तोल्त ब्रेख़्त हैं तो दूसरी तरफ़ रूढ़िवादी थॉमस मान। निर्वासन के साहित्य और जर्मनी में रह रहे लेखकों द्वारा रचित साहित्य के बीच कुछ हद तक औपचारिक संवाद था, जिसे ऐतिहासिक उपन्यास और सॉनेट जैसी कुछ साहित्यिक विधाओं के प्रति दोनों के समान रुझान के रूप में देखा सकता है। बावजूद इसके, इन दोनों में फ़र्क़ करना ज़रूरी है, ख़ासकर 'आंतरिक अप्रवासन' में लिखे साहित्य को निर्वासन में लिखे गये साहित्य से अलग करने के लिए, क्योंकि 'अप्रवासी' और 'घर में बच गये' लेखकों के काम करने की परिस्थितियों में बुनियादी अंतर था।

निर्वासित लेखकों को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा : नाज़ी शासन के जल्द ख़त्म होने की उम्मीद को दफ़्न करना पड़ा, अपनी मातृभूमि के साथ उनके सभी संपर्क समाप्त हो गये थे, और विदेशी वातावरण में जीवन आसान नहीं था। चंद विस्थापित लेखक ऐसे ज़रूर थे जो अपने साहित्यिक कार्यों की बदौलत काम लायक़ पैसा कमाकर अपनी सामाजिक स्थिति बनाये रखने में सक्षम थे। भाषा की समस्या और जर्मन पाठकों से दूरी निराशा और असंतोष के सबसे बड़े कारण थे। इनमें से कुछ ही लेखक ऐसे थे जो अपने नये वतन की भाषाओं को सीखकर उन्हें साहित्यिक संवाद की भाषा के रूप में अपनाने में सफल हुए।

थॉमस मान, जिन्हें 1929 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था, उन चुनिंदा निर्वासित

लेखकों में से थे जो एक नया जीवन शुरू करने में कामयाब रहे; हालांकि उन्हें अपनी पारिवारिक ज़मीन-जायदाद को छोड़ना पड़ा। उनकी पुस्तकों को तो नहीं जलाया गया लेकिन उनके भाई और बेटे, जो ख़ुद जाने-माने लेखक थे, नहीं बच सके। उस समय वे फ्रांस में थे और वहां से वापस नहीं लौटे। निर्वासन में रह रहे कई अन्य लेखकों की तरह उन्हें अपनी नागरिकता से वंचित कर दिया गया था। युद्ध शुरू होने के तुरंत बाद थॉमस मान ने जर्मनी की जनता को संबोधित पांच से आठ मिनट की अवधि के रेडियो कार्यक्रमों की एक शृंखला शुरू की थी। बीबीसी द्वारा लांग वेब ट्रांसमिशन के ज़रिये इसे जर्मनी में महीने में एक बार प्रसारित किया जाता था। युद्ध की समाप्ति तक 58 ऐसे कार्यक्रम प्रसारित किये गये। पहले कार्यक्रम की शुरुआती पंक्तियों से ही इसके स्वरूप का अंदाज़ा लगाया जा सकता है : 'आपको एक जर्मन लेखक द्वारा संबोधित किया जा रहा है, जिसका काम और व्यक्तित्व दोनों ही आपके नेताओं से अलग है और जिसकी किताबें जर्मन विषयों पर केंद्रित हैं, उदाहरण के लिए, गेटे, जो विदेशी लोगों से उनकी अपनी जुबान में बात कर सकते हैं, जबकि आपके लिए उन्हें चुप और अज्ञात रहना चाहिए था। एक न एक दिन मेरा काम आपके पास लौटकर आयेगा।'

यद्यपि निर्वासित लेखक दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बिखरे हुए थे, उन्होंने जल्द ही नाज़ी शासन के ख़िलाफ़ लामबंद होने की ज़रूरत महसूस की। अपने लेखन को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने कई पत्रिकाओं की शुरुआत की। 1933 और 1945 के बीच बारह वर्षों के दौरान 400 से अधिक पत्रिकाएं निर्वासन में निकाली गयीं, जिनमें से कुछ फ़ासिस्ट-विरोधी प्रतिरोध की महत्वपूर्ण आवाज़ बनीं। जर्मनी के लोगों तक पहुंचने के लिए उन्होंरने रेडियो वार्ता, पैम्फलेट और घोषणापत्र जैसे विभिन्न माध्यमों को चुना। भूमिगत प्रतिरोध द्वारा परिचालित इन माध्यमों और घोषणापत्रों के ज़रिये लोगों से हिटलर के ख़िलाफ़ उठने की अपील की गयी। लेखकों ने विभिन्न तरीक़ों को अपनाकर अपनी रचनाओं को छिपाकर पेश किया।

कुछ ख़ास पत्रिकाओं में फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई के लिए प्रतिबद्ध लेखकों ने साहित्यिक रूपों और तकनीकों के बारे में ऐसी आपसी बहसें चलायीं जो इस उद्देश्य के लिए सबसे उपयुक्त थीं। ये बहसें उतनी ही राजनीतिक थीं जितनी कि साहित्यिक, क्योंकि ये लेखक फ़ासीवादी परिघटना और जनता पर पड़ने वाले इसके प्रभाव को समझने की कोशिश कर रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फ़ासीवाद विरोधी ताक़तों को एक साथ लाने के उन प्रयासों का भी वे हिस्सा बने, जिनमें विशेष रूप से 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल द्वारा फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ व्यापक संभावित गठबंधन बनाने हेतु अपनायी गयी लोकप्रिय मोर्चा नीति शामिल है। एक व्यापक राजनीतिक संदर्भ के साथ-साथ यह फ़ासीवाद को हराने का एक साक्षा लक्ष्य था, जिसने बहस में उठने वाली प्रमुख आवाज़ों के बीच के तीखे मतभेदों को भी भुला दिया।

सबसे महत्वपूर्ण बहस मास्को से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका, *दास वोर्ट* के द्वारा शुरू की गयी थी। इस पत्रिका के तीन संपादकों में बर्तोल्त ब्रेख़्त भी एक थे। प्रायः 'अभिव्यंजनावाद की बहस' या 'यथार्थवाद बनाम आधुनिकतावाद' के रूप में प्रसिद्ध इस बहस के प्रमुख नायक मार्क्सवादी लेखक और दार्शनिक थे। ये साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्ति के उन समकालीन रूपों से जुड़े थे जो उस समय के नाटकीय सामाजिक और तकनीकी परिवर्तनों के जवाब में उभरे थे। जन समाज ('मास सोसाइटी') का उदय और बड़े श्रमिक वर्ग के आंदोलन, विश्व युद्ध के ज़रिये बड़े पैमाने पर हुए विनाश के अनुभव, सामूहिक मनोरंजन के नये रूप, फ़िल्म और फ़ोटोग्राफ़ी का उद्भव, ये सभी अनुभव बहस के दौरान सभी पक्षों द्वारा व्यक्त चिंताओं के केंद्र में थे; हालांकि इन घटनाओं के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा कला और साहित्य पर उनके प्रभाव में काफ़ी अंतर था।

बहस इस सवाल पर केंद्रित थी कि क्या अभिव्यंजनावाद, जो उस समय के सबसे प्रमुख कलात्मक रूपों में से एक था, फ़ासीवाद का अग्रदूत था या क्या इसे कलात्मक प्रयोग के रूप में देखा जा सकता है जो फ़ासीवाद-विरोधी उद्देश्यों के लिए उपयोगी हो सकता है। लुकाच अभिव्यंजनावाद के सबसे प्रमुख आलोचक के रूप में उभरे। उनके अनुसार अभिव्यंवजनावाद यथार्थवाद विरोधी है। अपने अंतर्निहित सामाजिक समग्रता को समझने के बजाय यह उसे खंडित और विकृत वास्तविकता के रूप में देखता है। इस अंतर्निहित सामाजिक समग्रता का प्रतिनिधित्व लुकाच के लिए पाठकों के अंदर समकालीन वास्तविकता की समझ विकसित करने हेतु आवश्यक था। इसके विपरीत, ब्रेख़्त और कई अन्य लेखकों ने अभिव्यंजनावादी प्रयोगों को अधिक सहानुभूतिपूर्वक देखने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया, क्योंकि यह सामाजिक और तकनीकी रूप से रूपांतरित होने वाली वास्तविकता को पकड़ने के लिए साहित्यिक उपकरणों को विकसित करने का एक उपक्रम था। हालांकि, ब्रेख़्त पत्रिका की संपादकीय टीम के सदस्य थे, लेकिन उन्होंने अपनी आलोचनात्महक टिप्पाणियों को प्रकाशित करने में संयम बरता। उस दौरान जारी संयुक्त संघर्ष के हित में उन्होंाने अपनी तमाम प्रतिक्रियाएं तीस वर्षों के बाद ही प्रकाशित कीं।

मार्क्सवादी आलोचक वाल्टर बेंजामिन ने पहली बार 1935 में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध लेख, 'द वर्क ऑफ़ आर्ट इन द एज ऑफ़ द मेकेनिकल रिप्रोडक्शन' में सामाजिक और तकनीकी रूप से रूपांतरित वास्तविकता में कला के लिए परिणाम को केंद्र में रखा था। बेंजामिन जन समाज के आगमन तथा फ़ोटोग्राफ़ी और फ़िल्म की प्रतियां बनाने की तकनीकी क्षमता विकसित करने के फलस्वरूप धारणा में हो रहे बदलाव को लेकर विशेष रूप से चिंतित थे। प्रतियां बनाने की क्षमता ने मूल की प्रामाणिकता और 'आभा' को कम कर दिया था। एक मूल पेंटिंग जहां व्यक्तिगत चिंतन पर केंद्रित थी, वहीं फ़ोटोग्राफ़ी और फ़िल्म को विशेष रूप से सामूहिक खपत के रूप में देखना अधिक विचलनकारी था। कला इससे क्या सबक ले सकती थी? विचलित व्यक्ति, जैसा कि बेंजामिन बताते हैं, आदतें भी बना सकते हैं और आदत के माध्यम से कुछ कार्यों में महारत हासिल करना सीखते हैं। कला का कार्य ऐसी विचलित धारणाओं की पेशकश करना था जो आदत के माध्यम से विशिष्ट कार्यों में महारत हासिल करने में सक्षम बनाती हैं। बेंजामिन के अनुसार, फ़ासीवाद जनता को उनके अधिकार नहीं देना चाहता, 'बल्कि वह ख़ुद को अभिव्यक्त करने का मौक़ा देता है।' ऐसा वह राजनीति का सौंदर्यीकरण करके, उसका अनुष्ठान करके तथा हिंसा और युद्ध को सौंदर्यात्म क अनुभव बनाकर, करता है : साम्यवाद इसका जवाब कला के राजनीतिकरण के माध्यम से देता है।

लिखित बहसों के अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण रूप जिसमें लेखकों ने फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई का समर्थन किया, वह था—इंटरनेशनल राइटर्स कांग्रेस का आयोजन। संस्कृति की रक्षा के लिए पहली इंटरनेशनल कांग्रेस 1935 में पेरिस में आयोजित की गयी थी। दूसरी 1937 में स्पेनिश युद्ध के दौरान स्पेन के विभिन्न शहरों में आयोजित हुई। इन सम्मेलनों में पूरे राजनीतिक स्पेक्ट्रम के लेखकों ने एकजुट होकर फ़ासीवाद के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित किया। उन्हों ने विचारों का आदान-प्रदान करने के साथ-साथ इस बात पर भी चर्चा की कि कैसे कला और साहित्य फ़ासीवाद के प्रतिरोध में योगदान दे सकते हैं। पहले कांग्रेस में दिये गये ब्रेख़्त के भाषण को 'बर्बरता के ख़िलाफ़ संघर्ष पर एक आवश्यक टिप्पणी' शीर्षक दिया गया था। यदि वे फ़ासीवाद को हराना चाहते थे, तो लेखकों से उनके कार्य की प्रकृति को प्रतिबिंबित करने की एक तत्काल अपील के रूप में यह उल्लेखनीय था। इस संक्षिप्त भाषण में, ब्रेख़्त ने इस तथ्य पर ध्यान आकर्षित किया कि लेखकों और कलाकारों के लिए केवल यह पर्याप्त नहीं था कि वे फ़ासिस्टों द्वारा किये गये भयानक अपराधों का वर्णन करें या उनके ख़िलाफ़ नाराज़गी व्यक्त

करें, क्योंकि 'जब अपराध बढ़ते हैं, तो वे अदृश्य हो जाते हैं। जब पीड़ा असहनीय हो जाती है, तो चीख़ें सुनायी नहीं देतीं'। इन शक्तियों का प्रभावी ढंग से विरोध करने के लिए अपराधों का स्पष्टीकरण देखना आवश्यक था। ये निजी संपत्ति के संबंधों में पाये जा सकते हैं, जिसमें 'मानव जाति के एक छोटे से वर्ग ने अपने निर्दयी शासन का लंगर डाला है'। उन्होंने जोर देकर कहा कि फ़ासीवाद के अपराध इस नियम के बचाव के लिए आवश्यक थे और इसी तरह से इनका भंडाफोड़ होना था।

ब्रेख़्त ने अपने निबंध 'सच लिखने की पांच कठिनाइयां' में विस्तार से अपने विचारों को समझाया है। इस निबंध में वे कहते हैं—'कुछ साहसपूर्ण लिखने के लिए इसका क्या उपयोग है, जो दर्शाता है कि जिस राज्य में हम डूब रहे हैं वह बर्बर है (जो सच है), अगर यह स्पष्ट नहीं है कि हम इस राज्य में क्यों समाप्त हो गये हैं?'

'कोई कैसे फ़ासीवाद के बारे में सच बोलने का प्रस्ताव करता है, जिसका वह विरोध करता है, अगर वह पूंजीवाद के ख़िलाफ़ बोलने का प्रस्ताव नहीं करता है, जो इसे पैदा करता है? उसकी सच्चाई के व्यावहारिक परिणाम क्या होने चाहिए?' फ़ासीवाद के बारे में सच्चाई बताने के व्यावहारिक परिणामों के बारे में यह सवाल उस समय के लेखकों के बीच चल रही बहस को समझने की कुंजी के रूप में देखा जा सकता है। हर कोई ब्रेख़्त से सहमत नहीं था, लेकिन एक अति रचनात्मक और लोकप्रिय लेखक और फ़ासीवाद विरोधी संघर्ष के सक्रिय भागीदार के रूप में उनकी अग्रणी भूमिका ने ऐसे सवालों को महत्व देने में मदद की, जिन्हें अतिरंजना नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और डॉ. आंबेडकर

सिद्धार्थ

> अगर हिंदू राज हक़ीक़त बनता है, तब वह इस मुल्क के लिए सबसे बड़ा अभिशाप होगा। हिंदू कुछ भी कहें, हिंदू धर्म स्वतंत्रता, समता और बंधुता के लिए ख़तरा है। इन पैमानों पर वह लोकतंत्र के साथ मेल नहीं खाता है। हिंदू राज को किसी भी क़ीमत पर रोका जाना चाहिए।
>
> *-डॉ. आंबेडकर (पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ़ इंडिया, पृ. 338)*

भले ही कई सारे तथाकथित आंबेडकरवादी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शरण में चले गये हों या संघ आंबेडकर को अपनाने का खेल खेल रहा हो, उन्हें पचाने की कोशिश कर रहा हो और अपनी 'हिंदू राष्ट्र' की परिकल्पना को साकार करने के लिए उनका इस्तेमाल कर रहा हो, लेकिन सच यह है कि संघ की विचारधारा और डॉ. आंबेडकर की विचारधारा के बीच कोई ऐसा सेतु नहीं जहां दोनों का एक दूसरे से मेल क़ायम होता हो। सच यह है कि यदि संघ की विचारधारा फूलती-फलती है, तो इसका निहितार्थ है कि डॉ. आंबेडकर की विचारधारा की जड़ें खोदी जा रही हैं। इसके उलट यह भी उतना ही सच है कि यदि डॉ. आंबेडकर की विचारधारा फूलती-फलती है तो संघ की विचाधारा की जड़ों में मट्ठा पड़ रहा है। दोनों के आदर्श समाज की परिकल्पना, राष्ट्र की दोनों की अवधारणा, दोनों के आदर्श मूल्य, दोनों के आदर्श नायक, दोनों के आदरणीय ग्रंथ, धर्म की दोनों की समझ, दोनों की इतिहास दृष्टि, स्त्री-पुरुष संबंधों की दोनों की अवधारणा, व्यक्तियों के बीच रिश्तों के बारे में दोनों के चिंतन, व्यक्ति और समाज के बीच रिश्तों के बारे में दोनों की सोच, दोनों की आर्थिक दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि बिलकुल जुदा-जुदा है। एक शब्द में कहें, दोनों की विश्वदृष्टि में कोई समानता नहीं है। दोनों के बीच कोई ऐसा कॉमन तत्व नहीं है, जो उन्हें जोड़ता हो या उनके बीच एकता का सेतु क़ायम करता हो। संघ की विचारधारा और डॉ. आंबेडकर की विचारधारा का कोई भी अध्येता सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जायेगा कि जो कुछ संघ की विचाधारा के लिए अमृत है, वह सब कुछ आंबेडकर की विचारधारा के लिए ज़हर जैसा है। इसे उलटकर कहें तो जो कुछ आंबेडकर की विचारधारा में अमृत है वह संघ के लिए ज़हर है। अपने असली रूप में दोनों एक दूसरे को स्वीकार और पचा नहीं सकते हैं। हां, फ़रेब तो किसी भी चीज़ का रचा जा सकता है जिसमें संघ-भाजपा और उनके आनुषांगिक संगठन और उसके नेता माहिर हैं। इस आलेख की शाब्दिक सीमाओं को देखते हुए मैं उपर्युक्त में से सिर्फ़ कुछ एक बिंदुओं पर दोनों की विचारधाराओं को आमने-समाने रखकर देखने की कोशिश करूंगा।

संघ की 'हिंदू राष्ट्र' की अवधारणा और डॉ. आंबेडकर

सबसे पहले 'हिंदू राष्ट्र' की परिकल्पना पर विचार करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि संघ का सबसे बड़ा लक्ष्य भारत को 'हिंदू राष्ट्र' बनाना है। यह लक्ष्य संघ ने कमोबेश हासिल भी कर लिया है।

संवैधानिक और क़ानूनी तौर पर भले भारत आज भी एक धर्मनिरपेक्ष राज्य हो, लेकिन वास्तविक और व्यावहारिक अर्थों में भारत एक 'हिंदू राष्ट्र' बन चुका है। भले यह सब कुछ अघोषित और अनौपचारिक तौर पर हुआ दिखता हो। भारत को 'हिंदू राष्ट्र' बनाने की आशंका मात्र से डॉ. आंबेडकर किस क़दर भयभीत थे, इसका अंदाज़ा उनके इस कथन से लगाया जा सकता है : 'अगर हिंदू राज हक़ीक़त बनता है, तब वह इस मुल्क के लिए सबसे बड़ा अभिशाप होगा। हिंदू कुछ भी कहें, हिंदू धर्म स्वतंत्रता, समता और बंधुता के लिए ख़तरा है। इस पैमाने पर वह लोकतंत्र के साथ मेल नहीं खाता है। हिंदू राज को किसी भी क़ीमत पर रोका जाना चाहिए।' (*पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ़ इंडिया,* पृ. 338)। आख़िरकार आंबेडकर संघ के 'हिंदू राष्ट्र' की परिकल्पना से इतने भयभीत क्यों थे? क्या सिर्फ़ इसका एकमात्र कारण यह है कि 'हिंदू राष्ट्र' में मुसलमानों और अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों की दोयम दर्जे की स्थिति होगी? जैसा कि बहुत सारे अध्येता संघ के 'हिंदू राष्ट्र' का विश्लेषण करते समय यह कहते रहे हैं और कुछ आज भी कहते हैं। 'हिंदू राष्ट्र' के अर्थ को धार्मिक अल्पसंख्यकों के दमन तक सीमित करना या व्याख्यायित करना उसकी बहुत ही सतही व्याख्या है। सामान्य तौर पर माना जाता है कि 'हिंदू राष्ट्रवाद' के मूल में मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति घृणा है। परंतु यह घृणा, हिंदू राष्ट्रवाद की विचारधारा की केवल ऊपरी सतह है। सच यह है कि 'हिंदू राष्ट्र' जितना मुसलमानों या अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए ख़तरा है, उतना ही वह हिंदू धर्म का हिस्सा कही जानी वाली महिलाओं, अति पिछड़ों और दलितों के लिए भी ख़तरनाक है, जिन्हें हिंदू धर्म दोयम दर्जे का ठहराता है। यह उन आदिवासियों के लिए भी उतना ही ख़तरनाक है, जो अपने प्राकृतिक धर्म का पालन करते हैं और काफ़ी हद तक समता की ज़िंदगी जीते हैं, जिनका हिंदूकरण करने और वर्ण-जाति व्यवस्था और पितृसत्ता की असमानता की व्यवस्था के भीतर जिन्हें लाने की कोशिश संघ निरंतर कर रहा है। यह उसके 'हिंदू राष्ट्र' की परियोजना का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

आंबेडकर हिंदू धर्म पर टिके 'हिंदू राष्ट्र' को हर तरह की स्वतंत्रता, समता और बंधुता के लिए ख़तरा मानते थे और इसे पूर्णतया लोकतंत्र के ख़िलाफ़ मानते थे। आंबेडकर के लिए हिंदू धर्म पर आधारित 'हिंदू राष्ट्र' का निहितार्थ शूद्रों-अतिशूद्रों (आज के पिछड़े-दलितों) पर द्विजों के वर्चस्व और नियंत्रण को स्वीकृति और महिलाओं पर पुरुषों के वर्चस्व और नियंत्रण को मान्यता प्रदान करना है। जिस हिंदू धर्म पर 'हिंदू राष्ट्र' की अवधारणा टिकी हुई है, उसके संदर्भ में आंबेडकर का कहना है कि 'मैं हिंदुओं और हिंदू धर्म से इसलिए घृणा करता हूं, उसे तिरस्कृत करता हूं क्योंकि मैं आश्वस्त हूं कि वह ग़लत आदर्शों को पोषित करता है और ग़लत सामाजिक जीवन जीता है। मेरा हिंदुओं और हिंदू धर्म से मतभेद उनके सामाजिक आचार में केवल कमियों को लेकर नहीं है। झगड़ा ज़्यादातर सिद्धांतों को लेकर, आदर्शों को लेकर है। (भीमराव आंबेडकर, *जातिभेद का उच्छेद* पृ. 112) डॉ. आंबेडकर साफ़ शब्दों में कहते हैं कि हिंदू धर्म के प्रति उनकी घृणा का सबसे बड़ा कारण जाति है। उनका मानना था कि हिंदू धर्म का प्राण-तत्त्व जाति है और इन हिंदुओं ने अपने इस जाति के ज़हर को सिक्खों, मुसलमानों और क्रिश्चियनों में भी फैला दिया है। वे लिखते हैं कि 'इसमें कोई संदेह नहीं कि जाति आधारभूत रूप से हिंदुओं का प्राण है। लेकिन हिंदुओं ने सारा वातावरण गंदा कर दिया है और सिक्ख, मुस्लिम और क्रिश्चियन सभी इससे पीड़ित हैं।' *जाति का उच्छेद* किताब का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने लिखा है कि 'मैं हिंदुओं को यह अहसास कराना चाहता हूं कि वे भारत के बीमार लोग हैं, और उनकी बीमारी अन्य भारतीयों के स्वास्थ्य और ख़ुशी के लिए ख़तरा है'। इसका कारण बताते हुए वे लिखते हैं कि 'हिंदुओं की पूरी की पूरी आचार-नीति जंगली क़बीलों की नीति की भांति संकुचित एवं दूषित है, जिसमें सही या ग़लत, अच्छा

या बुरा, बस अपने जाति बंधु को ही मान्यता है। इनमें सद्गुणों का पक्ष लेने तथा दुर्गुणों के तिरस्कार की कोई परवाह न होकर, जाति का पक्ष लेने या उसकी अपेक्षा का प्रश्न सर्वोपरि रहता है।' डॉ. आंबेडकर को हिंदू धर्म में अच्छाई नाम की कोई चीज़ नहीं दिखती थी, क्योंकि इसमें मनुष्यता या मानवता के लिए कोई जगह नहीं है। अपनी किताब, *जाति का उच्छेद* में उन्होंने दो टूक लिखा है कि 'हिंदू जिसे धर्म कहते हैं, वह कुछ और नहीं, आदर्शों और प्रतिबंधों की भीड़ है। हिंदू-धर्म वेदों व स्मृतियों, यज्ञ-कर्म, सामाजिक शिष्टाचार, राजनीतिक व्यवहार तथा शुद्धता के नियमों जैसे अनेक विषयों की खिचड़ी या संग्रह मात्र है। हिंदुओं का धर्म बस आदेशों और निषेधों की संहिता के रूप में ही मिलता है, और वास्तविक धर्म, जिसमें आध्यात्मिक सिद्धांतों का विवेचन हो, जो वास्तव में सार्वजनीन और विश्व के सभी समुदायों के लिए हर काम में उपयोगी हो, हिंदुओं में पाया ही नहीं जाता और यदि कुछ थोड़े से सिद्धांत पाये भी जाते हैं तो हिंदुओं के जीवन में उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं पायी जाती। हिंदुओं का धर्म 'आदेशों और निषेधों' का ही धर्म है।' वे हिंदुओं की पूरी व्यवस्था को ही घृणा के योग्य मानते हैं। उन्होंने लिखा कि 'इस प्रकार यह पूरी व्यवस्था ही अत्यंत घृणास्पद है, हिंदुओं का पुरोहित वर्ग (ब्राह्मण) एक ऐसा परजीवी कीड़ा है, जिसे विधाता ने जनता का मानसिक और चारित्रिक शोषण करने के लिए पैदा किया है...ब्राह्मणवाद के ज़हर ने हिंदू-समाज को बर्बाद किया है।'

आंबेडकर ने अपनी किताब में घोषणा की है कि 'मेरा आदर्श समाज स्वतंत्रता, समानता और बंधुता पर आधारित समाज है।' वे हिंदू धर्म आधारित 'हिंदू राष्ट्र' को पूरी तरह स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के ख़िलाफ़ मानते थे। इसी कारण से वे किसी भी क़ीमत पर 'हिंदू राष्ट्र' को क़ायम होने से रोकना चाहते थे। उन्होंने यह आशंका ज़ाहिर की थी कि 'हिंदू राष्ट्र' क़ायम होने पर स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के मूल्यों को कुचला जायेगा और लोकतंत्र की ऐसी की तैसी की जायेगी। उनकी सारी आशंकाएं आज चरितार्थ हो रही हैं।

मनुस्मृति-वर्ण-जाति व्यवस्था : संघ और आंबेडकर

वर्ण-जाति व्यवस्था और पितृसत्ता का सर्वाधिक पक्षपोषण करने वाली *मनुस्मृति* संघ और उसके विचारकों का प्रिय ग्रंथ रहा है। संघ के आदर्श सावरकर *मनुस्मृति* के बारे में लिखते हैं कि '*मनुस्मृति* ही वह ग्रंथ है, जो वेदों के पश्चात हमारे 'हिंदू राष्ट्र' के लिए अत्यंत पूजनीय है तथा जो प्राचीन काल से हमारी संस्कृति, आचार, विचार एवं व्यवहार की आधारशिला बन गयी है। यही ग्रंथ सदियों से हमारे राष्ट्र की ऐहिक एवं पारलौकिक यात्रा का नियमन करता आया है। आज भी करोड़ों हिंदू जिन नियमों के अनुसार जीवन-यापन तथा व्यवहार-आचरण कर रहे हैं, वे नियम तत्वतः *मनुस्मृति* पर आधारित हैं। आज भी *मनुस्मृति* ही हिंदू नियम (क़ानून) है।' (*सावरकर समग्र,* खंड 4, 2000, पृष्ठ 415)। सावरकर की बात का समर्थन करते हुए गोलवलकर लिखते हैं, 'स्मृतियां ईश्वर निर्मित हैं और उनमें बतायी गयी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी ईश्वर निर्मित है। किंबहुना वह ईश्वर निर्मित होने के कारण ही उसमें तोड़-मरोड़ हो जाता है, तब हम चिंता नहीं करते। क्योंकि मनुष्य आज तोड़-मरोड़ करता भी है, तब भी जो ईश्वर निर्मित योजना है, वह पुनः स्थापित होकर ही रहेगी।' (*गुरुजी समग्र,* खंड-9, पृ.163)। वे आगे वर्ण-जाति व्यवस्था का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि 'अपने धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था सहकारी पद्धति ही तो है। किंबहुना आज की भाषा में उसे गिल्ड कहा जाता है और पहले जिसे जाति कहा गया, उसका स्वरूप एक ही है।...जन्म से प्राप्त होने वाली जाति व्यवस्था में अनुचित कुछ भी नहीं है, किंतु उसमें लचीलापन रखना ही चाहिए और वैसा ही लचीलापन था भी। लचीलेपन से युक्त जन्म पर आधारित चातुर्वर्ण्य

व्यवस्था उचित ही है।' (वही)

वर्ण-जाति व्यवस्था और पितृसत्ता की संहिता *मनुस्मृति* को जहां संघ ईश्वर निर्मित मानता है और आदर्श ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करता है, उस *मनुस्मृति* को डॉ. आंबेडकर शूद्रों-अतिशूद्रों और महिलाओं की गुलामी का दस्तावेज़ कहते हैं। इस संदर्भ में बार-बार *मनुस्मृति* के निम्न श्लोकों को प्रस्तुत करते हैं :

- नीच वर्ण का जो मनुष्य अपने से ऊंचे वर्ण के मनुष्य की वृत्ति को लोभवश ग्रहण कर जीविका-यापन करे तो राजा उसकी सब संपत्ति छीन कर उसे तत्काल निष्कासित कर दे। (10/95-98)
- ब्राह्मणों की सेवा करना ही शूद्रों का मुख्य कर्म कहा गया है। इसके अतिरक्त वह शूद्र जो कुछ करता है, उसका कर्म निष्फल होता है। (10/123-124)
- शूद्र धन संचय करने में समर्थ होता हुआ भी धन का संग्रह न करे क्योंकि धन पाकर शूद्र ब्राह्मण को ही सताता है। (10/129-130)
- जिस देश का राजा शूद्र अर्थात पिछड़े वर्ग का हो, उस देश में ब्राह्मण निवास न करें क्योंकि शूद्रों को राजा बनने का अधिकार नहीं है। (4/61-62)
- राजा प्रातःकाल उठकर तीनों वेदों के ज्ञाता और विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करें और उनके कहने के अनुसार कार्य करें। (7/37-38)
- जिस राजा के यहां शूद्र न्यायाधीश होता है उस राजा का देश कीचड़ में धंसी हुई गाय की भांति दुःख पाता है। (8/22-23)
- ब्राह्मण की संपत्ति को राजा द्वारा कभी भी नहीं लिया जाना चाहिए, यह एक निश्चित नियम है, मर्यादा है, लेकिन अन्य जाति के व्यक्तियों की संपत्ति उनके उत्तराधिकारियों के न रहने पर राजा ले सकता है। (9/189-190)
- यदि शूद्र तिरस्कारपूर्वक उनके नाम और वर्ण का उच्चारण करता है, जैसे वह यह कहे देवदत्त तू नीच ब्राह्मण है, तब दस अंगुल लंबी लोहे की छड़ उसके मुख में कील दी जाये। (8/271-272)
- यदि शूद्र गर्व से ब्राह्मण पर थूक दे, उसके ऊपर पेशाब कर दे तब उसके होठों को और लिंग को और अगर उसकी ओर अपना वायु निकाले तब उसकी गुदा को कटवा दे। (8/281-282)
- यदि कोई शूद्र ब्राह्मण के विरुद्ध हाथ या लाठी उठाये, तब उसका हाथ कटवा दिया जाये और अगर शूद्र गुस्से में ब्राह्मण को लात से मारे, तब उसका पैर कटवा दिया जाये। 8/279-280
- इस पृथ्वी पर ब्राह्मण वध के समान दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है। अतः राजा ब्राह्मण के वध का विचार मन में भी न लाये। (8/381)
- शूद्र यदि अहंकारवश ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करे तो उस शूद्र के मुंह और कान में राजा गर्म तेल डलवा दें। (8/271-272)
- शूद्र को भोजन के लिए झूठा अन्न, पहनने को पुराने वस्त्र, बिछाने के लिए धान का पुआल और फटे पुराने वस्त्र देना चाहिए। (10/125-126)
- बिल्ली, नेवला, नीलकंठ, मेंढक, कुत्ता, गोह, उल्लू, कौआ किसी एक की हिंसा का प्रायश्चित शूद्र की हत्या के प्रायश्चित के बराबर है अर्थात शूद्र की हत्या कुत्ता, बिल्ली की हत्या के समान है। (11/131-132)
- यदि कोई शूद्र किसी द्विज को गाली देता है तब उसकी जीभ काट देनी चाहिए, क्योंकि वह ब्रह्मा के निम्नतम अंग से पैदा हुआ है।
- निम्न कुल में पैदा कोई भी व्यक्ति यदि अपने से श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति के साथ मारपीट करे और उसे क्षति पहुंचाये, तब उसका क्षति के अनुपात में अंग कटवा दिया जाये।
- ब्रह्मा ने शूद्रों के लिए एक मात्र कर्म निश्चित किया है, वह है गुणगान करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य

की सेवा करना।

• शूद्र यदि ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठे, तब राजा उसकी पीठ को तपाये गये लोहे से दगवा कर अपने राज्य से निष्कासित कर दे।

• राजा बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले अनेक यज्ञ करें और धर्म के लिए ब्राह्मणों को स्त्री, गृह शय्या, वाहन आदि भोग साधक पदार्थ तथा धन दे।

• जान-बूझकर क्रोध से यदि शूद्र ब्राह्मण को एक तिनके से भी मारता है, वह 21 जन्मों तक कुत्ते-बिल्ली आदि पाप श्रेणियों में जन्म लेता है।

• ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने से और वेद के धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण ही संपूर्ण सृष्टि का स्वामी है।

• शूद्र लोग बस्ती के बीच में मकान नहीं बना सकते। गांव या नगर के समीप किसी वृक्ष के नीचे अथवा श्मशान पहाड़ या उपवन के पास बस कर अपने कर्मों द्वारा जीविका चलावें।

• ब्राह्मण को चाहिए कि वह शूद्र का धन बिना किसी संकोच के छीन ले क्योंकि शूद्र का उसका अपना कुछ नहीं है। उसका धन उसके मालिक ब्राह्मण को छीनने योग्य है।

• राजा, वैश्यों और शूद्रों को अपना-अपना कार्य करने के लिए बाध्य करने के बारे में सावधान रहें, क्योंकि जब ये लोग अपने कर्तव्य से विचलित हो जाते हैं तब वे इस संसार को अव्यवस्थित कर देते हैं।

• शूद्रों का धन कुत्ता और गदहा ही है। मुर्दों से उतरे हुए इनके वस्त्र हैं। शूद्र टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करें। शूद्र महिलाएं लोहे के ही गहने पहने।

• यदि यज्ञ अपूर्ण रह जाये तो वैश्य की असमर्थता में शूद्र का धन यज्ञ करने के लिए छीन लेना चाहिए।

• दूसरे ग्रामवासी पुरुष जो पतित, चांडाल, मूर्ख और धोबी आदि अंत्यवासी हो, उनके साथ द्विज न रहें। लोहार, निषाद, नट, गायक के अतिरिक्त सुनार और शस्त्र बेचने वाले का अन्न वर्जित है।

• शूद्रों के साथ ब्राह्मण वेदाध्ययन के समय कोई संबंध नहीं रखें, चाहे उस पर विपत्ति ही क्यों न आ जाये।

• स्त्रियों का वेद से कोई सरोकार नहीं होता। यह शास्त्र द्वारा निश्चित है। अतः जो स्त्रियां वेदाध्ययन करती हैं, वे पापयुक्त हैं और असत्य के समान अपवित्र हैं, यह शाश्वत नियम है।

• शूद्रों को बुद्धि नहीं देनी चाहिए अर्थात उन्हें शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। शूद्रों को धर्म और व्रत का उपदेश न करें।

• जिस प्रकार शास्त्र विधि से स्थापित अग्नि और सामान्य अग्नि, दोनों ही श्रेष्ठ देवता हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान दोनों ही रूपों में श्रेष्ठ देवता है।

• शूद्र की उपस्थिति में वेद पाठ नहीं करना चाहिए।

• ब्राह्मण का नाम शुभ और आदरसूचक, क्षत्रिय का नाम वीरता सूचक, वैश्य का नाम संपत्ति सूचक और शूद्र का नाम तिरस्कार सूचक हो।

• दस वर्ष के ब्राह्मण को 90 वर्ष का क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पिता समान समझ कर उसे प्रणाम करे।

आंबेडकर अपनी विभिन्न किताबों में बार-बार *मनुस्मृति* को उद्धृत करके बताते हैं कि यह ग्रंथ किस तरह और किस भाषा में दलित-बहुजनों की तुलना में द्विजों की श्रेष्ठता और महिलाओं की तुलना में पुरुषों की श्रेष्ठता की घोषणा करता है। इतना ही नहीं, *मनुस्मृति* शूद्रों-अतिशूद्रों से कहती है कि उनका मूल धर्म द्विजों की सेवा करना और उनके आदेशों का पालन करना है। इसी तरह वह महिलाओं को बताती है कि उनका धर्म पुरुषों की सेवा करना और उनकी इच्छाओं की पूर्ति करना है। ऐसा न करने वाले शूद्रों-अतिशूद्रों और महिलाओं के कठोर दंड देने का प्रावधान भी *मनुस्मृति* में किया गया है। इन प्रावधानों में मारने-पीटने से लेकर हत्या करने तक शामिल है। हम सभी को पता है कि वर्ण-व्यवस्था

का उल्लंघन करने पर स्वयं राम ने अपने हाथों से शंबूक का वध किया था। (*वाल्मिकीय रामायण,* उत्तरकांड)।

सावरकर-गोलवलकर के आदर्श ग्रंथ *मनुस्मृति* से डॉ. आंबेडकर इस क़दर घृणा करते थे कि उन्होंने एकमात्र जिस ग्रंथ का दहन किया—वह ग्रंथ *मनुस्मृति* है। 25 दिसंबर, 1927 को आंबेडकर ने सार्वजनिक तौर पर *मनुस्मृति* का दहन किया था।

स्त्री-पुरुष समानता का प्रश्न : संघ और आंबेडकर

स्त्री-पुरुष के रिश्तों के प्रश्न पर भी संघ और आंबेडकर विपरीत ध्रुव पर खड़े हैं। जहां आंबेडकर अपने शोध-आलेख 'भारत में जातियां : उनका तंत्र, उत्पत्ति और विकास' में इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि जाति और पितृसत्ता का जन्म एक साथ ही हुआ था और पितृसत्ता के विनाश के बिना वर्ण-जाति व्यवस्था का ख़ात्मा नहीं किया जा सकता है। हिंदू कोड बिल में वे महिलाओं को जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार का प्रस्ताव करते हैं। इन अधिकारों में हर बालिग लड़की को मनचाहा जीवन साथी चुनने का अधिकार और तलाक़ का अधिकार भी शामिल है। वे इस बिल में महिलाओं को संपत्ति में अधिकार का भी प्रस्ताव करते हैं। यह बिल अंतरजातीय विवाह की भी इज़ाजत देता था। यह सर्वविदित तथ्य भी है कि संघ ने हिंदू कोड बिल का पुरज़ोर विरोध किया था और कहा था कि यह भारतीय परिवार व्यवस्था (पितृसत्ता की व्यवस्था) और समाज व्यवस्था (वर्ण-जाति व्यवस्था) को तोड़ने वाला और भारतीय संस्कृति को नष्ट करने वाला है। इतना ही नहीं, आंबेडकर ने हिंदू कोड बिल से पहले, *हिंदू नारी, उत्थान और पतन* किताब लिखी जिसमें उन्होंने तथ्यों के आधार पर स्थापित किया है कि भारतीय समाज में महिलाओं के दोयम दर्जे की स्थिति के लिए हिंदू धर्मग्रंथ – विशेषकर *मनुस्मृति* – ज़िम्मेदार है। उन्होंने अपनी किताब, *प्राचीन भारत में क्रांति और प्रतिक्रांति* में विस्तार से बताया है कि जो हिंदू धर्मग्रंथ वर्ण-जाति व्यवस्था को जायज़ ठहराते हैं और शूद्रों-अतिशूद्रों को द्विजों की ग़ुलामी का आदेश देते हैं, वही धर्मग्रंथ महिलाओं को पुरुषों का ग़ुलाम ठहराते हैं और कहते हैं किसी भी परिस्थिति में स्त्री को स्वतंत्र जीवन नहीं जीना चाहिए। आंबेडकर कहते हैं कि 'स्त्री विरोध पर आधारित हिंदूवादी विचारधारा तमाम शास्त्रों, पुराणों, *रामायण, महाभारत, गीता, वेदों* व उनसे जुड़ी कथाओं, उपकथाओं, अंतर्कथाओं और मिथकों तक फैली हुई है। इन सभी का एक स्वर में कहना है कि स्त्री को स्वतंत्र नहीं होना चाहिए। *मनुस्मृति* और *याज्ञवल्क्य-स्मृति* जैसे धर्मग्रंथों ने बार-बार यही कहा है कि 'स्त्री आज़ादी से वंचित' है अथवा 'स्वतंत्रता के लिए अपात्र' है। *मनुस्मृति* का स्पष्ट कहना है कि

> पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
> रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।। (*मनुस्मृति* : अ.9.3)

मनु साफ़ शब्दों में स्त्रियों और शूद्रों को समान ठहराते हैं और उन पर वे सारी अयोग्यताएं लादते हैं जो शूद्रों पर उन्होंने लादी हैं। आंबेडकर लिखते हैं कि 'मनु स्त्री का स्थान शूद्र के स्थान के समान मानता है। वेदों का अध्ययन स्त्री के लिए मनु द्वारा उसी प्रकार वर्जित किया गया है, जैसे शूद्रों के लिए।' इस बात को मनु के श्लोकों के माध्यम से डॉ. आंबेडकर पुष्ट करते हैं। मनु लिखते हैं :

> नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
> निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतयिति स्थितिः।।' (*मनुस्मृति : अ.9.18*)

मनु शूद्रों की तरह ही स्त्रियों को भी पीटने की अनुमति देते हैं, उनका कहना है :

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा। (*मनुस्मृति*)

(स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य और छोटा भाई यदि अपराध करे तो उसे रस्सी से बांधकर लाठी से पीटना चाहिए।)

आंबेडकर ने लिखा है कि 'मनु जितना शूद्रों के प्रति कठोर हैं, उससे तनिक भी कम स्त्रियों के प्रति कठोर नहीं हैं।'

आंबेडकर इन सबको ख़ारिज करते हुए जीवन के सभी क्षेत्रों में महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार की हिमायत करते हैं। इसका सबसे ठोस प्रमाण उनके द्वारा प्रस्तुत हिंदू कोड बिल है। इस कोड बिल को गोलवलकर इतना ख़तरनाक मानते थे कि दक्षिणपंथी ताक़तों के दबाव में इस बिल को नेहरू वापस लेने के बाद भी गोलवलकर ने चेतावनी देते हुए कहा कि 'जनता को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और इस मुग़ालते में नहीं रहना चाहिए कि हिंदू कोड बिल का ख़तरा समाप्त हो गया है। वह ख़तरा अभी ज्यों का त्यों बना हुआ है जो पिछले द्वार से प्रवेश कर उनकी जीवन-शक्ति को खा जायेगा। यह ख़तरा उस भयानक सर्प के सदृश है जो अपने विषैले दांत से दंश करने के लिए अंधेरे में ताक लगाये बैठा हो।' (*श्री गुरुजी समग्र*, खंड-6, पृ. 64)

आंबेडकर के बिलकुल उलट संघ महिलाओं को पुरुषों की अनुगामिनी मानता है और ऐसी स्त्रियों को भारतीय स्त्री के आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है जो पूरी तरह से अपने पति की अनुगामिनी थीं और जिनका अपना कोई स्वतंत्र वजूद नहीं था। संघ प्रमुख खुलेआम महिलाओं के समान अधिकारों की मांग को ख़ारिज करते हुए कहते हैं कि 'इस समय स्त्रियों के समानाधिकारों और उन्हें पुरुषों की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए भी एक कोलाहल है। भिन्न लिंग होने के आधार पर विभिन्न सत्ता केंद्रों में उनके लिए पृथक स्थानों के संरक्षण की मांग की जा रही है और इस प्रकार एक और नया वाद अर्थात 'लिंगवाद' को जन्म दिया जा रहा है जो जातिवाद, भाषावाद, समाजवाद आदि के समान है।' संघ आज भी स्त्री पुरुष के बीच के उसी रिश्ते को आदर्श मानता है जिसमें स्त्री का दायरा घर के दहलीज तक सीमित है, उसका कर्तव्य है कि वह पुरुष की सेवा करे, बदले में पुरुष उसके जीवन-यापन का इंतज़ाम करे। इसे आदर्श प्रस्तुत करते हुए वर्तमान संघ प्रमुख मोहन भागवत ने इंदौर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की रैली के दौरान कहा, 'वैवाहिक संस्कार के तहत महिला और पुरुष एक सौदे से बंधे हैं, जिसके तहत पुरुष कहता है कि तुम्हें मेरे घर की देखभाल करनी चाहिए और मैं तुम्हारी ज़रूरतों का ध्यान रखूंगा। इसलिए जब तक महिला इस कान्ट्रैक्ट को निभाती है, पुरुष को भी निभाना चाहिए। जब वह इसका उल्लंघन करे तो पुरुष उसे बेदख़ल कर सकता है। यदि पुरुष इस सौदे का उल्लंघन करता है तो महिला को भी इसे तोड़ देना चाहिए। सब कुछ कान्ट्रैक्ट पर आधारित है।' भागवत के मुताबिक़, सफल वैवाहिक जीवन के लिए महिला का पत्नी बन कर घर पर रहना और पुरुष को धन उपार्जन के लिए बाहर निकलने के नियम का पालन किया जाना चाहिए।

संघ की आधारभूत सैद्धांतिक पुस्तक इनके दूसरे सरसंघचालक गोलवलकर की, *विचार नवनीत* को माना जाता है। वैसे तो यह पुस्तक पूरी तरह 'हिंदू पुरुष' को संबोधित करके ऐसे लिखी गयी है, जैसे स्त्रियों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही न हो; लेकिन पुरुषों के कर्तव्य बताते हुए स्त्रियों की चर्चा की जाती है। इस किताब में वे पुरुषों द्वारा महिलाओं की हत्या तक को जायज़ ठहराते हैं। महिलाओं की सौंदर्य प्रतियोगिताओं की चर्चा करते हुए गोलवलकर ने सीता, सावित्री, पद्मिनी (पद्मावती) को भारतीय नारी का आदर्श बताया है। इनमें सीता और सावित्री पतिव्रता स्त्रियां हैं, तो पद्मिनी, पतिव्रता

के साथ-साथ 'जौहर' करने वाली क्षत्राणी हैं। साथ ही नारीत्व के आदर्श से गिरी हुई बुरी स्त्रियां भी हैं, जिसे हिंदू संस्कृति और हिंदुत्ववादी विचारधारा में 'कुलटा', 'राक्षसी', 'डायन' आदि कहा जाता है। ऐसी स्त्रियों के साथ हिंसा यहां तक 'वध' को भी गोलवलकर पुरुषों का आवश्यक कर्तव्य मानते हैं। इस कर्तव्य को पुरुषों का वास्तविक धर्म बताते हैं और इस वास्तविक धर्म का पालनकर्ता के आदर्श के रूप में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को प्रस्तुत करते हैं। गोलवलकर अपनी किताब, *विचार नवनीत* में इस संदर्भ में लिखते हैं, 'हमारे एक सर्वोच्च आदर्श श्रीराम विजय के इस दर्शन के साक्षात उदारहरण हैं। स्त्रियों का वध करना क्षत्रिय धर्म के विपरीत माना जाता है। उसमें शत्रु के साथ खुले लड़ने का आदेश भी है। लेकिन श्रीराम ने ताड़का का वध किया और बालि के ऊपर उन्होंने पीछे से प्रहार किया।...एक निरपराध स्त्री का वध करना पापपूर्ण है परंतु यह सिद्धांत राक्षसी के लिए लागू नहीं किया जा सकता है।' किस प्रकार की स्त्री 'निरपराधी' और आदर्श स्त्री है और कौन अपराधी एवं आदर्शच्युत कुलटा या राक्षसी है? इसकी भी परिभाषा हिंदू धर्मशास्त्रों, मिथकों और महाकाव्यों ने विस्तार से की है। संघ के गुरु गोलवलकर इस बात को जायज़ ठहराते हैं कि यदि पुरुष उस लड़की का वध कर देता है, जिससे वह प्रेम करता है तो वह एक आदर्श प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में वे एक कथा सुनाते हुए कहते हैं, 'एक युवक और युवती में बड़ा प्रेम था। किंतु उस लड़की के माता-पिता उस युवक के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं दे रहे थे। इसलिए वे एक बार एकांत स्थान में मिले और उस युवक ने उस लड़की का गला घोट दिया और उसे मार डाला, लेकिन उस लड़की को किसी पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ।' आगे वे लिखते हैं कि 'यही वह कसौटी है जिसे हमें इस प्रकार के प्रत्येक अवसर पर अपने सामने रखना चाहिए।'

संघ के संविधान और आंबेडकर प्रेम का सच

जो संघ कभी संविधान और आंबेडकर को ख़ारिज करता था, हाल में वह ज़ोर-शोर से संविधान की शपथ खाने और आंबेडकर को गले लगाने की कोशिश करता दिखायी दे रहा है। सबसे मुखर रूप में मोहन भागवत के तीन दिवसीय व्याख्यान में दिखायी दिया। दिल्ली के विज्ञान भवन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का तीन दिवसीय (17, 18 व 19 सितंबर 2018) व्याख्यानमाला कार्यक्रम चला। इस कार्यक्रम का विषय 'भविष्य का भारत : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण' था। इस व्याख्यानमाला को संघ प्रमुख मोहन भागवत ने संबोधित किया। उन्होंने देश के क़रीब सभी ज्वलंत मुद्दों पर अपनी राय रखी। उन्होंने संविधान और आंबेडकर के प्रति अपने सम्मान एवं प्रेम की घोषणा की।

संघ ने कभी संविधान को स्वीकार नहीं किया। गोलवलकर कुछ थोड़े बदलावों के साथ *मनुस्मृति* को ही संविधान का दर्जा देने के हिमायती थे। भारतीय संविधान पर अपनी राय संघ के मुखपत्र, *ऑर्गनाइज़र* ने अपने संपादकीय में इन शब्दों में प्रकट की थी, 'भारत के संविधान की सबसे ख़राब बात यह है कि इसमें कुछ भी भारतीय नहीं है।...यह प्राचीन भारतीय सांविधानिक क़ानूनों, संस्थाओं, शब्दावली और मुहावरों की कोई बात नहीं करता। प्राचीन भारत की अद्वितीय सांविधानिक विकास-यात्रा के भी कोई निशान नहीं हैं। स्पार्टा के लाइकर्जस या फ़ारस के सोलन से भी काफ़ी पहले मनु का क़ानून लिखा जा चुका था। आज भी *मनुस्मृति* की दुनिया तारीफ़ करती है। भारतीय हिंदुओं के लिए वह सर्वमान्य व सहज स्वीकार्य है, मगर हमारे सांविधानिक पंडितों के लिए इस सबका कोई अर्थ नहीं है।' वे यह भूल जाते हैं कि संविधान बनाने वाले, संघ की भाषा में 'हमारे सांविधानिक पंडितों' के अगुवा डॉ. आंबेडकर थे। इस प्रकार उनके ऊपर ही परोक्ष तौर पर आर एस एस द्वारा हमला बोला गया। इतना ही नहीं जब संविधान में महिलाओं को दिये गये समता और स्वतंत्रता के संवैधानिक अधिकार को अमली जामा

पहनाने के लिए डॉ. आंबेडकर ने हिंदू कोड बिल पेश किया तो संघ बिलबिला उठा। हिंदू कोड बिल को हिंदू संस्कृति और परिवार व्यवस्था के लिए ख़तरे के रूप में संघ ने प्रचारित करना शुरू कर दिया। इसमें उसे करपात्री महाराज जैसे लोगों का भरपूर समर्थन मिला। हिंदूवादी संगठन सड़कों पर उतर आये। संघ ने हिंदू कोड बिल को हिंदू क़ानूनों, हिंदू संस्कृति और हिंदू धर्म के साथ क्रूर और अज्ञानतापूर्ण मज़ाक़ बताया। इसे हिंदुओं के विश्वास पर हमला कहा गया। इसके आगे बढ़कर संघ ने कहा कि 'तलाक़ के लिए महिलाओं को सशक्त करने का प्रावधान हिंदू विचारधारा से विद्रोह जैसा है।' संघ ने आंबेडकर पर व्यक्तिगत हमला करते हुए कहा कि वे तो हिंदू हैं ही नहीं, उनको हिंदू क़ानूनों में सुधार का क्या अधिकार है? मोहन भागवत के पहले के संघ प्रमुख के. सुदर्शन ने बीबीसी को दिये एक साक्षात्कार में संविधान को स्वीकार करने से इंकार कर दिया था।

प्रश्न यह है कि अचानक संघ को क्यों संविधान को पूरी तरह स्वीकार करने की घोषणा करनी पड़ी और यह कहना पड़ा कि हम संविधान के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध हैं। केवल मूल संविधान के प्रति ही नहीं, 1976 के संविधान संशोधन द्वारा जोड़े गये 'धर्मनिरपेक्ष' और 'समाजवाद' जैसे शब्दों के प्रति भी। संविधान को स्वीकार करने और उसके प्रति प्रतिबद्धता ज़ाहिर करने की घोषणा संघ ने अपनी सद्इच्छा के चलते नहीं की है, ऐसा करने में उसकी धूर्तता और बाध्यता दोनों हैं। बाध्यता के इसके दो कारण हैं। पहली बात यह कि इस देश के दलित-बहुजनों (कल के शूद्र-अतिशूद्र) को यह लगता है कि उन्हें जो अधिकार प्राप्त हुए हैं, वे संविधान के चलते ही प्राप्त हुए हैं और यह काफ़ी हद तक सच भी है। औपचारिक-सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर भी इस देश के दलित-बहुजनों को संविधान से ही एक हद तक समता और स्वतंत्रता मिली है। इसके अलावा आरक्षण और कुछ अन्य विशेष क़ानूनी संरक्षण संविधान के चलते ही मिला है। संघ द्वारा संविधान को स्वीकार न करने के चलते और पिछले चार वर्षों में संविधान के संबंध में संघ-भाजपा के लोगों के बयानों के चलते दलित-बहुजनों के एक बड़े हिस्से की यह राय बनती जा रही थी कि संघ संविधान को बदलना चाहता है और उसकी जगह *मनुस्मृति* को लागू करना चाहता है। दलित-बहुजनों द्वारा बड़े पैमाने पर 'संविधान बचाओ अभियान' भी चलाया जा रहा है। संघ की संविधान विरोधी छवि का प्रचार-प्रसार तेज़ी से दलित-पिछड़ों के बीच हो रहा था। हम सभी को पता है कि पिछड़ी जातियों और दलितों को अपने साथ लिये बिना संघ की हिंदुत्व की परियोजना पूरी नहीं हो सकती है। उसे न तो दंगों के लिए जन-बल मिल सकता है, न ही चुनावी बहुमत प्राप्त करने के लिए वोट। संविधान को स्वीकार कर और उसके प्रति प्रतिबद्धता ज़ाहिर कर दलित-बहुजनों का विश्वास जीतने के आलावा संघ के पास कोई विकल्प नहीं बचा था। ऐसा करके संघ ने उन दलित-पिछड़ी जातियों के नेताओं को भी एक अवसर दिया है, जो संघ या भाजपा के साथ हैं। ये नेता अब खुलेआम दलित-पिछड़ों से कह सकते हैं कि संघ संविधान को स्वीकार करता है, उसके प्रति प्रतिबद्ध है।

संविधान को स्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि दलित-बहुजनों का एक बड़ा हिस्सा संविधान और डॉ. आंबेडकर को एक दूसरे का पर्याय मानता है, विशेषकर दलित। दलितों में यह धारणा घर कर गयी है कि जो संविधान नहीं स्वीकार करता, आंबेडकर को भी स्वीकार नहीं करता है। संविधान को स्वीकार करने की घोषणा और प्रतिबद्धता के साथ संघ ने आंबेडकर के प्रति अपनी प्रतिबद्धता भी ज़ोर-शोर से घोषित की है। इसी के साथ मोहन भागवत ने कुछ ना-नुकुर के साथ आरक्षण और एस.सी.-एस.टी. क़ानून के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहरायी। गोलवलकर संविधान और आंबेडकर दोनों को ख़ारिज करते थे। मोहन भागवत ने संविधान के साथ आंबेडकर के प्रति भी अपनी प्रतिवद्धता घोषित की। पिछले कई

वर्षों से संघ आंबेडकर के प्रति अपना प्रेम प्रकट करने की कोशिश कर रहा है। संविधान को स्वीकार किये बिना आंबेडकर के प्रति प्रेम कम से कम दलितों को तो नहीं ही स्वीकार होगा।

संविधान और आंबेडकर को स्वीकार करने का यह सारा उपक्रम करने का उद्देश्य दलित-बहुजनों को अपने दायरे में लाने की कोशिश का एक हिस्सा है क्योंकि यदि दलित-बहुजन संघ के वैचारिक और सांगठनिक दायरे से अलग हो जाते हैं और मुसलमानों के साथ मोर्चा बना लेते हैं, जिसके लक्षण दिख रहे हैं, तो संघ की सारी परियोजना ही ध्वस्त हो जायेगी। इसके साथ ही हिंदुओं के वर्चस्व के नाम पर मुसलमानों, ईसाइयों और दलित-पिछड़ों पर उच्च जातियों के वर्चस्व का ख़ात्मा हो जायेगा और हिंदुत्व के नाम पर उच्च जातीय-उच्च वर्गीय हिंदुओं के वर्चस्व की हज़ारों वर्षों की परंपरा का भी ख़ात्मा हो जायेगा। इसका निहितार्थ संघ की 'हिंदू राष्ट्र' की पूरी परियोजना का ख़ात्मा होगा।

संविधान के प्रति इस समय आस्था और प्रतिबद्धता जताने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि संघ-भाजपा ने यह साबित कर दिया है कि संविधान की औपचारिक स्वीकृति और लोकतांत्रिक चुनाव के माध्यम से बहुमत हासिल किया जा सकता है। यह सफलता पूरी तरह से मुसलमानों-ईसाइयों को किनारे लगाकर हासिल की जा सकती है। बिना औपचारिक और खुलेआम संविधान को बदले देश को 'हिंदू राष्ट्र' में तब्दील किया जा सकता है।

तर्क, विवेक और न्यायपूर्ण चेतना रखने वाला शायद ही कोई व्यक्ति इस तथ्य से इंकार कर पाये कि संघ, उसके आनुषांगिक संगठन और उनकी विचारधारा आज भारतीय समाज के लिए सबसे बड़ा ख़तरा बनकर उभरी है। यह विचारधारा हमें एक अंधकार और बर्बरता के युग में ले जा रही है। इसका मुक़ाबला करने में आंबेडकर की विचारधारा हमारे लिए एक महत्वपूर्ण वैचारिक उपकरण साबित हो सकती है।

कब लौटेंगे अग्निपक्षी?

सुभाष गाताडे

मैं ऐसी ज़बान चाहता हूं जिसका मैं सहारा ले सकूं और जो मुझ पर झुक सके, जो मुझे गवाह बनने के लिए कहे और जिसे मैं गवाह बनने के लिए कहूं।

- महमूद दरवेश

घेराबंदी में पड़े शहर की स्थिति के हालात को लेकर एक कवि किस तरह अपनी प्रतिक्रिया देता है? एक तरीक़ा है महान फ़िलिस्तीनी कवि महमूद दरवेश (1941-2008) का अनुसरण करने का जिनकी किताब, *मेमरी फ़ॉर फ़रगेटफुलनेस* एक तरह से 1982 में लेबानान पर इसरायली हमले से रूबरू होने की कोशिश करती है। बैरूत, जहां दरवेश रह रहे थे, बमबारी का शिकार हो रहा था। वे लिखते हैं, 'बैरूत, इसरायली टैंकों और आधिकारिक तौर पर अरब निर्बलता से घिरा था।' 'अंदर से बैरूत' अपना हौसला क़ायम किये हुए था और इस कोशिश में मुब्तिला था कि 'अरब उम्मीद की राजधानी के वास्तविक अर्थ की चमक की हिफ़ाज़त कर सके।'

किताब में दर्ज कविताएं एक तरह से लेखन (स्मृति) से इतिहास (स्मृतिलोप) के बीच रिश्ता क़ायम करती हैं। घेराबंदी के बीच वह दृढ़ता का सफ़र है।

हिंदोस्तां में हम, बहुत लंबे समय से स्मृति और स्मृतिलोप के बीच झूलते रहे हैं। अभी कोई बमबारी नहीं हो रही है और इसके बावजूद, घेराबंदी का एक बोझ व्याप्त है।

निश्चित ही यह विचलित करनेवाला वक्त् है।

एक पूरे राज्य का नामोनिशान देश के नक़्शे से मिटाया गया। राष्ट्रीय सुरक्षा की दुहाई देते हुए लाखों नागरिकों के मूल अधिकारों और मानवाधिकारों को संवैधानिक सरपरस्ती से वंचित कर दिया गया और हम प्रतीकात्मक कार्रवाइयों से आगे नहीं बढ़ सके।

एक प्रार्थनास्थल के संगठित एवं सुनियोजित विध्वंस के मामले में न्यायपालिका संविधान द्वारा दिखाये रास्ते के बजाय आस्था को वरीयता देती दिखी और हम अपने क्षोभ को जज़्ब करने में ही मुब्तिला रहे।

एक ऐसा मुल्क जिसने सदियों से बाहरी लोगों को पनाह दी वहां जिस तरह नागरिकों की 'शुद्धता की कवायदें' तेज़ हो चली हैं, वह अपने आप में भौंचक करनेवाला है।

और भी बहुत सारी बाते हैं।

यह कह कर अब अपने आप को दिलासा नहीं दिया जा सकता कि चीज़ें सुधरेंगी रफ़्ता रफ़्ता। दरअसल, प्रस्तुत कोलाज इसी को जुबां देने की एक कोशिश है।

1. 'कहां ले गये तुम मेरे पूरनमासी के चांद को' :

यह शीर्षक था उस डाक्युमेंटरी का जिसका निर्माण कश्मीर के एक पत्रकार द्वारा किया गया था और जिसका विमोचन दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में हुआ था।

दर असल, डाक्युमेंटरी श्रीनगर की चर्चित मुग़ली मासी के जीवन पर, उसके साथ लिये गये साक्षात्कारों पर आधारित थी। वही मुग़ली मासी जिसका कमाने वाला बेटा किसी शाम ग़ायब हुआ तो कभी नहीं लौटा था।

मुग़ली मासी। अठारह साल कोई कम अर्सा नहीं होता है इंतज़ार का, लेकिन अपनी आंखों के नूर, अपने घर के चिराग़ के लिए वे अपनी आख़िरी सांस तक मुंतज़िर रहीं।

सूबा कश्मीर की कोई जेल, न कोई थाना-अदालत, अस्पताल या सुरक्षाबलों द्वारा बनाये अपने अनाधिकृत बंदीगृह, उन्होंने अपनी कोख के एकमात्र तारे की खोज में बाक़ी नहीं छोड़े। कोई बताता कि फ़लां जेल में उनके बेटे जैसा कोई शख़्स दिखा था और पति से तलाक़ के बाद आमतौर पर अपने आप को घर तक ही सीमित रखने वाली वे वहां धड़ाम से पहुंच जातीं।

यह अलग बात थी कि किसी स्कूल में मास्टरी कर रहा उनका बेटा नज़ीर अहमद–कितनी प्यार से उन्होंने उसका नाम रखा था–एक दिन स्कूल गया तो लौटा ही नहीं था। यह वही दौर था जब कश्मीर की घाटी ने करवट ली थी और वहां फूल नहीं अंगारे बरस रहे थे।

श्रीनगर के हब्बाकदल इलाक़े का वह तीन मंज़िला मकान जिसमें वे अकेली ही रहती थीं अपने आप को एक छोटे से कमरे में सिमटे रखे, कुछ साल पहले ही पूरी तरह वीरान हो गया है। 'नज़ीर नहीं रहा, लेकिन अम्मा हम सब आप के ही नज़ीर हैं।' पच्चासी साल की उम्र की हो चुकी मुग़ली को सभी समझाते रहते। जब उनका जनाज़ा उठा था तब हब्बाकदल के उस इलाक़े में पैर रखने की जगह नहीं थी। हज़ारों की तादाद में लोग उनके जनाज़े में शामिल हुए।

अपने बेटे की जवानी के दिनों की एकमात्र तस्वीर लिये उनकी मौजूदगी–उन धरनों, प्रदर्शनों में–उन तमाम माता-पिताओं के लिए एक अलग ताक़त बनी रहती जिन्होंने भी अपने अपने नज़ीर खोये थे।

मुझे याद है आज से लगभग नौ-दस साल पहले मुल्क की संसद तक अपनी दास्तां सुनाने पहुंचा वहां से आये तमाम पीड़ितों का वह धरना, किसी का बेटा ग़ायब था तो किसी के सर से अलसुबह पिता का साया उठ गया था तो किसी ने अपने पति को खोया था। 'एसोसिएशन आफ़ पेरेंट्स ऑफ़ डिसएपीअर्ड पर्सन्स' (एपीडीपी) की सूत्रधार परविना अहंगार के लब्ज़, जिनका बेटा भी सोलह साल पहले किसी अलसुबह इसी तरह ग़ायब हो गया था, आज भी कानों में गोया गूंज रहे हैं। 'मैं पूछना चाहती हूं कि कहां गया मेरा बेटा, पाताल में चला गया, या आसमान में हवा हो गया या पानी में विलीन हो गया।' उन्होंने अपने दुख की चादर इस क़दर फैलायी थी कि वहां बैठे तमाम लोगों की आंखें नम हो चुकी थीं।

अप्रैल 2003 में कश्मीर में बनी 'एसोसिएशन' - जो ऐसे माता पिताओं की संस्था है जिनके बच्चे इसी तरह ग़ायब हुए हैं - की तरफ़ से उस वक्त़ बताया गया था कि 1990 के बाद से सूबे में दस हज़ार से अधिक लोग इस तरह ग़ायब हो गये हैं। उनके मुताबिक़ जबसे कश्मीर में माहौल सरगर्म हुआ तबसे ग़ायब ये लोग सरकारी एजेंसियों द्वारा गिरफ़्तार किये जाने के बाद आज तक घर नहीं लौटे हैं जिनमें से ज़्यादातर ख़ुद उग्रवादी गतिविधियों में संलग्न नहीं थे। उधर सरकार का दावा रहा है कि वे सभी लोग

जो ग़ायब हुए हैं वे ऐसे लोग हैं जो 'भूमिगत हुए हैं।' 'एपीडीपी' की तरफ़ से सरकार से यह मांग की जाती रही है कि वह उन लोगों की फ़ेहरिस्त जारी करे जो उनकी निगाह में 'ग़ायब' हैं। सरकार या उसके नुमाइंदों द्वारा 'ग़ायब' लोगों की संख्या के बारे में समय समय पर प्रस्तुत बयानों के विरोधाभासों को रेखांकित करते हुए यह कहा गया था कि कोई भी इस मसले पर गंभीर नहीं दिखता।

सभी जानते हैं कि ग़ायब होते लोगों की परिघटना ने समाज में महिलाओं के एक नये तबक़े को भी जन्म दिया है जिसे लोग 'अर्द्ध विधवा' के तौर पर संबोधित करते हैं। कश्मीर में इस समय हज़ारों ऐसी अर्द्धविधवाएं हैं। उनके पास इसके अलावा कोई चारा नहीं है कि वे इंतज़ार करें, इंतज़ार करें।

कन्वेयर नामक पत्रिका में मुग़ली पर लिखे अपने आलेख 'मुग़ली : क्राउन आफ़ सफ़रिंग कश्मीरी मदरहुड' में बिलाल अहमद ने लिखा था कि 'अगर ग़ायब हुए पति के चलते स्त्री अर्द्धविधवा कहलाती है, तो मुग़ली क्या थी? अर्द्ध-माता?' कई साल पहले प्रशिक्षु पत्रकार के तौर पर मुग़ली से पहली दफ़ा मिले बिलाल ने आगे लिखा था कि 'अपनी दास्तां सुनाते हुए जिन दर्दभरे गीतों को वह दोहराती थी, उसे सुन कर लगता था कि अपनी एकमात्र संतान खोने की पीड़ा क्या होती है? नज़ीर जब छोटा रहा होगा तो उसके लिए उसने तमाम बालगीत गाये होंगे।'

उन्हीं दिनों 'इंटरनेशनल पीपुल्स ट्रिब्युनल आन ह्यूमन राइट्स एंड जस्टिस' के हवाले से छपी यह ख़बर भी छपी थी कि उन्होंने कश्मीर के पचपन गांवों में फैली '2700 अनाम क़ब्रों की पहचान की है जिनमें 2,943 लाशें दफ़नायी गयी हैं।' (*डीएनए,* 2 दिसंबर 2009) बताया गया था कि बंदीपोरा, बारामुल्ला और कुपवाड़ा ज़िले में मिली ये क़ब्रें, दरअसल, विगत बीस सालों के दौरान समय-समय पर बनी हैं। राज्य के मानवाधिकार आयोग ने इन अनाम क़ब्रों में दफ़नाये गये लोगों की पूरी जांच करने का आदेश तत्कालीन सरकार को दिया था।

फ़िलवक्त़ यह नहीं बताया जा सकता कि इस जांच का क्या हुआ? क्या महज़ काग़ज़ी घोड़े दौड़ाये गये और उन काग़ज़ों को फ़ाइलों में कहीं चस्पां किया गया?

लेकिन अब जैसा वक्त़ है कि ये सवाल भी उठाये नहीं जा सकते।

अगर हम आधिकारिक विमर्श पर यक़ीन करें तो सूबे में सबकुछ सामान्य है, पिछले दिनों जनाब अमित शाह ने - जो मुल्क के गृहमंत्री हैं - राज्यसभा के पटल पर इसी बात की ताईद करते हुए बताया कि 'कश्मीर में नॉर्मल्सी लौट आयी है।' (https://www.indiatoday.in/indiaèstory/amit-shah-kashmir-rajya-sabha-internet-schools-jk-restrictions-1620777-2019-11-20) और जब उन्हें इंटरनेट सेवाओं की बहाली करने के बारे में पूछा गया तो उन्होंने बताया कि राष्ट्रीय सुरक्षा उससे अधिक महत्वपूर्ण होती है।

आगे चीज़ें क्या करवट लेंगी यह बताया नहीं जा सकता। अलबत्ता एक बात तो तय है कि उन तमाम अनाम क़ब्रों पर धूल की चादर और मोटी होती जायेगी।

2. अयोध्या के साये में शहीदगंज !

हिंदू और मुस्लिम के एहसासात को मत छेड़िए
अपनी कुर्सी के लिए जज़बात को मत छेड़िए

- अदम गोंडवी

इन पंक्तियों के आपके पास पहुंचते-पहुंचते कश्मीर को इस ख़ास स्थिति में पहुंचे चार महीने का वक्फ़ा

गुज़र गया होगा।

इस दौरान ऐसे तमाम मौक़े आये जब ऐसा लगा कि न्यायपालिका - मुख्यतः सर्वोच्च न्यायालय- कश्मीर की विशिष्ट स्थिति में अचानक किये गये बदलाव से उत्पन्न विभिन्न ज़रूरी मसलों पर - फिर चाहे कम्युनिकेशन लॉकडाउन का मामला हो, लोगों को हिरासत में लिये जाने का मामला हो, राज्य के विशेष दर्जे को समाप्त किये जाने या राज्य को दो केंद्र शासित प्रदेशों में बांटने से जुड़े मानवाधिकार उल्लंघन या उन पर लगे प्रतिबंधों के सवालों पर अधिक सक्रिय रूप में दिखेगी; अलबत्ता यही दिखा कि ऐसे मामलों में उसने 'बिल्कुल तत्परता नहीं दिखायी।'

(https://www.huffingtonpost.in/entry/did-chief-justice-ranjan-gogoi-discharge-his-debt-to-the-nation_in_5dcfefeee4b0d2e79f8d5071?guccounter=1,

https://www.thequint.com/news/law/deciding-by-not-deciding-supreme-court-kashmir-hearings-takeaways-fait-accompli)

सर्वोच्च न्यायालय का दावा था कि वह अयोध्या मसले की सुनवाई में मसरूफ़ है और उसके पास वक़्त नहीं है।

प्रश्न उठता है कि कश्मीर में मानवाधिकारों के हनन के सवालों को एक तरह से मुल्तवी करके उसने अयोध्या मसले पर जो निर्णय सुनाया उसके बारे में क्या कहा जा सकता है?

फ़ैसला ऐतिहासिक था इसमें कोई दो राय नहीं; मगर क्या वाक़ई न्याय हो सका? अगर न्याय हुआ है तो उस बेचैनी का आलम क्यों जो महज अल्पसंख्यक समूहों तक व्याप्त नहीं है। क्या इसकी वजह फ़ैसले में आधार और निष्कर्ष के बीच असंबद्धता का होना है, जो क़ानून के ऊपर, धार्मिक विश्वास की जीत की मिसाल क़ायम करने के रूप में दिखायी दे रही है। बेचैनी इस वजह से भी पैदा हुई है क्योंकि निर्णय में जहां यह कहा गया है कि धार्मिक विश्वास के आधार पर किसी संपत्ति का टाइटल नहीं दिया जा सकता है, लेकिन फिर भी निष्कर्ष निकालने में यह धार्मिक विश्वास-आधारित दावों की ही शरण में जाता दिखायी देता है। सवाल ये भी उठाये जा रहे हैं कि क्यों सिर्फ़ मुस्लिम पक्ष को ही लगातार यह साबित करना पड़ा कि वह इस बात को साबित करे कि उस विवादित स्थान पर उनका ही एकमात्र कब्ज़ा था, जबकि हिंदू पक्ष के लिए इस प्रकार का कोई दबाव नहीं था।

आज अगर यहां अयोध्या का नाम लिया जाये तो एक ख़ास तरह की तस्वीर उभरती है। लोगों के मन की आंखों के सामने हिंसा एवं आगजनी से भरा वह अतीत नमूदार हो जाता है, जिसका ख़ामियाज़ा तमाम निरपराधों ने पूरे मुल्क़ में भुगता।

वैसे अगर हम इतिहास के पन्नों पलटें तो अलग तरह की तस्वीर दिखती है। यही वह इलाक़ा है जो 1857 के महासमर के केंद्र में था जिसमें हिंदू एवं मुसलमानों ने कंधे से कंधे मिला कर संघर्ष किया था। अहमदुल्लाह और मौलवी अमीर अली के पराक्रम की उन दिनों की गाथाएं आज भी लोगों के बीच सुनी जा सकती हैं। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बाबा रामचंद्र की अगुआई में किसानों की जो हलचलें इस इलाक़े में चलीं उनकी ख़ासियत थी इन दोनों समुदायों के लोगों की सहभागिता, आपको मालूम होगा कि बाबा रामचंद्र को फांसी की सज़ा हुई थी। हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के अगुआ और काकोरी कांड को अंजाम देने वालों में अग्रणी - शहीद रामप्रसाद बिस्मिल के अनन्य साथी अशफ़ाकुल्ला ख़ान को यहीं फांसी पर चढ़ाया गया था।

ग़ौरतलब है कि अयोध्या गंगा-जमुनी तहज़ीब की एक नायाब मिसाल पेश करता रहा है। यह बात भी रेखांकित करने वाली है कि अयोध्या में सिर्फ़ हिंदू एवं मुसलमानों के ही श्रद्धास्थल नहीं रहे हैं, वहां

जैन, सिख यहां तक कि बौद्धों के विभिन्न श्रद्धास्थल मौजूद हैं। वी बी रावत नामक एक सामाजिक कार्यकर्ता ने अयोध्या के इस अतीत पर एक फ़िल्म का निर्माण भी किया है। उनके मुताबिक़ जैनों के धर्मग्रंथों में इसे विशाखा के तौर पर संबोधित किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि महावीर के बाद आये पांच तीर्थंकरों ने यही जनम लिया। यहां बना ब्रह्मकुंड साहिब गुरुद्वारा गुरु नानक की यात्रा की याद दिलाता है। हरिद्वार से पुरी जाते वक़्त वह यहां रुके थे। गुरु नानक ही नहीं, गुरु गोविंदसिंह तथा गुरु तेगबहादुर ने भी यहां प्रवचन दिये हैं।

विभिन्न मंदिरों के अलावा अयोध्या में छोटे बड़े अस्सी से अधिक दरगाह हैं जहां पर दोनों समुदायों के लोग जाते हैं। ताश्कंद के युवराज रहे सैय्यद इब्राहिम शहा बाबा दरगाह, ईरान के समनान सूबे का राजा सैयद अब्दुल जहांगीर समनानी का दरगाह या बड़ी बुआ जैसी महिला संत का दरगाह ख़ास रूप में चर्चित हैं। अयोध्या को शहर ए औलिया अर्थात सूफ़ियों का शहर भी कहा जाता है। कुछ मुस्लिम विद्वानों के मुताबिक़ अयोध्या की अहमियत को देखते हुए उसे 'खुर्द मक्का' अर्थात छोटी मक्का के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

इसमें कोई दोराय नहीं कि विगत तीन दशक से अधिक समय से अयोध्या के बहाने देश के राजनीतिक सामाजिक जीवन में जो कुछ घटित हुआ है, अयोध्या को ख़ास रंग में ढालने के जो प्रयास चले हैं, उसमें अयोध्या के इस साझे अतीत पर बहुत गर्द जम गयी दिखती है।

याद रहे 6 दिसंबर 1992 के दिन अयोध्या में बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया गया था। मस्जिद को वास्तविक रूप में तोड़े जाने से काफ़ी पहले ही यह स्थान भारत की धर्मनिरपेक्ष नींव को ही ध्वस्त करने के एक ठोस अभियान के रूप में तब्दील हो चुका था। 1980 के दशक से सक्रिय यह अभियान अंततः उस अंतिम मुक़ाम तक पहुंचा। (http://thewirehindi.com/27792č25-years-of-ayodhya-dispute-babri-masjid-demolition-ram-janmabhoomi/)

ग़ौरतलब था कि मस्जिद ध्वंस की इस समूची कार्रवाई को आला अदालत ने अपने 'ऐतिहासिक फ़ैसले' में अवैध क़रार दिया। इतना ही नहीं वर्ष 1948 में जब मस्जिद में मूर्तियां रखी गयी थीं, इस कार्रवाई को भी आला अदालत ने अवैध कहा। इन ग़ैरक़ानूनी एवं अनैतिक कार्रवाइयों के बावजूद अदालत के फ़ैसले का लुब्बेलुआब यही था कि बाबरी मस्जिद का ध्वंस करने वाली ताक़तें ही उस ज़मीन के टुकड़े की हक़दार हैं, जिस पर वह खड़ी थी।

जो लोग यह दावा करते हैं और यहां तक विश्वास करते हैं कि न्यायपालिका ने आख़िरकार मामले को निपटा दिया है, उन्हें ख़ुद से पूछना चाहिए कि यदि 6 दिसंबर 1992 को भारतीय गणतंत्र के सिद्धांत और मूल्य तोड़े गये थे तो क्या वे अब अपने को दुरुस्त करने के रास्ते पर चल पड़े हैं। वे लोग इस तथ्य को भूल जाते हैं कि भारतीय समाज का विचार पवित्रता और अपवित्रता और एक श्रेणीबद्ध पदानुक्रम पर आधारित है जो कि सदियों से चली आ रही है। एक ऐसे देश के लिए, गणतंत्र का होना एक वास्तविक क्रांति के समान था; जो जाति, लिंग, समुदाय, नस्ल या राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभाव को ख़त्म करने के लिए उन सताये गये और हाशिये पर पड़े और उत्पीड़ितों द्वारा जारी लंबे संघर्ष का परिणाम था। यह इस बात का आश्वासन था कि भारत कभी भी एक धर्म शासित राज्य के स्तर पर नहीं पतित होगा।

बाबरी मस्जिद विध्वंस और उसके बाद के रक्तरंजित दौर की तरफ़ इतने साल बाद फिर लौटते हुए, हम नये सिरे से उस पुराने द्वंद्व से रूबरू होते हैं जो हर ऐसे सांप्रदायिक दावानल के बहाने उठता है।

लोग पूछते हैं कि क्या यह ज़रूरी नहीं कि हम नया पन्ना पलटें और अपने भयानक अतीत से मुक्त हों? यह बात भी उछाली जाती है कि अगर हम हत्याओं, जनसंहारों की बात करेंगे तो बड़ी मेहनत से विभिन्न समुदायों के बीच जो अमन क़ायम किया गया है, वह भंग हो सकता है। यह बात पूछी नहीं जाती कि क्या वास्तविक न्याय के बिना असली शांति क़ायम हो सकती है कभी?

कई लोगों की राय में बाबरी मस्जिद के मुद्दे को अब समाप्त करने की ज़रूरत थी, क्योंकि यह औपनिवेशिक काल से चलता चला आ रहा था, जो विवाद 1949 के बाद तब बढ़ गया, जब मूर्तियों को मस्जिद के भीतरी कक्ष में प्रवेश करा दिया गया। यह दृष्टिकोण, जो देखने में स्पष्ट तौर पर काफ़ी लोकप्रिय है, लेकिन क्या यह समझ उसी तरह की नहीं है, जिस तरह लोगों के बड़े हिस्से ने जम्मू और कश्मीर में धारा 370 के निरस्तीकरण को मंजूरी दे दी थी। तर्क यही था कि सत्तर साल हो गये अब कितना इंतज़ार किया जाये!

अंत में क्या यही एकमात्र रास्ता था जिस दिशा में एक घोषित धर्मनिरपेक्ष मुल्क में 'समाधान' ढूंढ़ा गया?

दक्षिण एशिया के इतिहास की थोड़ी बहुत समझ रखने वाले बता सकते हैं कि इस मामले में एक अलग मिसाल पड़ोसी मुल्क ने ही पेश की थी। भारत में अगर एक मस्जिद दो समुदायों के बीच विवाद का बायस बनी थी तो पाकिस्तान के लाहौर में एक गुरुद्वारा दो समुदायों के बीच विवाद के केंद्र में था। वर्ष 1762 में लाहौर पर सिखों की फ़तह हासिल करने के बाद, शहर की एक मस्जिद, जिसे 15वीं शताब्दी के मुग़ल सम्राट शाहजहां के शासनकाल के दौरान बनाया गया था, के प्रांगण में एक गुरुद्वारे का निर्माण किया गया था। 1840 के दशक के अंत में पंजाब पर ब्रिटिश कब्ज़े के बाद शहीदगंज गुरुद्वारा, सिखों और मुसलमानों के बीच एक बेहद द्वेषपूर्ण झगड़े की मूल वजह के रूप में सामने आया था। अंग्रेज़ों के राज में इस गुरुद्वारे पर नियंत्रण को लेकर सिखों एवं मुसलमानों के बीच लंबा विवाद चला। 1935 में लाहौर में दंगे भी भड़के। मामला फिर प्रिवी कौंसिल गया जिसने इस मामले में हस्तक्षेप किया और सिखों के पक्ष में फ़ैसला सुनाया।

विभाजन के बाद भी, जब पाकिस्तान के रूप में एक नये देश को जन्म दिया गया तब भी वहां पर गुरुद्वारे को मस्जिद में बदलने के मुस्लिम पक्षों द्वारा कई प्रयास किये गये। आश्चर्यजनक रूप से, अदालत ने औपनिवेशिक शासन के तहत किये गये अपने फ़ैसले को बरक़रार रखा। आज इस्लाम पाकिस्तान का घोषित राजकीय धर्म है, फिर भी इसने - कम से कम इस मामले में ही सही - अपने धार्मिक अल्पसंख्यक (इसकी कुल आबादी के 0.6 प्रतिशत से कम) के क़ानूनी अधिकारों की रक्षा करने का काम किया था।

शहीदगंज विवाद के आलोक में अयोध्या निर्णय पर ग़ौर करें। उम्मीदें तो ये थीं कि एक सेक्युलर मुल्क की न्यायपालिका शहीदगंज मामले जैसी नज़ीर पेश करेगी यदि इससे ऊंचा न दे सके। लेकिन ये मान्यताएं झूठी साबित हुई हैं।

कोई भी समझ सकता है कि यह अंत नहीं है।

अस्सी और नब्बे के दशक के दौरान, जब हिंदू दक्षिणपंथी जमातें बाबरी मस्जिद को ढहाने के आंदोलन की अगुआई कर रही थीं, तब उनका नारा रहता था कि 'तीन नहीं अब तीस हज़ार, बचे न एको मस्जिद-मजार।'

दिल को बहलाने के लिए यह ख़याल अच्छा है कि वे लोग अलसुबह स्मृतिलोप का शिकार हो जायेंगे।

3. 'नया' इंडिया, नये 'अनागरिक'!

कश्मीर का घटनाक्रम जितना तेज़ी से हमारे सामने घटित हो रहा था या अयोध्या के मसले पर आला अदालत की कार्रवाई ने जिस तरह तेज़ी पकड़ी थी, उसमें कई अन्य ज़रूरी मसलों की तरफ़ देश के लोगों का ध्यान भी नहीं जा सका।

सभी जानते हैं कि असम में नेशनल रजिस्टर ऑफ़ सिटिजंस की सूची जारी की गयी है, जिसमें असम के 19 लाख निवासियों के नाम नहीं हैं। इन 19 लाख निवासियों को अपनी नागरिकता साबित करने के लिए लंबी क़ानूनी प्रक्रिया से गुज़रना पड़ेगा, जिसमें फ़ॉरिनर्स ट्रिब्युनल की अहम भूमिका होगी। अक्तूबर माह में ख़बर आयी कि असम के डिटेंशन सेंटर्स में मरने वाले लोगों की तादाद 26 तक पहुंच गयी है, जिनमें सबसे लेटेस्ट नाम किन्हीं दुलाल चंद पॉल का था, (उम्र 65 साल) जो तेज़पुर के पास किसी गांव में लंबे समय से खेती कर रहे थे। उनके पिताजी राजेंद्र पॉल, कभी पूर्वी पाकिस्तान से इस इलाक़े में आकर बसे थे। गुवाहाटी मेडिकल कालेज में हुई उनकी मौत के बहाने इसी तरह हुई 25 अन्य मौतों के बारे में भी सत्य को उजागर किया था।

अब ऐसी ही चंद अन्य मौतों पर ग़ौर करें :

अमृत दास (उम्र 72 साल, मृत्यु अप्रैल 2019), सुब्रत डे (उम्र 38, मृत्यु मई 2018) और जोब्बार अली (उम्र 61 साल, मृत्यु अक्तूबर 2018) (https://thewire.in/rights/the-death-of-amrit-das-and-the-search-for-foreigners-in-assam) अमृत दास और सुब्रत जहां असम के गोलपारा में गुज़रे तो जोब्बार का इंतक़ाल तेजपुर में हुआ। अलबत्ता एक साझापन ज़रूर था कि इन तीनों का अंतिम समय बिल्कुल ग़ैरों के बीच डिटेंशन सेंटर (बंदीगृह) में गुज़रा।

ऐसा नहीं कि इन्होंने कोई जुर्म किया था, जिसकी सज़ा यह भुगत रहे थे। दर असल, अपनी अपनी नागरिकता साबित करने के लिए जिन जिन दस्तावेज़ों को जमा करना पड़ता है - और अगर इनमें से किसी में कुछ ख़ामी मिले तो फिर विदेशी घोषित किया जा सकता है - इनमें से किसी एक में कुछ विसंगति पायी गयी थी, जिसके चलते किसी अलस्सुबह इन्हें बिना पहले सूचित किये पुलिस उठा कर ले गयी थी और इन्हें डिटेंशन सेंटर्स में रखा गया था।

मई 20, 2017 को फ़ॉरिनर्स ट्रिब्युनल ने अमृत दास को विदेशी घोषित किया था, जब वह ज़िंदगी के सत्तरवें साल में थे। डिटेंशन सेंटर की ठंडी फ़र्श पर सोते सोते अमृत दास को अस्थमा ने जकड़ लिया और पर्याप्त मेडिकल सहायता न मिलने के चलते हिरासत में दो साल समाप्त होने के पहले ही वे कालकवलित हुए थे। इसी क़िस्म का हाल सुब्रत डे का हुआ था, अनागरिक घोषित किये जाने के दो माह के अंदर दिल का दौरा पड़ने से उनकी मौत हुई थी।

अब ये फ़ॉरिनर्स ट्रिब्युनल कितने मनमाने ढंग से काम करते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। सबसे ताज़ा मसला गुवाहाटी उच्च अदालत का वह फ़ैसला रहा है जिसमें उसने मोरीगांव के फ़ॉरिनर्स ट्रिब्युनल द्वारा दिये 57 आदेशों को - जिसमें इतने सारे लोगों को विदेशी घोषित किया गया था - तत्काल ख़ारिज करने का आदेश दिया था। (èhttps://indianexpress.com/article/north-east-india/assam/glaring-gaps-in-orders-gauhati-hc-indicts-a-foreigners-tribunal/) अदालत का यह कहना था कि आम हालात होते तो इस अनियमितता के लिए अनुशासनिक कार्रवाई की जाती। सरकारी योजना के मुताबिक़ पहले से चले आ रहे 100 फ़ॉरिनर्स ट्रिब्युनल की सहायता के लिए लगभग चार

सौ ट्रिब्युनल दिसंबर तक बनने हैं।

केंद्र में सत्ताधारी पार्टी की तरफ़ से जैसा माहौल बनाया जा रहा है तो अनागरिक को ढूंढने का यह सिलसिला पूरे देश में रफ़्ता-रफ़्ता फैलाया जा सकता है ताकि देश के हर हिस्से में ऐसे ही डिटेंशन सेंटर बनाये जायें, जहां दस्तावेज़ों की छोटी मोटी कमी के चलते लाखों लोग अपने तमाम मानवीय अधिकारों से वंचित कर कारावासों में ठूंस दिये जा सकें।

दरअसल, जुलाई माह में ही केंद्र सरकार ने सभी राज्य सरकारों को यह निर्देश भेजा था कि वह सभी प्रमुख शहरों में ऐसे डिटेंशन सेंटर बनाये। सभी राज्यों को वितरित '2019 मॉडल डिटेंशन मैन्युअल' में ही ऐसे इलाक़े एवं राज्य जो आप्रवासियों के पहुंचने के ठिकाने हैं, उन पर फ़ोकस किया जाना है। याद रहे देश के तमाम पत्रकार, सामाजिक एवं मानवाधिकार कार्यकर्ता, डिटेंशन सेंटर को लेकर, दो क़िस्म के सवाल खड़े करते रहे हैं।

पहला सवाल, इसी के बहाने किस तरह मानवाधिकारों के सरासर उल्लंघन को सुगम किया जा रहा है। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन (एमनेस्टी इंटरनेशनल) ने नवंबर 2018 को जारी अपनी रिपोर्ट 'बिटविन फ़ीयर एंड हेट्रेड : सर्वाइविंग माइग्रेशन डिटेंशन इन असम' *(Between Fear and Hatred: Surviving Migration Detention in Assam)* जिसे उन्होंने वकीलों, पत्रकारों, अकादमिशियनों, जेलों में सक्रिय डॉक्टर्स तथा पीड़ित या उनके परिवारवालों से बात करके तैयार किया था - में तमाम ऐसे विचलित करने वाले तथ्यों को पेश किया था। एमनेस्टी ने पाया था कि 'जिन व्यक्तियों को विदेशी घोषित किया गया है, उन्हें कितनी कालावधि तक हिरासत में रखा जायेगा इसके बारे में कोई वैधानिक समयसीमा तय नहीं की गयी है; दूसरे जिन व्यक्तियों को विदेशी घोषित किया जाता है उन्हें आपराधिक जेलों में दोषसिद्ध लोगों एवं विचाराधीन क़ैदियों के बीच रखा जाता है; हिरासत के हालात और उसकी परिस्थितियों से व्यक्तियों के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक असर पड़ता है; विदेशी ट्रिब्युनल, जो नागरिकत्व के मामलों पर फ़ैसला सुनाते हैं वे अनियमित विदेशियों को चिन्हित करने के लिए दोषपूर्ण प्रक्रियाओं का इस्तेमाल करते हैं। (https://amnesty.org.in/news-update/assam-end-rights-violations-against-persons-declared-foreigners-and-held-in-detention-centres)

और इन्हीं के चलते सरकार से यह मांग की गयी थी कि वह इन ट्रिब्युनलों द्वारा विदेशी घोषित किये गये लोगों के मानवाधिकारों के उल्लंघन को समाप्त करे तथा जहां तक संभव हो डिटेंशन के ग़ैरहिरासती विकल्पों पर सोचे।

दूसरे श्रेणी के सवाल डिटेंशन सेंटर निर्माण के क़ानूनी आधारों को समझने से संबंधित हैं।

सिटिज़न्स फ़ार जस्टिस एंड पीस की सुश्री तीस्ता सितलवाड, जिनके सहयोगी असम के कई हिस्सों में राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर से बाहर कर दिये गये लोगों को क़ानूनी सहायता देने की मुहिम में मुब्तिला हैं पूछती हैं कि क्या इनके निर्माण के लिए कोई विधायी प्रक्रिया चलायी गयी है? (https://frontline.thehindu.com/cover-story/article29499066.ece) 'अगर वे इसके लिए फ़ॉरिनर्स एक्ट 1946 को इस्तेमाल कर रहे हैं तो आप पायेंगे कि इस अधिनियम का सेक्शन 3 बताता है कि विदेशियों को गिरफ़्तार किया जा सकता है, हिरासत में रखा जा सकता है या सीमित रखा जा सकता है; मगर कहीं भी यह क़ानून इसके लिए डिटेंशन सेंटर की बात नहीं करता।' वे आगे बताती हैं कि 'उन्होंने असम के छह ज़िलों में बने ऐसे डिटेंशन सेंटर्स का अध्ययन किया है, इन सेंटर्स में ठूंस दिये गये लोगों के परिवारजनों से बात की है और यही पाया है कि यहां की स्थितियां अमानवीय हैं।'

दरअसल, सरकार की तरफ़ से इस मामले में इतनी बदहवासी दिखायी जा रही है कि उसने इस पहलू पर भी अभी ग़ौर करना मुनासिब नहीं समझा है कि नागरिकता संबंधी दस्तावेज़ों में कमी के चलते डिटेंशन सेंटर में रखे गये लोग - जिनमें से असम के सभी डिटेंशन सेंटर वहां के जेलों का ही हिस्सा हैं - दोषसिद्ध नागरिकों से भी दोयम दर्जे पर स्थित हैं। वजह यही है कि दोषसिद्ध लोगों को कम से कम कभी पैरोल पर रिहा किया जा सकता है, अगर परिवार में किसी की शादी हुई या किसी मौत हुई तो चंद दिनों के लिए अपने आत्मीयों के बीच भेजा जा सकता है, मगर अनागरिक घोषित किये गये लोग इस सुविधा से भी महरूम हैं। यह अकारण नहीं कि ऐसे लोगों ने कई बार भूख हड़तालें भी की हैं। (https://thewire.in/rights/foreign-inmates-in-assam-prison-protest-against-indefinite-detention) एक तरफ़ जहां अनागरिक होने के चलते उन्हें पैरोल पर रिहा नहीं किया जाता लेकिन चूंकि वे जेलों में ही बंद हैं, इसलिए उन्हें हथकड़ी लगाने से गुरेज नहीं होता। नवंबर 2018 का क़िस्सा है, 'अनागरिक' घोषित किये रतनचंद्र विश्वास - जो गोलपारा में डिटेंशन में थे तथा बीमार चल रहे थे - की एक तस्वीर सोशल मीडिया में वायरल हुई, जिसमें उन्हें गोलपारा के सिविल अस्पताल में भरती किया गया था, मगर उनके हाथों में अभी भी हथकड़ी पड़ी थी। इस मामले को लेकर जब शोर मचा तब उनकी इस हथकड़ी को हटाया गया।

इन संदिग्ध और घोषित विदेशियों को ऐसे डिटेंशन सेंटर्स में अनिश्चितकाल के लिए रखने के सरकार के निर्णय की मुख़ालिफ़त करते हुए मानवाधिकार कार्यकर्ता हर्ष मंदेर ने सर्वोच्च न्यायालय में, सितंबर 2018, में एक जनहित याचिका भी दाख़िल की थी। मालूम हो कि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के विशेष पर्यवेक्षक होने के नाते जनाब मंदेर ने जनवरी 2018 में असम के इन केंद्रों का दौरा किया था और अपनी रिपोर्ट में इस विचलित करने वाले निष्कर्ष को साझा किया था कि उन्हें लगता है कि प्रतीत होता है हिरासत में रखे गये ये सभी 'अनागरिक अपनी शेष ज़िंदगी यहीं बितायेंगे।' संविधान धारा 21 का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा था कि 'मानवीय गरिमा के अधिकार को, हिरासत में भी, कुचला नहीं जा सकता। और इसलिए यह कहना मुनासिब होगा कि आम अपराधियों के साथ इन लोगों की हिरासत, जेल परिसरों में ही, जहां उन्हें क़ानूनी नुमाइंदगी या परिवार के साथ संवाद का भी अधिकार न हो, खुल्लमखुल्ला इस अधिकार का उल्लंघन है।'

ध्यान रहे कि भारत में ऐसी संदिग्ध नागरिकता को लेकर अक्सर बांग्लादेश का नाम लिया जाता है। अब जब भारत और बांग्लादेश में ऐसा कोई औपचारिक क़रार नहीं है कि जिन्हें भारत विदेशी समझे उन्हें बांग्लादेश भेजा जाये तो ऐसे तमाम लोगों का अधर में लटके रहना लाज़िमी है। इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि जब जब राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर की बात होती है या जब जब भाजपा के अध्यक्ष और उनके सहयोगी 'घुसपैठियों' को भगाने की बात करते हैं तो यही सवाल पूछा जाता रहा है कि जब आप बांग्लादेश को ख़ुद आश्वस्त कर चुके हैं कि यह सब भारत का आंतरिक मामला है -- जबकि जनमानस में इसी विमर्श को तवज्जो दी जाती रही है -- जो अवैध प्रवासी हैं वे, दरअसल 'बांग्लादेशी' हैं।

दरअसल, हमें नहीं भूलना चाहिए कि नागरिकों की 'शुद्धता की कवायदें और अंधराष्ट्रवाद' वे खाद पानी होते हैं जिन पर दक्षिणपंथी राष्ट्रवादी विचार मज़बूती पाता है। जैसा कि देवर्षि दास -- जो आइआइटी गुवाहाटी में प्रोफ़ेसर हैं -- बताते हैं कि विगत कुछ सालों से चली ऐसी कवायदों से हम गुज़रे हैं, जिनमें एक साझापन है -- फिर चाहे वह 'आधार' हो, नोटबंदी हो या नेशनल रजिस्टर आफ़ सिटिज़ंस को अपडेट करने का सवाल हो। 'वे हमें एक झटका देती हैं और राज्य के साथ हमारे अपने रिश्ते की याद दिलाती

हैं; हालांकि वे इस रिश्ते को सर के बल खड़ा करती हैं : इस तरह इसके बजाय कि लोग राज्य को वैधता प्रदान करें, मामला उलट जाता है। अब लोगों को चाहिए होता है कि वे राज्य के सामने झुकें और अपने लिए वैधता हासिल करें। एक दमदार, दख़लंदाज़ी करनेवाला राज्य भाजपा का सहयोगी होता है, इसमें क्या आश्चर्य!'(https://thewire.in/politics/nrc-updating-assam)

4

अंत में, *मेमरी फ़ार फ़रगेटफुलनेस* की ओर फिर लौटें तो किताब में दरवेश, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के साथ बातचीत का सिलसिला चलाते दिखते हैं, जो उस वक़्त ख़ुद बैरूत में थे :

- सभी कलाकार कहां हैं?
मैं पूछता हूं कि कौन से कलाकार, फ़ैज़?
- बैरूत के कलाकार?
तुम उनसे क्या चाहते हो?
- शहर की दीवारों पर इस युद्ध को उकेर देना।
तुम्हें क्या हो गया है, मैं चिल्लाता हूं। तुम देख नहीं रहे हो ये दीवारें गिर रही हैं?

घेराबंदी में पड़े उस शहर में बेहद प्रतिकूल स्थितियों से गुज़र रहे दरवेश एक जगह यह भी लिखते हैं:

- मेरे दोस्त मेरा मज़ाक उड़ाते हुए पूछते हैं :
'आख़िर कविता का क्या उपयोग है? जब युद्ध ख़त्म होगा तो वह किस प्रयोग में आयेगी? लेकिन इस वक़्त मैं चीख रहा हूं जबकि चीख कहीं पहुंचती नहीं दिख रही है। और इस स्थिति में मेरे मन में यही बात कौंधती है कि भाषा को ऐसे संग्राम में बलपूर्वक उतरना चाहिए जबकि आवाज़ें बराबर नहीं हों। आप की धीमी आवाज़ बेहतर है। लेकिन, तुम लिख क्या रहे हो? मैं हकलाते हुए चीख निकाल रहा हूं, मैं जवाब देता हूं।' (*मेमरी फ़ॉर फ़रगेटफुलनेस* से अनूदित)
आमीन !

नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व[1] : सत्ता के प्रति प्रतिरोधी स्वर

नित्यानंद तिवारी

मैंने लगभग साढ़े चार साल पहले एक लेख लिखा था—'भारतीयता और निराला'। उन दिनों 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' वाली विचारधारा की पार्टी, भा.ज.पा. की सरकार स्थापित हुई थी।

भारतीयता के बारे में निराला का बौद्धिक अंतर्जगत 'सनातन आस्थावाद' और बदलाव के साथ उभरती 'समझ' के द्वंद्व और उद्वेग से भरा हुआ है; लेकिन इस बारे में सत्ताधारी भा.ज.पा. एकदम निरुद्वेग है। वह हठीले और अपरिवर्तनीय भारत-भाव में निश्चिंत और उल्लसित है।

उन्हीं दिनों *इंडियन एक्सप्रेस* के प्रबंधन विभाग के अध्यक्ष श्री विवेक गोयनका ने 'रामनाथ गोयनका व्याख्यान-माला' की स्थापना की थी। पहले व्याख्यान के लिए डॉ. रघुराम राजन को आमंत्रित किया था। डॉ. राजन भारतीय रिज़र्व बैंक के गवर्नर थे। वे तत्कालीन सरकार के आलोचक भी थे।

डॉ. राजन को व्याख्यान के लिए निमंत्रण देते समय *इंडियन एक्सप्रेस* ने यह घोषणा की थी :

> इस अख़बार की विचारधारा के मुताबिक़ इस व्याख्यान माला का लक्ष्य बदलाव के प्रति गहरी समझ पैदा करना और उससे जुड़े मुद्दों पर बहस चलाना है।
>
> —विवेक गोयनका

इंडियन एक्सप्रेस ने इस वर्ष भारत के विदेशमंत्री श्री सुब्रह्मण्यम जयशंकर को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया था। उन्होंने कहा :

> ...अरसे से चले आ रहे विश्वासों का अब कोई मतलब नहीं। बदलती विश्व व्यवस्था में हमें उसके मुताबिक़ सोचने, बात करने और अमल करने की ज़रूरत है।
>
> ...
>
> 'अतीत को लेकर चलने से भविष्य के लिए कोई फ़ायदा नहीं होगा।'
>
> ...
>
> 'राष्ट्रीय अवधारणा के परिचय भी अब वैसे नहीं रहे। तकनीक, संपर्क और कारोबार अब नये तत्त्व हो गये हैं।...बहुध्रुववाद के कमज़ोर होने से विश्व का जनमानस विषाद में है। भारत के विकास में वास्तविक रोड़ा वैश्विक कारण नहीं, बल्कि दिल्ली की लीक पर डटे रहने की हठधर्मिता है।

---

[1]इस शीर्षक का पहला हिस्सा हिंदी के प्रख्यात आलोचक श्री विजयदेव नारायण साही के एक लेख से लिया गया है। इस शीर्षक में निहित है कि इस दायित्व में नितांत अद्यतन घटनाओं, विचारों और आंदोलनों के द्वारा बदलाव की प्रक्रिया में 'समझ' को परिभाषित किया जायेगा; इसलिए सैद्धांतिक वक्तव्यों की अपेक्षा समय में जो अभी-अभी घट रहा है उसके ब्योरों की भूमिका बढ़ जायेगी। यही कारण है कि मेरे लेख में ब्योरों की सहायता अधिक ली गयी है। इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं—लेखक

...

अर्थव्यवस्था से कूटनीति संचालित होती है। इसका उलट नहीं हो सकता।

—*जनसत्ता,* 15 नवंबर 2019

डॉ. राजन की तरह डॉ. एस. जयशंकर की धारणा में भी बदलाव के प्रति गहरी 'समझ' और उससे जुड़े मुद्दों पर बहस चलाने की *इंडियन एक्सप्रेस* की विचारधारा प्रतिबिंबित होती है।

एस. जयशंकर के अनुसार यदि विदेश नीति में चले आ रहे विश्वासों का अब कोई मतलब नहीं तो यह बात सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी कमोबेश लागू होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक क्षेत्र में तो बदलाव से 'समझ' बने और दूसरे क्षेत्रों में 'बदलाव', 'समझ' के लिए पूरी तरह अस्वीकार्य मान ली जाये। ऐसा करने से 'समझ' भोथरी ही नहीं, अवसरवादी और हिंसक भी हो सकती है।

इसलिए 'बदलाव' और 'समझ' कितनी गंभीर धारणाएं हैं, उसके महत्त्व को जानने के लिए बहस चलाना बहुत ज़रूरी है। 'अतीत' और 'वर्तमान' के बीच संघात और विच्छेद के विवेक से वह 'समझ' पैदा होती है जिसकी ओर एस. जयशंकर ने संकेत किया है। आज की ऐतिहासिक स्थिति में 'बहुलतावाद' संकट में है। दुनिया के मुक़ाबले भारत में 'बहुलतावाद' ज़्यादा संकट में है। इस संकट के बारे में कुछ विस्तार से बात करने की ज़रूरत है। गो यह 'बहस' कमज़ोर नहीं पड़ी है, उस पर लगातार बोला-लिखा जा रहा है। हां, इतना ज़रूर हुआ है कि विरोध और विद्रोह की जगह 'प्रतिरोध' शब्द का प्रयोग होने लगा है। जहां तक मेरी समझ है, 'प्रतिरोध' व्यवस्था परिवर्तन के लिए नहीं होता, चालू व्यवस्था में ही अपनी जगह बनाने-पाने के लिए होता है। यदि अंग्रेज़ी में इस शब्द का अनुवाद कर दें -- 'प्रोटेस्ट', तो समझ में आ सकता है कि 'प्रोटेस्ट' से सीमित बदलाव तो होते हैं लेकिन उससे व्यवस्था परिवर्तन नहीं होता।

आज की चालू शासन-व्यवस्था का जो गहन वैचारिक आधार है और समाज तथा संस्कृति के बारे में जो उसकी समझ है, उसका एक नमूना देना चाहता हूं। एक बहस उठायी गयी है—'द आइडिया ऑफ़ इंडिया' और 'द आइडिया ऑफ़ भारत' के बारे में। 'द आइडिया ऑफ़ इंडिया' में पश्चिम की झलक तो है ही, उसमें 'सेकुलरवाद' की भी स्वीकृति है। उसका विरोध करने के लिए 'द आइडिया ऑफ़ भारत' को प्राथमिकता दी गयी है। सुश्री ज्योति पुनवानी ने (*इंडियन एक्सप्रेस,* 10 जून 2019) लिखा है :

> दिल्ली भाजपा के इंटेलेक्चुअल सेल के संयोजक रमाकांत तिवारी की एक टिप्पणी में 'आइडिया ऑफ़ भारत' का ठीक-ठीक मतलब मिल जाता है। 'आइडिया ऑफ़ भारत सुपरसीड्स आइडिया ऑफ़ इंडिया' शीर्षक इस टिप्पणी में यह व्याख्या की गयी है कि किस प्रकार 'आइडिया ऑफ़ भारत' इस देश की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत पर टिका है जो धर्म शक्ति, गुरु-शिष्य परंपरा, माया पुनर्जन्म, संस्कृत की प्रधानता और आप्तवचनों, तीर्थ तथा कुंभ मेले द्वारा प्रतीकित होती है। तिवारी लिखते हैं कि भारत ब्रह्म द्वारा बुद्ध समेत अपने सभी अवतारों के लिए चुना गया राष्ट्र था।

भारत की यह धारणा एकांगी, संकीर्ण और अपर्याप्त है। जितने विभिन्न धर्मों और विभिन्न आदिवासी समाज परंपराओं में भारत की धारणा मूर्त होती है, उसके आधे भाग को भी यह धारणा संबोधित नहीं करती; फिर यह 'आइडिया ऑफ़ भारत' को कैसे परिभाषित कर सकती है! केवल अतीत से 'संस्कृति' को परिभाषित करना ख़तरनाक हो सकता है। स्वाधीनता आंदोलन में हिस्सा लेने वाले प्रायः भिन्न मतावलंबी भी इस धारणा को अपर्याप्त पाते रहे थे। नेहरू ने *डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया* में लिखा था (उन्होंने नीत्शे के हवाले से कहा था) :

> अतीत का उत्तराधिकारी होना ख़तरनाक हो सकता है, अतीत में अमृत और विष दोनों होता है। अतीत के उत्तराधिकारी होने का सामर्थ्य और विवेक अतीत और वर्तमान की विभिन्न शक्तियों की टकराहट के बिना नहीं हो सकता। वह अतीत या वर्तमान की स्वीकृति की 'मनोदशा' नहीं है, विवेक है।

वही विवेक अनुपस्थित है और बिना उसके हर समाज अपने विकास की दिशा खो देता है, हर भाषा अर्थ खोकर हिंसक जुमलेबाज़ी में बदल जाती है।

जुमलेबाज़ी यानी वास्तविकता का आभास देते हुए शब्दों में 'नैरेटिव' बनाया जाना। ऐसे 'नैरेटिव' बहुधा सत्ता के साथी होते हैं और अवसरवाद तथा हिंसा के लिए अपनी भूमिका निभाते हैं। वे पूरे समाज में मर्ज़ी मुताबिक़ धूर्त अर्थों के 'मसलमैन' पैदा करते हैं। थोड़ा भी तटस्थ होकर यदि आज के सर्वाधिक शक्तिशाली राजनेताओं की भाषा देखें तो अकसर उनकी भाषा के वायुमंडल में 'मसलमैन-वाक्य' टहलते हुए मिलेंगे। उनमें क्रूरता और डर की आहटें दूर तक गूंजती हुई मिलेंगी।

हम अपने सम्मानित प्रधानमंत्री जी के कुछ नैरेटिव का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि चतुर भाषा, अर्थ के भीतर भ्रम पैदा करके एक ओर भाषा के वास्तविक धर्म को अपदस्थ करती है और दूसरी ओर 'सत्ता' की ताक़त में इज़ाफ़ा करती है। इस समय का सर्वाधिक प्रचलित नैरेटिव है, 'सबका साथ सबका विकास'। लेकिन उस नैरेटिव में यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है कि उस विकास का अर्थ 'डेवलपमेंट' है या 'ग्रोथ'? मैं अर्थशास्त्र नहीं जानता। मैंने अर्थशास्त्र के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों से स्पष्टीकरण मांगा तो मुझे पता चला कि डेवलपमेंट की इकोनॉमिक्स 'सर्वसमावेशी' होती है; लेकिन ग्रोथ की इकोनॉमिक्स 'बहिष्करणपरक' होती है। यह भी बताया गया कि जैसे ग़रीबी, ग़ैरबराबरी की जो समस्या है, उसे ग्रोथ की इकोनॉमिक्स भी स्वीकार करती है, लेकिन उसका मानना है कि उसके चक्कर में पड़े तो ग्रोथ नहीं होगी। ग़रीबी और ग़ैर बराबरी के लिए उन लोगों ने कोई और थियरी, जैसे 'ट्रिकिल डाउन' की, ईजाद की है। ख़ैर...

तो हम इस नैरेटिव ('सबका साथ सबका विकास') का क्या अर्थ समझें?

इंडियन एक्सप्रेस ने जिस 'समझ' पर बल दिया है, क्या वह इस नैरेटिव से भोथरी होती है?

क्या हम कह सकते हैं कि पर्याप्त स्पष्टीकरण के बिना नैरेटिव सिर्फ़ सत्ता का साथ देते हैं, समाज और जनता का नहीं?

आदरणीय नीतीश कुमार जी ने मोदी जी के बारे में कहा कि 'मोदी जी के अलावा किसने नैरेटिव बनाया? विकास और भ्रष्टाचार का नैरेटिव तो मोदी जी ने ही बनाया!' और उसी नैरेटिव के तर्क से नीतीश जी बी.जे.पी. के साथ हो गये!

क्या नीतीश जी ने अपने संप्रदायवाद-विरोध, सेकुलरिज़्म की पक्षधरता, सामाजिक अन्याय के प्रति प्रबल विरोध-भाव से बने अपने राजनीतिक व्यक्तित्व को सत्ता के लिए गिरवी नहीं रख दिया?

क्या इसका प्रतिरोध राष्ट्र-विरोध है? राष्ट्र (सत्ता) विरोध, नया नैरेटिव है, न्यू नॉर्मल है।

इन्हीं सत्ता-विरोधी लोगों को—नैरेटिव और न्यू नार्मल के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले लोग जो अनेक प्रकार की राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय उपलब्धियों के साथ देश का नाम ऊंचा कर चुके हैं—दंडित किया जा रहा है। राष्ट्रीय परिदृश्य में इस प्रकार की घटनाएं इतनी आम हो चुकी हैं कि औपनिवेशिक काल की आहटें सुन पड़ती हैं।

यह 'सत्ता समय' घमंड और क्रूरता में इतना 'बदोत्साहित' हो चुका है कि सामान्य मानवीयता की आधारभूत प्रतिज्ञा को भी पहचान सकने की शक्ति खो बैठा है। इसका प्रतिरोध बड़े पैमाने पर और लगातार हो रहा है। इस बारे में अपनी ओर से कुछ न कहकर मैं कुछ वक्तव्यों को अत्यंत संक्षेप में उद्धृत

करना चाहता हूं। नयन तारा सहगल ने एक लेख लिखा है—'Once upon a time, a nation' (*इंडियन एक्सप्रेस*, 29 जून, 2019)। उसमें लिखी बातें अब इतनी जानी हुई हो गयी हैं कि सब कुछ दुहराव ही लगेगा, लेकिन उन जानी हुई और घटित बातों में जो 'डर' और 'क्रूरता' छिपी है, उसका अहसास बार-बार कराना होगा :

> तथ्यों की इस संपूर्ण अनुपस्थिति में सत्य पूरी तरह से ग़ायब हो गया है। लोकतंत्र अपने बचे रहने की लड़ाई लड़ता है और हारता है। अभिव्यक्ति की आज़ादी, समानता, भ्रातृत्व, मानवाधिकार जैसे चले आते मूल्यों को व्यर्थ मानकर तिलांजलि दे दी गयी है। वस्तुतः, राष्ट्र जिन चुनौतियों से रू-ब-रू है, उनसे निपटने में वे एक बाधा की तरह देखे जा रहे हैं, सत्ताधिकार और श्रेणीक्रम स्थापित हो रहे हैं।
>
> ...
>
> फ़ैंटेसी अब यथार्थ का स्थानापन्न बन रही है।
>
> ...
>
> लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और पत्रकार अपनी आज़ाद-ख़याली के लिए दंडित हो रहे हैं। चार प्रसिद्ध लेखकों को गोली से उड़ाया जा चुका है। टेलीविज़न पर हमने 'गोरक्षकों' और अन्य हथियारबंद निगरानी गिरोहों के हाथों कामगारों का उत्पीड़न और क़त्ल देखा है और यह भी देखा है कि उसके सामने पुलिस और जनता मूक दर्शक बन खड़ी रहती है। हमने इन अपराधों को उचित ठहराने वाले ऐसे तर्क सुने हैं कि इन्हें देश के दुश्मनों के ख़िलाफ़ देशभक्तों द्वारा अंजाम दिया गया है।

सागरिका घोष ने तो इस 'न्यू नॉर्मल' के लिए एक लेख (*टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, अगस्त 8, 2019) 'In Search of an Enemy' शीर्षक से लिखा है, जिसमें वे कहती हैं, 'भाजपा के 21वीं सदी के अवतार की विशेषता है, दुश्मन की अंतहीन खोज, वे दुश्मन 'एंटी-नेशनल' हों, 'अर्बन नक्सल' हों, 'अर्द्ध माओवादी' हों, या फिर बांग्लादेशी मुस्लिम आप्रवासी।'

जिन 49 लेखकों, चिंतकों और कलाकारों को सरकार ने निशाना बनाया, उसके बारे में *इंडियन एक्सप्रेस* (7 Oct. 2019) ने अपने संपादकीय का शीर्षक दिया था—'Enough is Enough.'

बी.जे.पी. के महान नेता चुनाव में जिस जीत का जश्न मनाते और जनता की राय का उद्धरण देते थकते नहीं, और इस चुनाव के बारे में अंतरराष्ट्रीय राय को सम्मानजनक बनाने का गर्व करते हैं, उस पर अमर्त्य सेन ने लिखा है :

> विजेता भाजपा के पास 23 मई के चुनावी नतीजों के बाद खुश होने का पुख़्ता आधार है। और बावजूद इसके, भाजपा नेतृत्व तथा ख़ासतौर से उसके प्रतिभाशाली एवं अतिमहत्वाकांक्षी शीर्ष नेता नरेंद्र मोदी के पास भाजपा की जीत पर आयी वैश्विक प्रतिक्रियाओं से निराश होने के कारण भी हैं। भाजपा ने जिस तरह से जीत हासिल की है, और देश के कुछ समूहों ख़ास तौर से मुस्लिमों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने का जो काम किया है, उसकी पूरी दुनिया के समाचार-माध्यमों में व्यापक आलोचना हुई है।

मैंने बी.जे.पी. के कुछ मित्रों और प्रसिद्ध माने जाने वाले पत्रकारों को अमर्त्य सेन के इन उल्लेखों की हंसी उड़ाते और अपने सर्वाधिक कुशाग्र बौद्धिक (जो नोबल लॉरिएट भी हैं) को अपशब्दों में याद करते हुए सुना है। उनकी अभिव्यक्ति में संकोच का लेशमात्र भी मैंने नहीं देखा। मेरे लिए वह सन्न रह जाने वाला दृश्य था। सेन द्वारा उद्धृत अख़बारों को बग़ैर देखे-पढ़े मेरे मित्रों ने उसे मात्र पक्षपातपूर्ण मान लिया। ख़ैर, मैं सोच रहा था, यह दूसरे विचारों को अपमानित करने में उद्दंड घमंड कहां से आया?

मुझे विवेक गोयनका द्वारा बतायी गयी उनके अख़बार की मुख्य प्रतिज्ञा—'व्याख्यान माला का मुख्य लक्ष्य बदलाव के प्रति गहरी समझ पैदा करना और उससे जुड़े मुद्दों पर बहस चलाना है'—याद आ रही है।

'बदलाव' और 'बदलाव से जुड़े मुद्दों' पर बहस चलाना प्रतिरोध है; और इस प्रतिरोध के साथ होना 'सत्ता घमंड' के विरुद्ध होना है। *इंडियन एक्स्प्रेस* के ही 22 नवंबर, 2019 के संपादकीय की अंतिम पंक्ति है, 'शाह और दूसरों के उस आवेश को अवश्य छोड़ देना चाहिए जो अपने सांप्रदायिक अधिस्वर से 'डर' और बेचैनी ही पैदा कर सकता है।'

मुझे 'डर' और 'बेचैनी' पैदा करने वाले राजनीतिक सत्ता-घमंड के मुक़ाबले उस 'सामाजिक-सांस्कृतिक समझ' से संवाद चलाना और उसका विरोध करना ज़्यादा ज़रूरी लगता है जिसमें 'बदलाव' को ग़ैरज़रूरी ही नहीं, 'अभारतीय' भी मान लिया गया है। कृपया आप श्री रमाकांत तिवारी (बी.जे.पी. के बौद्धिक सेल के सह-संयोजक) के उस महान वक्तव्य, 'द आइडिया ऑफ़ भारत', को फिर से याद करें जिसमें ब्रह्म ने भारत को राष्ट्र के रूप में चुना है। इसलिए भी चुना है कि वह इस पवित्र राष्ट्र में अवतार ग्रहण कर सके।

'बदलाव की धारणा' और 'समझ' को चिंतन की गंभीर श्रेणी न मानने पर अपनी श्रेष्ठता और पावनता का घमंड पैदा होता है। आधुनिक समय में लगभग हर विकसित और विकासशील देश में समाज, 'बहुल समाज' बन रहा है। इसी संदर्भ में बी.जे.पी. और आर.एस.एस. की 'सांस्कृतिक-सामाजिक समझ' एक ऐसी आबोहवा बना रही है जिसमें बनारस वि.वि. और जे.एन.यू. कांड घटित होते हैं। बी.जे.पी. के नेता यद्यपि उसकी भर्त्सना करते हैं, फिर भी उन घटनाओं में निहित 'डर' और 'बेचैनी' कम नहीं होती।

ऐसी स्थिति में प्रतिरोध का स्वर एक अनिवार्य नैतिक दायित्व है।

पुनश्च :

साहित्य में उस नैतिकता की धारणा को तो पहले ही अपदस्थ किया जा चुका था जो द्विवेदीयुगीन थी; और उसकी जगह 'मूल्य' की नयी अवधारणा आ गयी थी। चिंतकों ने अनुभव किया था कि व्यापक मनुष्यता के संदर्भ में 'नैतिकता' अपर्याप्त हो चुकी है, लेकिन उन्होंने नैतिकता के भीतर के मानवीय सारतत्व को नहीं तोड़ा था; किंतु मौजूदा समय में 'नैतिकता' के भीतर के मानवीय-सार को ही, सत्तासीन केंद्रीय राजनीति ने तोड़ दिया है।

अब एक बहुत ही ख़तरनाक बिंदु उपस्थित हो गया है जिसकी ओर रेमंड विलियम्स ने संकेत किया था कि संचार माध्यम ख़बर बताते ही नहीं, उससे अधिक बनाते हैं।

उसी तरह अब जनता होती नहीं, उसे बनाया जाने लगा है। बनायी हुई जनता ताक़तवर ही नहीं, बहुत ख़तरनाक भी होती है। वह गिरोहबंद होती है।

इस नयी जनता का सामना करना क्या 21वीं सदी की सर्वाधिक बड़ी चुनौती हो सकती है?

मो. : 9810435834

निरंकुशता के स्रोत, प्रतिरोध के संसाधन

रवि सिन्हा

राजनीति का आम सहजबोध यह है कि सत्ता की निरंकुशता लोकतंत्र का निषेध है। लोकतंत्र राजनीतिक सत्ता का गठन तो करता है, लेकिन उसे निरंकुश नहीं होने देता। यदि किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत निरंकुश सत्ता का उद्‌भव होता है तो उसे लोकतंत्र की दुर्बलता, उसके विकार या उसमें किसी बाहरी अलोकतांत्रिक शक्ति के हस्तक्षेप के रूप में देखा जाता है। यदि लोकतंत्र का अर्थ यह है कि सत्ता के स्रोत लोक में स्थित हैं तो यह स्वयंसिद्ध है कि लोकतांत्रिक सत्ता निरंकुश नहीं हो सकती।

इसी तरह राजनीति का सहजबोध यह भी है कि सत्ता की निरंकुशता प्रतिरोध को जन्म देती है और प्रतिरोध की जड़ें लोक में स्थित होती हैं। निरंकुशता यदि लोकतंत्र का निषेध है तो यह भी स्वयंसिद्ध है कि लोक या जन ही प्रतिरोध के मूल आधार और उसके प्रमुख संसाधन हैं। यह दूसरी मान्यता पहली के साथ जुड़ी हुई है। यदि पहली मान्यता टिकती है तो दूसरी की सत्यता भी साबित होती है। यदि पहली संदेह के घेरे में अभी है तो दूसरी के स्वयंसिद्ध होने पर भी प्रश्न खड़े होते हैं।

और, प्रश्न तो खड़े होते हैं। वास्तविकता की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह मान्यताओं की परवाह नहीं करती – बहुप्रचलित और स्वयंसिद्ध प्रतीत होने वाली मान्यताओं की भी नहीं। दूसरी तरफ़, मान्यताओं की – ख़ास तौर पर बहुप्रचलित मान्यताओं की – बनावट और उनकी ज़मीन ऐसी होती है कि वास्तविकताओं के उलट होने के बावजूद वे चलन में बनी रहती हैं। ऐसी स्थिति में पहले तो यह देखना होता है कि वास्तविकता क्या है और संबंधित मान्यताओं से उसकी संगति बैठती है या नहीं। फिर यह अलग से देखना होता है कि मान्यताएं जब ग़लत होती हैं, तब भी उनके चलते रहने के कारण कहां पर स्थित हैं। एक तरह से यह सहजबोध की जांच-पड़ताल का समय होता है। और कभी-कभी नये सहजबोध के निर्माण का समय भी होता है।

भारत की आज की हक़ीक़त यह तो है ही कि मौजूदा सरकार के अधीन राज्य और राजनीतिक सत्ता निरंकुश हो चले हैं। संवैधानिक, संस्थागत तथा लोकतांत्रिक नियमों, नियंत्रणों और परंपराओं को रौंदा जा रहा है और व्यवस्था तथा समाज, दोनों क्षेत्रों में मनमानी की जा रही है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक, आसाम से गुजरात तक, संसद से और भीमा कोरेगांव से तीस हज़ारी तक और तिहाड़ तक नंगी निरंकुशता के उदाहरण सभी के सामने हैं। लेकिन क्या सभी को यह सब दिखायी दे रहा है?

भारत की आज की हक़ीक़त का अधिक परेशान करने वाला पहलू यह है कि मौजूदा सत्ता को ही नहीं, उसकी निरंकुशता को भी काफ़ी हद तक जन-समर्थन प्राप्त है। निरंकुशता और जन-समर्थन विरोधाभासी लग सकते हैं; लेकिन आभास से वास्तविकता का निषेध नहीं हो जाता। बेशक यह समर्थन झूठ बोलकर हासिल किया जाता है। झूठ के राजनीतिक इस्तेमाल की परिघटना से अनभिज्ञ तो शायद ही कोई हो। लेकिन इसके बावजूद, झूठ का राजनीतिक इस्तेमाल व्यापक है। हिटलर के प्रचार-प्रमुख

गोयबेल्स के हवाले से यह सूक्त अकसर उद्धृत होता है कि सौ बार दुहराने से झूठ सच हो जाता है; लेकिन यह सरलीकरण है। हर झूठ को दुहराकर सच नहीं बनाया जा सकता। गोयबेल्स के सूक्त के लागू होने में लोक मानस की निर्मिति एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। फ़ासीवादियों की प्रचार रणनीति काफ़ी सोच-समझकर ऐसे झूठ चुनती है जिन्हें दुहराकर सच बनाया जा सके।

इस तर्क-शृंखला पर ग़ौर कीजिए : 'हिंदू ख़तरे में है - यह ख़तरा मुसलमान और पाकिस्तान से है - इस ख़तरे से निपटना केवल 'हिंदू राष्ट्रवाद' के लिए संभव है - अतः 'हिंदू राष्ट्रवाद' ही आज का असली और ज़रूरी राष्ट्रवाद है - राष्ट्रवाद ही आज की राजनीति का सर्वोच्च मूल्य और पवित्र सिद्धांत होना चाहिए - इस तर्क-शृंखला से असहमति राष्ट्रद्रोह है - राष्ट्रद्रोही का कोई नागरिक अधिकार या मानवाधिकार नहीं होता।'

इस तर्क-शृंखला की बनावट हिंदुत्ववादी नेताओं के दिमाग़ का स्वतंत्र उत्पाद नहीं है। इसका चुनाव सोच-समझकर किया गया है। राजनीतिक रणनीति के रूप में इसकी सफलता केवल नेतृत्व की कुशलता या चालबाज़ी की वजह से नहीं है। इसकी सफलता के पीछे लोकमानस की बनावट या कम से कम उस बनावट की कुछ तहों की प्रमुख भूमिका है। झूठ को सच बनाने की कीमियागरी में इतिहास, समाज, धर्म, जाति और पहचान के तत्त्व समूची राजनीतिक-रासायनिक क्रिया के अनिवार्य अंग बनते हैं।

मूल प्रसंग, बहरहाल, यह है कि मौजूदा सत्ता को लोकतांत्रिक वैधता हासिल है और इसकी निरंकुशता को जन-समर्थन प्राप्त है। इसे एक-दूसरे प्रकार से भी देखा जा सकता है। जन-समर्थित यह निरंकुशता उन राजनीतिक शक्तियों या व्यक्तियों को अधिक आसानी से रौंद सकती है जिन्हें जन-समर्थन उपलब्ध नहीं है या जिनके जन-समर्थन में गिरावट आयी है। विपक्ष की पार्टियों को तब आसानी से प्रताड़ित किया जा सकता है जब उनका जनाधार सिकुड़ रहा हो। उन नेताओं को ज़्यादा आसानी से जेल में डाला जा सकता है जिनकी लोकप्रियता कम हो। और उन आंदोलनों को ज़्यादा बेरहमी से कुचला जा सकता है तथा उनके कार्यकर्ताओं के नागरिक व मानव अधिकारों की बेहिचक धज्जियां उड़ायी जा सकती हैं जो आतंकवादी, हिंसक, अतिपंथी या राष्ट्रद्रोही क़रार दिये जाने के कारण राजनीतिक, सामाजिक तथा वैचारिक अलगाव में डाल दिये गये हैं। निरंकुशता के जन-समर्थन होने का ही यह दूसरा पहलू है। जिसे जन-समर्थन हासिल नहीं है, उसके प्रति आसानी से निरंकुश हुआ जा सकता है।

निरंकुशता की लोक-स्वीकार्यता और उसके लोक-समर्थन का यह भारतीय उदाहरण अप्रत्याशित नहीं है, न ही इतिहास में पहली बार ऐसा हो रहा है। समूचा आधुनिक युग – जिसमें राजनीतिक सत्ता के लोकतांत्रिक गठन की परिपाटी चली है – ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। हिटलर का उदाहरण घिस चुका है, लेकिन उसकी प्रासंगिकता ख़त्म नहीं हुई है। हिटलर भी चुनकर ही सत्ता में आया था, भले ही उसे शुरू में ही पूर्ण बहुमत न मिला हो और सत्ता पर क़ाबिज़ होने के लिए उसे जर्मनी के तत्कालीन चांसलर की अनुकंपा या मूर्खता की आवश्यकता पड़ी हो। लेकिन जल्दी ही उसने अपने आप को एक अधिनायक के रूप में स्थापित कर लिया था। अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उसके अधिनायकत्व को जर्मनी की जनता का व्यापक समर्थन हासिल होता गया। और जन-समर्थन बढ़ने के साथ हिटलर की और नात्सी शासन की निरंकुशता भी बढ़ती चली गयी। मार्क्सवादी मनोविज्ञानी और सिद्धांतकार विल्हेल्म राइख़ ने कहीं पर कहा था कि हिटलर ने जर्मनी की जनता को ठगा नहीं, जर्मनी की जनता हिटलर के लिए तैयार थी। हिटलर की पूजा तत्कालीन जर्मनी के लिए अस्वाभाविक नहीं थी।

निरंकुशता को जन-समर्थन मिलता है तो उसका दुष्प्रभाव लोकतंत्र की वैधानिक और संस्थागत संरचना पर भी पड़ता है। लोकतंत्र में जन-समर्थन को एकमात्र या अंतिम कसौटी नहीं होना चाहिए।

इतिहास और सभ्यता के लंबे दौर में जो नैतिक, राजनीतिक और मानवीय मूल्य स्थापित होते हैं, उनकी भी निर्णायक भूमिका बननी चाहिए। इसीलिए हर लोकतांत्रिक व्यवस्था को संविधान की आवश्यकता पड़ती है जिसमें ऐसे मूल्यों को दर्ज किया जाता है। संविधान की संरचना को संविधान से ही संरक्षण प्राप्त होता है। यही कारण है कि अधिक से अधिक लोकतांत्रिक होने का दावा करने वाले लोकतंत्र में भी हर मसले पर जनमत संग्रह नहीं कराया जाता। सार्वभौमिक या बुनियादी माने जाने वाले मूल्यों को संविधान अनुल्लंघ्य होने का दर्जा देता है ताकि चुनावी प्रतियोगिता आसानी से उन्हें क्षति न पहुंचा सके।

लेकिन इस प्रकार की क्षति का ख़तरा भी लोकतंत्र का अभिन्न अंग है। चुनावी प्रतियोगिता वांछनीय और अनुल्लंघनीय मूल्यों पर भी ख़तरे की स्थिति उत्पन्न करती है – ख़ासकर तब जब ऐसी प्रतियोगिता तीखी हो या व्यवस्था स्वयं संकट के दौर से गुज़र रही हो। दुनिया भर में दक्षिणपंथी पॉपुलिज़्म के उभार के पीछे व्यवस्था का संकट भी है और चुनावी प्रतियोगिता का तीखा होना भी। दक्षिणपंथी पॉपुलिज़्म फ़ासीवादी अधिनायकवाद की केंद्रीय रणनीति का हिस्सा है। ऐसे समय में लोकतंत्र के मूल्यों के साथ हिंसा लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा ही की जाती है। अच्छे क़ानूनों को कमज़ोर किया जाता है और ख़राब क़ानून बनाये जाते हैं। वैधानिक और संस्थागत ढांचों को कमज़ोर किया जाता है और उन्हें अधिकनायक की राजनीतिक परियोजना के अनुरूप तोड़ा-मरोड़ा जाता है। और इस सब कुछ को जन-समर्थन हासिल होता है। जैसा कि मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने एक बार कहा था, हिटलर ने जो कुछ भी किया, वह ग़ैरक़ानूनी नहीं था। जन-समर्थन हासिल हो तो जनता के ही विरुद्ध क़ानून बनाये जा सकते हैं। और लोकतंत्र के आधुनिक युग में ऐसे उदाहरण अनेक हैं जब जनता ने अपने ही हितों के विरुद्ध वोट दिया है। अपने आराध्य अधिनायक की निरंकुशता को जनता समर्थन ही नहीं देती, उसके लिए अपना और दूसरों का ख़ून बहाने को भी तैयार रहती है।

सत्ता की निरंकुशता की लोकस्वीकार्यता या उसके लोक-समर्थित होने के उदाहरणों का अर्थ यह क़तई नहीं लगाया जाना चाहिए कि लोक हमेशा या केवल निरंकुशता का ही समर्थन करता है। इन उदाहरणों का तात्पर्य यह है कि इतिहास में ऐसे दौर या ऐसे मौक़े भी आते हैं जब सत्ता की निरंकुशता को लोक-समर्थन भी मिलता है। इस तथ्य को रेखांकित करने का अर्थ यह नहीं कि लोक द्वारा निरंकुशता के विरोध और प्रतिरोध के उदाहरण इतिहास में नहीं हैं। बल्कि सच तो यह है कि निरंकुश सत्ता के विरुद्ध जनविद्रोह हुए हैं, जन-क्रांतियां हुई हैं। यहां बहस यह नहीं है कि जनता फ़ासीवादी अधिनायकों का समर्थन करती है या प्रगतिशीलों और क्रांतिकारियों का समर्थन करती है। यहां इस तथ्य पर उंगली रखना है कि विशेष परिस्थितियों में ही सही, जनता निरंकुश अधिनायकों का भी समर्थन कर सकती है। समझना यह है कि निरंकुशता के लोक-समर्थन की परिस्थितियां कैसे उत्पन्न होती हैं। सोचना यह है कि ऐसी लोकसमर्थित और लोकतांत्रिक निरंकुशता का प्रतिरोध कैसे किया जा सकता है। और इस प्रतिरोध को और भी बड़ी ऐतिहासिक लड़ाई का हिस्सा कैसे बनाया जा सकता है।

यदि आप किसी भी जगह पर, किसी भी सभा में, किसी भी जन-समूह को संबोधित करते हुए यह कहें कि जनता के असल मुद्दे ग़रीबी, रोज़गार, शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक प्रगति और समृद्धि इत्यादि हैं, न कि मंदिर-मस्जिद, हिंदू-मुसलमान या भारत-पाकिस्तान, तो ऐसा नहीं है कि कोई आपको ग़लत कहेगा। 'पोलिटिकली करेक्ट' होना केवल राजनीतिज्ञों को ही नहीं आता, जनता को भी आता है। सही बात जानते-समझते हुए भी जब मौक़ा आयेगा तो काफ़ी हद तक वोट हिंदू-मुसलमान और भारत-पाकिस्तान के आधार पर ही पड़ेगा, पहचानों और सामाजिक-सांस्कृतिक विभाजनों के आधार पर ही पड़ेगा। कम से कम हाल के समय में भारत की चुनावी राजनीति इसी रास्ते चली है। इसके क्या कारण हैं?

गहन चुनावी प्रतियोगिता भारतीय राजनीति में बहुत हाल की परिघटना है। आज़ादी के बाद के पहले दो दशक कांग्रेस पार्टी के वर्चस्व के दशक थे। चुनाव होते थे लेकिन गहन चुनावी प्रतियोगिता नहीं थी। उसके बाद के दो दशक कांग्रेस के उतार-चढ़ाव के, लेकिन उत्तरोत्तर उसके वर्चस्व के घटते जाने के दशक थे। गहन चुनावी प्रतियोगिता 'मंडल' और 'मंदिर' आंदोलनों के समय से शुरू होती है। 1989 से 2019 तक के तीस साल के भारतीय लोकतंत्र का ऐसा चरण कहा जा सकता है जिसमें चुनावी प्रतियोगिता ने राजनीति का व्याकरण और उसकी मूल्य-व्यवस्था बदल डाली है। 2019 के चुनावों को इस चरण की परिणति के रूप में देखा जा सकता है।

इस चरण के पूरा होने का अर्थ है कि आगे कुछ नया होगा। वह नया क्या होगा, इसकी सटीक भविष्यवाणी कर पाना असंभव है। भविष्यवाणी तभी संभव होती है जब समाज, व्यवस्था, राजनीति और सक्रिय कर्ताशक्तियों का संयुक्त गतिशास्त्र लगभग सरल रेखा वाली गति प्रस्तावित करे। ऐसा विरले ही होता है। ज़रूरी यह है कि पिछले तीस सालों में जो हुआ है, उसे ठीक से समझा जाये। वर्तमान सत्ता की निरंकुशता के स्रोत इस दौर की राजनीतिक गतिकी में ही निहित हैं और उसके प्रतिरोध की संभावनाएं और संसाधन भी इसी गतिकी में छिपी हुई हैं।

वामपंथी और बूर्जुआ उदारवादी, दोनों ही खेमों का ज़ोर इस आभासी तार्किकता पर रहा है कि भौतिक-आर्थिक मसले और वर्गहित ही राजनीति का गतिशास्त्र निर्धारित करते हैं। दोनों अपने-अपने ढंग से इसी तर्क के आधार पर अपनी चुनावी रणनीतियां बनाते रहे हैं। वामपंथ पूंजी और बाज़ार की आलोचना करता है तो बूर्जुआ उदारवाद दोनों की हिमायत करते हुए एक 'मानवीय शक्ल के पूंजीवाद' की और 'कल्याणकारी राज्य' की बात करता रहा है। एक पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना करता है तो दूसरा उसकी हिमायत करते हुए उसमें सुधार की गुंजाइश भी देखता है। दोनों खेमे एक-दूसरे का विरोध करते हैं, लेकिन उनकी तर्कपद्धति में समानता भी है। दोनों भौतिक-आर्थिक हितों को अंतिम तौर पर निर्णायक और बुनियादी मानते हैं और सांस्कृतिक-पारंपरिक पहलुओं को गौण मानते हैं।

इतिहास के बहुत लंबे दौर – शताब्दियों और सहस्राब्दियों में मापे जाने वाले दौर – के स्तरों पर यह तर्क ठीक भी है। लंबे दौर में मानव इतिहास भौतिक प्रगति के तर्क से संचालित होता तो है; लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि लंबी दूरी की यह यात्रा एक सीधी रेखा में की जाती है। इतिहास रोज़ की अपनी यात्रा एक ही दिशा में करे और यात्रा का हर क़दम भौतिक-आर्थिक प्रगति की दिशा में ही उठाये, यह ज़रूरी नहीं है। लंबे दौर का गतिशास्त्र इतिहास के लंबे दौर की यात्रा से निकलता है। लेकिन वह गतिशास्त्र रोज़ की गति का और उसकी दिशा का निर्धारण नहीं करता।

इस बात को कैसे समझा जाये कि इतिहास को गंतव्य तो पता है लेकिन वह उस तरफ़ की यात्रा सीधी रेखा में नहीं करता। किसी नशेड़ी की तरह लड़खड़ाता हुआ, इधर और उधर जाता हुआ, चलता है, हालांकि घर का पता मालूम है और अंततः घर पहुंचेगा भी। नशेड़ी को किस चीज़ का नशा है और यह नशा कब चढ़ता है और कब उतरता है?

इसे समझने का एक मोटा तरीक़ा यह है कि हाड़-मांस के समाज और उसके व्यवस्था-रूप ढांचे के फ़र्क़ को समझा जाये। व्यवस्था से तात्पर्य है, वह आर्थिक-वर्गीय ढांचा जो समाज के लंबे दौर की गतिकी का निर्धारण करता है। सामंतवाद, पूंजीवाद या समाजवाद व्यवस्थाओं के उदाहरण हैं। लेकिन व्यवस्था समाज का समग्र नहीं होती। ऐसा होता तो सारे पूंजीवादी देशों में एक ही प्रकार का समाज होता। हर व्यवस्था किसी पूर्व-प्रदत्त समाज की गोद में बैठती है। फिर वह समाज को अपने हिसाब से बदलती भी है। लेकिन समाज जैसी चीज़ को, जहां सैकड़ों और हज़ारों साल पुरानी परंपराएं और स्मृतियां जीवित

रहती हैं और सामाजिक आचार-विचार को प्रभावित करती रहती हैं, कभी भी किसी शुद्ध व्यवस्था के अनुरूप इस तरह नहीं ढाला जा सकता कि व्यवस्था और समाज में कोई अंतर ही न रह जाये। ऐसा कभी और कहीं नहीं हुआ है कि समाज का समग्र और व्यवस्था की संरचना एक रूप हो जाये और एक-दूसरे के पर्यायवाची बन जायें।

व्यवस्था का तर्क इतिहास के लंबे दौर का गतिशास्त्र तय करता है, मगर व्यवस्था जिस बाक़ी समाज की गोद में बैठती है, वह भी इतिहास की गति को प्रभावित करता है। बाक़ी समाज का प्रभाव ही इतिहास को लड़खड़ाते हुए चलने को मजबूर करता है। यह बाक़ी समाज रोज़-रोज़ की राजनीति को प्रभावित और निर्धारित करता है। यह प्रभाव लंबे दौर में व्यवस्था के तर्क को निरस्त नहीं कर सकता। लेकिन व्यवस्था के पास भी कोई ऐसा तरीक़ा नहीं है कि वह समाज को हर रोज़ केवल अपने ही तर्क के मुताबिक़ चलने को मजबूर कर सके।

अब इस संदर्भ में, दशकों के स्तर पर राजनीति पर नज़र डाली जाये। मोटे तौर पर कहें तो बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध बूर्जुआ उदारवादी ख़ेमे के वर्चस्व के अधीन शुरू हुआ। सोवियत खेमा भी था और तीसरी दुनिया के अनेक देशों पर इस खेमे का प्रभाव भी था, लेकिन न तो यह खेमा टिक सका, न इसका प्रभाव। जब पूंजीवादी दुनिया द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के पच्चीस सालों के तथाकथित 'स्वर्णिम काल' के अंत की तरफ़ पहुंची तो 1980 तक आते-आते पूंजीवाद फिर संकट में फंसने लगा। स्वाभाविक था कि इस संकट का ठीकरा बूर्जुआ उदारवाद के सिर फोड़ा गया। पूंजीवाद के संकट का स्थायी निदान किसी के पास नहीं है, लेकिन रोज़ की राजनीति का तकाज़ा है कि हर संकट के लिए किसी को ज़िम्मेदार ठहराया जाये। बूर्जुआ उदारवाद और कल्याणकारी राज्य को ज़िम्मेदार ठहराते हुए रेगन-थैचर वाले दक्षिणपंथी रूढ़िवादी दौर की शुरुआत हुई।

भारत में यह यात्रा कुछ हटकर चली, मगर चली उसी दिशा में। नेहरू काल में बूर्जुआ उदारवाद और कल्याणकारी राज्य के वर्चस्व के कारण हूबहू वही नहीं थे जो पश्चिम के उन्नत पूंजीवादी देशों में थे। यहां बूर्जुआ उदारवाद का और सोवियत खेमे का संयुक्त प्रभाव था। लेकिन संकट यहां भी खड़ा हुआ।

दक्षिणपंथी रूढ़िवादियों के उभार को पूंजीवादी व्यवस्था के संकट के प्रतिफलन के रूप में देखा जाता है। मगर इसमें व्यवस्था और बाक़ी समाज को गड्डमड्ड करने की या एक ही समझने की ग़लती की जाती है। बूर्जुआ उदारवादियों और दक्षिणपंथी रूढ़िवादियों के बीच का अंतर केवल आर्थिक नीति के क्षेत्र में ही नहीं है। उनके बीच प्रमुख मतभेद सामाजिक क्षेत्र में है और यही उनकी राजनीतिक रणनीतियों में अंतर का प्रमुख कारण है। जो लोग दक्षिणपंथ की आर्थिक-व्यवस्थागत विचारधारा मात्र पर ज़ोर देते हैं, वे उन्हें 'नव उदारवादी' कहते हैं। राज्य और बाज़ार में बाज़ार का पक्ष लेने को उदारवाद कहा जाये तो यह सही भी है। लेकिन यह परिभाषा दक्षिणपंथ की रणनीति और उसके हाल के उभार को समझने में मदद नहीं पहुंचाती; बल्कि भ्रम ही पैदा करती है।

दक्षिणपंथ के रूढ़िवाद के मुख्य अवयव व्यवस्था के तर्क में उतने नहीं हैं जितने कि बाक़ी समाज की बनावट में हैं। गहन चुनावी प्रतियोगिता जो व्यवस्था के संकट के समय में और भी तीखी हो जाती है, सामाजिक बनावट को और उसके अंदर स्थित 'फ़ॉल्ट लाइंस' को चुनावी समर का मैदान बना देती है। बाज़ारवाद के प्रति अंधश्रद्धा की तुलना में सामाजिक रूढ़िवादिता दक्षिणपंथ की अधिक प्रभावी रणनीति बनती है, जिसके सहारे वह बूर्जुआ उदारवाद के वर्चस्व को चुनौती देता है।

बाक़ी समाज की बनावट से यहां क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट कर देने की ज़रूरत है। व्यवस्था अपने शुद्ध रूप में केवल वर्ग-संरचना होती है। लेकिन समाज में अन्य सामाजिक संरचनाएं भी होती हैं –

जैसे नस्ल, जाति, जेंडर, धर्म इत्यादि। वर्ग से इतर सामुदायिक और सांप्रदायिक पहचानें समाज के सांस्कृतिक-ऐतिहासिक भूगर्भ में अनेक 'फ़ॉल्ट लाइंस' का निर्माण करती हैं और समय-समय पर इनसे 'सामाजिक भूकंप' भी पैदा होते रहते हैं।

बूर्जुआ उदारवाद व्यवस्था के क्षेत्र में पूंजीवादी है, लेकिन समाज के क्षेत्र में आधुनिकता का हिमायती है। आधुनिकता से हमारा मतलब पारंपरिक समुदायों की तुलना में व्यक्ति-रूप नागरिक की वरीयता और धर्म तथा परंपरा की तुलना में तर्क और इंसानी बराबरी की वरीयता से है। सामाजिक आधुनिक को पूंजीवाद से गड्डमड्ड करना एक ग़लती है। वामपंथ भी सामाजिक आधुनिकता का हिमायती है, भले ही वह 'पॉपुलिज़्म' की गिरफ़्त में आकर इस बारे में भ्रांतियों का शिकार हो जाता हो और किसी न किसी प्रकार की सामुदायिकता को व्यक्ति-रूप नागरिक की तुलना में प्राथमिकता देने लगता हो। बाक़ी समाज के दायरे में वामपंथ की भी रूढ़िवाद से ही प्रमुख लड़ाई बनती है। और रूढ़िवादी वर्चस्व के समय में उसे उदारवादियों के साथ सहयोग व समझौते करने पड़ सकते हैं।

बहरहाल, हमारा मौजूदा प्रसंग यह है कि एक ही व्यवस्था के हिमायती होते हुए बूर्जुआ उदारवादियों और दक्षिणपंथी रूढ़िवादियों के बीच की लड़ाई हाल के दशकों की प्रमुख राजनीतिक लड़ाई रही है। भारत में स्थिति यह है कि व्यवस्था के निस्संदेह पूंजीवादी होने के बावजूद और उसके साथ-साथ बाक़ी समाज की सामुदायिक-सांप्रदायिक 'फ़ॉल्ट लाइंस' गहरी हैं और एक-दूसरे से टकराव की स्थिति में हैं। ऐसे में उन्हें यदि चुनावी राजनीतिक मुद्दा बनाया जाये तो आर्थिक-व्यवस्थागत मसलों का महत्त्व तात्कालिक तौर पर लगभग समाप्त हो जाता है। और यदि परिस्थिति ऐसी बने कि पूंजी के संकट के कारण पूंजीवाद को एक कठोर और निरंकुश राज्य तथा शासन की आवश्यकता हो जो खुलेआम 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' को बढ़ावा दे सके और राज्य तथा जनता के ख़ज़ाने पूंजीपतियों के लिए खोल सके तो एक कारगर रणनीति यह बनती है कि बहुसंख्यक समुदाय को सांप्रदायिक पहचान के आधार पर संगठित किया जाये और उनका अंधा समर्थन हासिल किया जाये। भारतीय समाज में आधुनिकता की ज़मीन कमज़ोर है। ऐसे में यदि राजनीतिक लड़ाई को व्यवस्था के प्रश्न से हटाकर बाक़ी समाज के मैदान में उतार दिया जाये तो बूर्जुआ उदारवादियों और वामपंथियों, दोनों के लिए ही बेपनाह मुश्किलें खड़ी हो जाती हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बूर्जुआ उदारवाद व्यवस्था के मैदान में हारता है और अधिक कारणों से हारता है, जबकि दक्षिणपंथी रूढ़िवादी बाक़ी समाज के मैदान में जीतता है और सामाजिक कारणों से जीतता है। केवल व्यवस्था के आर्थिक मैदान में लड़ना होता तो न तो एक की हार इतनी व्यापक होती, न दूसरे की जीत। संकटग्रस्त पूंजी को जब निरंकुश राज्य की आवश्यकता होती है तो बूर्जुआ उदारवाद का रास्ता काम नहीं आता। दक्षिणपंथी रूढ़िवाद ही इस काम को अंजाम देने में सक्षम और मुफ़ीद है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि सत्ता की निरंकुशता की ज़रूरत भले ही संकटग्रस्त पूंजीवाद को हो, इसके स्रोत बाक़ी समाज की संरचना में ही छिपे हुए हैं।

यदि बूर्जुआ उदारवाद व्यवस्थागत कारणों से हारता है और दक्षिणपंथी रूढ़िवाद सामाजिक कारणों से जीतता है तो अभी के वामपंथ के लिए यह कहा जा सकता है कि वह दोनों ही कारणों से हारता है। व्यवस्था के मैदान में इसके हारने का कारण यह है कि पूंजीवाद के सफल और प्रभावी विकल्प का ख़ाका यह नहीं प्रस्तुत कर सका है। इसके पास अभी तक सिर्फ़ एक ही मॉडल है – बीसवीं सदी में पिछड़े देशों में और आपात्कालीन परिस्थितियों में खड़े किये गये समाजवाद का मॉडल। यह मॉडल स्वयं टूट चुका है और आज के पूंजीवाद को चुनौती दे सकने में असमर्थ है। वामपंथ को समाजवाद का एक ऐसा मॉडल प्रस्तावित करना है जो पूंजीवाद से अधिक उत्पादक और सृजनशील हो, बूर्जुआ लोकतंत्र से

अधिक लोकतांत्रिक हो, और व्यक्ति-रूप नागरिक को पूंजीवाद राज्य और तंत्र की तुलना में अधिक आज़ादी देता हो।

दूसरी तरफ़, सामाजिक-सांस्कृतिक मैदान में वामपंथ इसलिए हारता है कि वह दिग्भ्रमित रहा है और अपना सामाजिक-रणनीतिक नारा बनाने से कतराता रहा है। उसे लगता है कि ऐसे समाज में, जहां पारंपरिक-पुरातन सामाजिक संरचनाएं प्रबल हैं, आधुनिकता का नारा उसे जनता से और भी अलग-थलग कर देगा। लेकिन इससे और भी नुक़सानदेह स्थिति पैदा होती है। वामपंथ दो चबूतरों के बीच गिर पड़ता है। आधुनिकता की वकालत वह आधे मन से करता है और लोक-संस्कृति तथा लोक-परंपरा के हिमायती होने का दावा करके वह सामाजिक रूढ़िवादियों से जीत नहीं सकता। जनता रूढ़िवादियों को ही लोक परंपरा और संस्कृति के अधिक सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखती है।

आधुनिकता की ज़मीन भारतीय समाज में अभी कच्ची ज़रूर है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसे लोक-स्वीकार्यता हासिल नहीं है। रूढ़िवादियों के लिए चुनावी जीत आसान नहीं रही है। उन्हें तरह-तरह की वैचारिक कसरत करनी पड़ती है, तरह-तरह के स्वांग रचने पड़ते हैं। उनके अधिनायक को 'हिंदू हृदय सम्राट' होने के साथ-साथ 'विकास पुरुष' होने के दावे भी करने पड़ते हैं। 'सबका साथ, सबका विश्वास' इत्यादि के नारे भी लगाने पड़ते हैं। उनके लिए संविधान के साथ बड़ी छेड़छाड़ इसीलिए कठिन है कि भारतीय समाज में संविधान में दर्ज नागरिक बराबरी और मानव अधिकारों के आधुनिक मूल्यों की स्वीकार्यता बढ़ी है। हिंदुत्व के राजनीतिक वर्चस्व के बावजूद संविधान को बदल देना और उदाहरण के लिए कहें तो, *मनुस्मृति* को संविधान में स्थापित कर देना असंभव है। रूढ़िवाद को सबसे बड़ा ख़तरा तार्किकता और व्यक्ति की इंसानी बराबरी की संकल्पनाओं से है। इसीलिए वे वास्तविक बुद्धिजीवियों से घबराते हैं; जे.एन.यू. जैसे संस्थानों को तबाह कर देना चाहते हैं; दाभोलकर, पानसरे, कलबुर्गी और गौरी लंकेश जैसों की हत्याएं करवाते हैं। नेहरू का भूत उन्हें इसीलिए सताता रहता है।

भारतीय समाज के मैदान में रूढ़िवाद और आधुनिकता के बीच की लड़ाई अभी बराबर की लड़ाई तो नहीं है, लेकिन यह एकदम एकतरफ़ा और असंभव भी नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि समय सामाजिक आधुनिकता के पक्ष में है और इसी ज़मीन पर खड़े होकर दक्षिणपंथी रूढ़िवाद को परास्त किया जा सकता है। इस बात के इतना सरल और स्पष्ट होने के बावजूद बूर्जुआ उदारवादी पार्टियों से लेकर वामपंथ तक में इस बारे में भ्रम की स्थिति बनी रहती है। आप आधे रूढ़िवादी होकर रूढ़िवाद से निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ सकते। उसे सामाजिक 'फ़ॉल्ट लाइंस' का फ़ायदा उठाने से नहीं रोक सकते।

दक्षिणपंथी रूढ़िवाद की जीत सत्ता की निरंकुशता का प्रधान कारण है। इस निरंकुशता की ज़रूरत भले ही संकटग्रस्त व्यवस्था को हो, इसके स्रोत समाज की पारंपरिक-ऐतिहासिक संरचनाओं में हैं। जहां निरंकुशता के स्रोत हैं, वहीं पर उसके प्रतिरोध के संसाधन भी हैं। इसी भारतीय समाज की संरचना में आधुनिक मूल्यों के लिए भी पर्याप्त जगह बनी है। निरंकुशता के विरुद्ध राजनीतिक लड़ाई आधुनिकता के सहारे ही लड़ी जा सकती है। सामाजिक और वैचारिक आधुनिकता ही निरंकुशता के प्रतिरोध का प्रमुख संसाधन है। यह स्पष्टता सभी आधुनिकवादियों को होनी चाहिए – बूर्जुआ उदारवादियों को भी और वामपंथियों को भी। यह भी स्पष्टता होनी चाहिए कि आधुनिकता की ज़मीन उतनी कमज़ोर नहीं है जितनी आम तौर पर राजनीतिक हलक़ों में मानी जाती है। लोक और जन यदि दक्षिणपंथी-रूढ़िवादी वर्चस्व के विरुद्ध प्रतिरोध की शक्ति हैं तो इसीलिए वे आधुनिक मूल्यों को उत्तरोत्तर स्वीकार करते जा रहे हैं।

मो. : 9792673444

आततायी : चेहरा, चरित्र और चाल-6

छद्म राष्ट्रवाद

रामशरण जोशी

एक

राष्ट्रवाद पर चर्चा फ़िरोज़ ख़ान की कथा से शुरू करते हैं। राजस्थान के बगरू निवासी फ़िरोज़ ख़ान की बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में सहायक प्रोफ़ेसर के पद पर विधिवत नियुक्ति की गयी थी। लेकिन, विद्यार्थियों के एक गुट ने ख़ान से पढ़ने से इंकार कर दिया और उनके विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। उपकुलपति के निवास पर धरना दिया और 'हवन कुंड' लगा कर ख़ान की नियुक्ति के ख़िलाफ़ नारेबाज़ी की। आंदोलनकारी विद्यार्थियों की दलील थी कि एक मुस्लिम शिक्षक संस्कृत कैसे पढ़ा सकता है। वह हिंदू धर्म से अनभिज्ञ है। लेकिन, ख़ान ही नहीं उसके पिता भी संस्कृत में दीक्षित। दोनों ही संस्कृत साहित्य के विधिवत ज्ञाता हैं। फ़िरोज़ के पास संस्कृत शिक्षा-साहित्य की सभी मान्यता प्राप्त उपाधियां भी हैं। फ़िरोज़ का तर्क था कि साहित्य व भाषा का धर्म से कोई संबंध नहीं है। साहित्य की अपेक्षित अकादमीय सैद्धांतिकी से वे पूर्ण संपन्न हैं और संस्कृत के अध्यापन की आवश्यक पात्रता उनके पास है। आश्चर्य यह है कि ख़ान-विरोधी अभियान के कर्ताधर्ता हैं ब्राह्मण जाति और अन्य ऊंची जातियों के। इतना ही नहीं, आंदोलनकारी संघ परिवार की विभिन्न भुजाओं से संबंध रखते हैं। आंदोलन के सूत्रधारों ने उनके सभी तर्कों को ख़ारिज कर दिया और परिसर की सड़कों पर उतर पड़े। ऐसे कुत्सित अभियान को देखते हुए नवनियुक्त सहायक प्रोफ़ेसर फ़िरोज़ ख़ान को गहरी पीड़ा के साथ कहना पड़ा, 'जीवन भर मैंने संस्कृत का अध्ययन किया है। लेकिन आज पहली दफ़ा महसूस हो रहा है कि मैं मुसलमान हूं'। (*इंडियन एक्सप्रेस*, 19 नवंबर 2019) विरोधी वातावरण को देखते हुए ख़ान परिसर से अज्ञातवास को चले गये। इन पंक्तियों को लिखते समय तक वे अज्ञातवास में ही रहे। हैरत यह है कि संसद का शीतकालीन सत्र जारी था, प्रधानमंत्री और गृहमंत्री दोनों ही सदन में रहे। लेकिन किसी ने भी इस घटना पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। यहां तक कि समन्वयवादी हिंदुत्व का दावा करने वाले संघ सुप्रीमो भी ख़ामोश रहे! धर्म के आधार पर किसी शिक्षक को शिक्षण धर्म से वंचित करना क्या सांस्कृतिक-धार्मिक आतंकवाद नहीं कहा जायेगा? वैसे रामजन्म भूमि पर सुप्रीम कोर्ट के अनुकूल फ़ैसले को चुनावों में भुनाना भी भाजपा ने शुरू कर दिया है। इसकी शुरुआत भाजपा अध्यक्ष अमित शाह ने झारखंड के चुनावों से की और भविष्य में होनेवाले तमाम चुनावों में यह सिलसिला जारी रहने वाला है।

अतः फ़िरोज़ ख़ान की इस घटना की पृष्ठभूमि में मैं 'राष्ट्रवाद ' पर अपनी चर्चा को आगे बढ़ाता हूं। वैसे कहा जा सकता है यह किसी भी विश्वविद्यालय के परिसर की सामान्य घटना है। इसका राष्ट्रवाद से क्या संबंध? मुनासिब है ऐसे सवाल का उठना। इसी के बरक्स दूसरा सवाल भी है। यदि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में कोई हिंदू प्राध्यापक उर्दू/फ़ारसी/अरबी पढ़ाने के लिए नियुक्त होता और उसका भी इसी प्रकार से विरोध किया जाता और मुस्लिम विद्यार्थी पढ़ने से इंकार कर देते तो तथाकथित पूरा

हिंदुत्व समाज मुस्लिम विश्वविद्यालय पर हमला बोल देता। केंद्र और राज्य, दोनों ही सरकारें उस पर टूट पड़तीं; पाकिस्तान समर्थक और राष्ट्रविरोधी शक्तियों की सक्रियता के आरोप जड़ दिये जाते! इन पक्तियों के लिखे जाने तक केंद्र, राज्य और हिंदुत्व नेतृत्व वर्ग की ख़ामोशी जहां विवेकशील भारतीयों को आश्चर्य चकित करने वाली है, वहीं यह विखंडित व सजावटी राष्ट्रवाद की पोल खोलने वाली भी है। देश के संविधान के प्रथम पृष्ठ पर मौजूद संकल्पना में साफ़ शब्दों में घोषणा की गयी है, 'हम, भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को : सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए...' संपर्पित हैं। संविधान के इन आधारभूत उद्देश्यों के भारतीय राष्ट्र राज्य के नागरिकों की बहुलतावादी-सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय राष्ट्रवाद की अवधारणा मूर्तरूप लेती है। संविधान प्रारूप समिति के सूत्रधार डॉ. भीमराव आंबेडकर यानी बाबा साहब ने संविधान की निर्माण-प्रक्रिया में भारतीय समाज की बहुरंगी संरचना, उसमें निहित बहुश्रेणी, बहुस्तरीय जाति व्यवस्था और अन्य सीमांत समाजों (आदिवासी आदि) का भी ध्यान रखा। संविधान में उत्तरोत्तर राजनीतिक शासकों व नागरिक प्रशासकों से अनिवार्य अपेक्षा की गयी कि वे भारतीय संविधान के लक्ष्यों को मूर्तरूप देने के लिए राजसत्ता के सभी अंगों को समर्पित कर देंगे। संविधान में व्यवस्थित देश के संघीय ढांचे का ईमानदारी से पालन किया जायेगा; उल्लिखित तीन संघीय सूचियों–केंद्र, राज्य और संयुक्त, का शब्द-भावना से पालन किया जायेगा। लेकिन, गत अर्धदशक के अनुभव दूसरी ही कहानी को बयां करते हैं। यह सर्वविदित है कि भाजपा के नेतृत्व में केंद्र सरकार, ग़ैर-भाजपा राज्य सरकारों के साथ अधिनायकवादी व्यवहार करती आ रही है जिसकी ताज़ा मिसाल है, 'नेशनल रजिस्टर ऑफ़ सिटीजन्स'। प्रयोग के रूप में मुस्लिम घुसपैठियों के नाम पर एनआरसी को असम में पहले आज़माया गया, और अब गृहमंत्री अमित शाह इसे पूरे देश में लागू करने के तैयारी कर रहे हैं। ज़ाहिर है, देश के अल्पसंख्यकों को भयभीत रखने का यह अचूक हथियार है। इसका विरोध कई ग़ैर भाजपाई मुख्यमंत्री भी कर चुके हैं। सबसे अधिक मुखर हैं पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री। देश की एक बहुत बड़ी जनसंख्या को राष्ट्रवाद से बहिष्कृत या दोयम दर्जे का नागरिक बनाना चाहती है यह सरकार। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और उसके दृश्य-अदृश्य उपांगों का मूल मक़सद यही है। इसी कड़ी में महात्मा गांधी के हत्यारे नाथूराम गोडसे की पूजा व 'हीरो' के रूप में देखने की घटना को समझा जाना चाहिए; संसद सत्र के दौरान ही भाजपा की अति विवादित सांसद प्रज्ञा ठाकुर को रक्षा मंत्रालय की महत्त्वपूर्ण संसदीय समिति का सदस्य बनाया गया। भोपाल से निर्वाचित यह वही सांसद हैं जिन्होंने चुनाव प्रचार के दौरान गोडसे की इतनी प्रशंसा की थी कि प्रधानमंत्री मोदी को भी कहना पड़ा कि 'वे प्रज्ञा ठाकुर को दिल से कभी माफ़ नहीं करेंगे'। यह अलग बात है सांसद ने चलताऊ माफ़ी मांग ली थी, लेकिन सब लोग जानते हैं कि मोदी के बिना सरकार में कहीं भी पत्ता तक नहीं हिलता, तो उनकी सहमति के बग़ैर प्रज्ञा ठाकुर को इतनी महत्त्वपूर्ण समिति का सदस्य बनाया जा सकता था? याद रहे, ये वही सांसद हैं जिन पर महाराष्ट्र के मालेगांव विस्फोट के केस की तलवार लटकी हुई है। स्वास्थ्य-कारणों के आधार पर वे अभी ज़मानत पर हैं। फिर भी उन्हें संसदीय रक्षा समिति का सदस्य बना दिया गया! यहां यह भी याद दिलाना ज़रूरी है कि सेना में घुसपैठ के आरोप में कतिपय सैनिक अधिकारी पकड़े भी गये थे। इसकी जांच आतंकविरोधी दस्ता (एटीएस) के प्रमुख अधिकारी हेमंत करकड़े कर रहे थे। लेकिन, 2008 में मुंबई के ताज होटल पर पाक आतंकी हमले के दौरान जब करकड़े मारे गये थे तब इसी सांसद ने कहा था कि करकड़े को मेरा शाप लग गया है। इसे कहते हैं ताज़ातरीन

'राष्ट्रवाद'।

2014 में जब से केंद्र में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विस्तारित सियासी भुजा उर्फ़ भारतीय जनता पार्टी की मोदी-सरकार सत्तारूढ़ हुई है तब से राष्ट्रवाद पर नये सिरे से बहस चल रही है। संघ परिवार की सभी भुजाएं (राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, बौद्धिक, सामरिक, शैक्षणिक, धार्मिक, मीडिया और अन्य नानारूपी स्वयंसेवी संस्थाएं) राष्ट्र को यह समझाने पर तुली हुई हैं कि हिंदुत्व ब्रांड राष्ट्रवाद ही असली भारतीय राष्ट्रवाद है। दूसरे अर्थों में, पिछले दो सौ सालों में देश में चले स्वतंत्रता आंदोलन हवा में चले थे, और देश को अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से मुक्ति दिलाने के पीछे कोई राष्ट्रीय भावना नहीं थी! क्या 1857 का स्वतंत्रता संग्राम और 20वीं सदी के आंदोलनों के पीछे कोई शक्ति नहीं रही? तिरका मांझी, बिरसा मुंडा, भूमकाल के नेता गुंडाधुर, तेभागा आंदोलन, असहयोग आंदोलन, सिविल नाफ़रमानी आंदोलन, चंपारण किसान आंदोलन, स्वामी सहजानंद का किसान संघर्ष, राजस्थान के भील संघर्ष, तेलंगाना आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन, मुंबई का नेवी विद्रोह जैसे प्रतिरोधी संघर्षों की पृष्ठभूमि में कौन सी प्रेरक शक्तियां सक्रिय रहीं थीं? रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़ उल्लाह, भगतसिंह, चंद्रशेखर, बटुकेश्वर दत्त, सुखदेव जैसे स्वातंत्र्य वीर किस ज़ज्बे का प्रतिनिधित्व करते रहे? तब ये छद्म राष्ट्रवाद की हांक लगाने वाले संघी वीर कहां छिपे थे?

वास्तव में संघ परिवार 'अपराध बोध' से ग्रस्त-त्रस्त है क्योंकि बीती सदी में चलने वाले आज़ादी के आंदोलनों में उसका रोल सिफ़र रहा है। 1925 में जन्म से लेकर 15 अगस्त 1947 तक यह मूक दर्शक बना रहा, किनारे पर रहा और हिंदू संस्कृति या खोखले सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की दुहाई देता रहा! इस 'अपराध बोध' से उभरने या पिंड छुड़ाने का एक रास्ता संघ को नज़र आता है और वह है देश में राष्ट्रवाद का नया 'नैरेटिव' गढ़ा जाये और प्रसारित-प्रचारित किया जाये। राष्ट्रवाद के नये-नये रूपक, प्रतीक, उपमाएं, कथाएं यानी ताज़ातरीन 'आइकॉन' का निर्माण किया जाये। अब तक चली राष्ट्रवाद की विभिन्न धाराओं को 'छद्म' चित्रित किया जाये। चूंकि यह दौर 'पोस्ट ट्रुथ पॉलिटिक्स और पोस्ट ट्रुथ मीडिया' का है, सो इसके सहारे संघ ब्रांड राष्ट्रवाद को सुविधापूर्वक खपाया जा सकता है। अवसरानुकूल 'सत्य का असत्य और असत्य का सत्य में रूपांतरण' एक ऐसी टेक्निक है जो 'छद्म व भ्रम' का मायाजाल त्वरित रच डालती है। इसका शिकार. जनमानस आसानी हो जाता है। इसकी केमिस्ट्री में धर्म, संस्कृति, मध्ययुगीनता, जाति वर्चस्व, युद्धोन्माद, सैन्य उपासना, भावनात्मक उत्पात (लव जिहाद, गोरक्षा, मॉब लिंचिंग आदि) जैसे तत्व महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके मिश्रण से हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद के आख्यान का निर्माण किया जाता है। भावना उत्प्रेरित तत्वों से प्रायोजित इस मिथ्या राष्ट्रवाद के अभियान की सफलता के लिए यह भी ज़रूरी है कि विरोधी पक्ष की तमाम उपलब्धियों और नायकों को प्रचार व राज्य शक्ति के माध्यम से ध्वस्त कर दिया जाये। किसी भी देश में अधिनायकवाद की वैधानिक स्थापना के लिए चरम राष्ट्रवाद का आख्यान और असहमति व परपक्ष के प्रति घृणा के वातावरण का निर्माण बुनियादी शर्तें होती हैं। जनमत को अनुकूलित करने के लिए यह वातावरण सहायक होता है। पूर्व निर्धारित दिशा में लोकतंत्र को हांक दिया जाता है। जीवन से जुड़े बुनियादी मुद्दे (निर्धनता, महंगाई, मानवाधिकार, भ्रष्टाचार, असहिष्णुता, सांप्रदायिकता, शिशु मृत्यु, किसान-आत्महत्या, जल-जंगल-ज़मीन, कृषि संकट, बैंक घोटाले आदि) पृष्ठभूमि में धकेल दिये जाते हैं. इसीलिए भारत में 2014 से इसी छद्म राष्ट्रवाद का बवंडर छाया हुआ है।

सवाल यह भी है कि 1947 से मई 2014 के बीच देश में कौन सा राष्ट्रवाद था? क्या भारत की जनता ग़ैर-राष्ट्रवादी रही? यदि ऐसा है तो 1947 में कश्मीर में पाकिस्तानी कबाइलियों, 1965,1971

और 1999 में पाकिस्तान के ख़िलाफ़ भारत की जीत को कैसे निरूपित किया जायेगा? क्या उन जीतों में राष्ट्र, राष्ट्रवाद और देशभक्ति का अक्स नहीं था? क्या 1962 में चीन के साथ युद्ध में सैनिकों में राष्ट्रवाद का ज़ज्बा सूख गया था? राष्ट्रवाद की भावना की अनुपस्थिति में किसी भी राष्ट्र का नवनिर्माण संभव नहीं है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारतीय राष्ट्र राज्य ने 1947 से कोई तरक़्क़ी ही नहीं की है; क्या अंतरिक्ष विज्ञान पांच सालों की देन है? क्या पांच वर्ष की अवधि में भारत या किसी भी देश को परमाणु संपन्न राष्ट्र बनाया जा सकता है? क्या संचार क्रांति पांच वर्षों की देन है; क्या आइ.आइ.टी. जैसी शिक्षण संस्थाएं चंद वर्षों में बनती हैं? क्या अर्जुन सागर बांध, टेहरी बांध, भाखड़ा नंगल, भिलाई स्टील प्लांट, राऊरकेला प्लांट जैसे 'आधुनिक मंदिर' पिछले पांच सालों में बने हैं? और क्या संसदीय लोकतंत्र इसी दौरान पैदा हुआ है? राष्ट्रवाद से जुड़े हुए हैं ये तमाम सवाल।

दो

राष्ट्रवाद पर चर्चा शुरू की थी प्रोफ़ेसर फ़िरोज़ ख़ान की हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में नियुक्ति से। इस कथा का रोचक पक्ष यह है कि इसके प्रमुख पात्र ब्राह्मण वर्ग से हैं। ख़ान विरोधी अभियान में चंद सवर्ण, और उसमें भी ब्राह्मण विद्यार्थियों की सक्रियता यह दर्शाती है कि देश में किस प्रकार के वातावरण का निर्माण सत्तारूढ़ शक्तियां करना चाहती हैं। बारीक़ी से देखें तो राष्ट्रवाद पर 2014 से निर्मित नरेटिव में सवर्ण जातियों की अंतर्निहित 'बैकलैश' की धाराएं प्रवाहित हो रही हैं. ये जातियां फिर से 'रिअसेर्ट' कर रही हैं। समाज, संस्कृति, राजनीति के क्षेत्र में इनका वर्चस्व और प्रभुत्व जो मंद पड़ने लगे थे , उन्हें फिर से स्थापित करने के लिए यह वर्ग आक्रामक होने लगा हैय प्रधानमंत्री कार्यालय में इसी जाति का प्रभुत्व है। इसके लिए इस जाति समूह ने पिछड़ों को भी अपने साथ लिया है क्योंकि 1989 के बाद मंडल आंदोलन व सामाजिक न्याय की लड़ाई के बाद पिछड़ों की अस्मिता-राजनीति का देश में प्रभावशाली वृत्त अस्तित्व में आ चुका है। अब इस वृत्त-शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। इसलिए सवर्ण और पिछड़ा वर्ग के समीकरण से संघ मार्का नक़ली राष्ट्रवाद का नया नरेटिव तैयार किया गया जिसे बड़ी चतुराई के साथ भारतीय राष्ट्रवाद में मिश्रित कर दिया गया है। लेकिन, इसका नेतृत्व सवर्ण समुदाय के ही हाथों में है। जब राष्ट्रवाद में जाति, धर्म और संस्कृति मिल जाते हैं तब इसका चरित्र व व्यवहार विशिष्ट बन जाते हैं। यह बहिष्कारवादी-अलगाववादी-विखंडनवादी बन जाता है। यह समावेशी, समदर्शी और बहुलतावादी नहीं रह जाता है. बीती सदी के तीसरे दशक के हिटलर के जर्मनी में इसी चरम राष्ट्रवाद का तांडव हुआ था। यह सही है उसमें नस्ल या प्रजाति (रेस) ने प्रमुख भूमिका निभायी थी। भारत में यही भूमिका जाति (कास्ट) निभा रही है और जातिगत वर्चस्वता स्थापित करने के लिए राष्ट्रवाद को अपना शस्त्र बना रही है। राष्ट्रवाद और बहुसंख्यकवाद परस्पर पर्याय बन चुके हैं और 'साझा संस्कृति' को विनष्ट करके विषैली 'अलगाववादी संस्कृति' फैलायी जा रही है। इसके लिए मुस्लिम समुदाय और दलित जातियों को हमलों का निशाना बनाया जा रहा है। इसका मूल मक़सद है बहुसंख्यकवाद और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को निर्णायक ढंग से स्थापित करना। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद संघ का पुराना एजेंडा है जिस पर वह शुरू से चल रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या कल्चरल नॅशनलिज़्म में 'हम' को स्थान है, 'वे' को नहीं। यदि उन्हें देश में स्पेस चाहिए तो 'हम' के दायरे में आना होगा। इसका सीधा अर्थ है 'हिंदू राष्ट्र'। हिंदू राष्ट्र की आधारभूत संरचना को जानने के लिए गोलवलकर के नाम से प्रसिद्ध एम.एस. गोलवलकर की बहुविवादित पुस्तक, *बंच ऑफ़ थॉट्स* को पढ़ना पर्याप्त होगा। 1966

में प्रकाशित पुस्तक के संस्करण में गोलवलकर ने हिंदू भारत, हिंदू राष्ट्रवाद और भारत के आंतरिक दुश्मनों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जहां मुसलमानों को भारत का दुश्मन बताया गया है, वहीं साम्यवादियों को भी। इस मामले में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम-ईसाई साम्यवादियों का भेद नहीं किया है। लोकतंत्र और साम्यवाद, दोनों को प्रतिक्रिया का परिणाम माना है। गोलवलकर 'एकात्मक राज्य' (यूनिटरी स्टेट) के पक्षधर हैं। इसमें संघीय ढांचा (फ़ेडरल स्ट्रक्चर) को वांछित स्थान नहीं है। संघी विचारक की यह नीति साफ़ तौर पर भारतीय संविधानविरोधी और इसीलिए राष्ट्रविरोधी भी है। इसीलिए, मोदी-सरकार पर फ़ेडरल विरोधी और अधिनायकवादी होने के आरोप लगाये जा रहे हैं। सावरकर की पुस्तक, *हिंदुत्व* को गोलवलकर ने सुंदर पुस्तक बतलाया है, हालांकि गोलवलकर की यह पुस्तक केंद्र में नहीं है, फ़िलहाल पृष्ठभूमि में है।

अभी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और भाजपा सरकार ने इससे दूरी बना रखी है। इसकी कई बातों से किनारा किया हुआ है। लेकिन, 2014-2019 की अवधि में मोदी-सरकार की शासन शैली का बारीक़ी से विश्लेषण करें तो पुस्तक की मूलभावना और उभरते संदेश स्वतः उसमें लक्षित दिखायी देंगे; क्या हिंदुत्व का नारा नहीं उछाला गया? सावरकर और गोड्से को स्थापित नहीं किया जा रहा है? क्या हिंदू राष्ट्र की मांग नहीं उठायी जा रही है? क्या छद्म धर्मनिरपेक्षता का नारा नहीं उछाला जा रहा है? क्या देश में मुस्लिम विरोधी और ध्रुवीकरण का माहौल नहीं बन रहा है? क्या कम्युनिस्टों को देशविरोधी नहीं बताया जा रहा है? आज सरकार विरोधी होने का अर्थ है पाक समर्थक व राष्ट्र विरोधी होना। क्या राष्ट्रवाद को रामजन्म भूमि मंदिर से नहीं जोड़ा गया? क्या समान आचारसंहिता व तीन तलाक़ का मुद्दा नहीं उछाला गया?

देखा जाये तो इस नवोदित छद्म राष्ट्रवाद में मूलतः उत्तरभारतीयता के स्वर प्रमुखता से गूंजते हैं। वैसे तो गोलवलकर ने अपनी पुस्तक में सात प्रकार की सांप्रदायिकता को गिनाया है जिसमें उन्होंने प्रांतवाद, विभिन्न भाषाभाषी, स्पृश्यता-अस्पृश्यता, ब्राह्मण-ग़ैरब्राह्मण, नव बौद्ध, सिख, द्रविड़ कजगम-द्रविड़ मुन्नेत्र कजगम जैसे आर्थिक व सामाजिक न्याय के सवालों को भी सांप्रदायिकता की श्रेणी में रखा है क्योंकि ऐसे सवाल एक बृहतर अखंड हिंदू भारत के निर्माण में बाधक हैं। इस दृष्टि से सामाजिक न्याय की लड़ाई और स्त्री-पुरुष बराबरी की मांग भी किसी-न-किसी रूप में बाधक है।

इस स्थल पर मुझे 'नेटफ़्लिक्स' में चल रहा धारावाहिक याद आ रहा है। इस धारावाहिक का नाम है—*लैला*. इसमें फंतासी के माध्यम से 'आर्यावर्त' देश की कल्पना की गयी है जिसमें विधर्मी से विवाह और बराबरी के अधिकार का मुद्दा उठाया गया है और सभी नागरिकों से आर्यावर्त के आचार-विचार-धर्म को अपनाने के लिए विवश किया जाता है। जिनकी असहमति या विरोध है उन्हें यातनाएं दी जाती हैं। इसका एक रूप मॉब लिंचिंग व लव जिहाद में देखा जा सकता है। दक्षिण भारत, विशेष रूप से तमिलनाडु, केरल, आंध्रराज्य और तेलंगाना में राष्ट्रवाद का शोर उतना सुनायी नहीं देगा जितना उत्तर भारत के राज्यों में होता है। तुलनात्मक दृष्टि से उत्तर-पूर्व भारत में भी इसकी सघनता कम है।

वास्तव में अखिल भारतीय राष्ट्रवाद की संरचना में उपराष्ट्रवाद की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता; क्या नागालैंड की समस्या का हल निकाला जा सका? अनुच्छेद 370 के कुछ अंशों की समाप्ति के बावजूद कश्मीर समस्या का स्थाई समाधान अब भी त्रिशंकु है; राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर नये संकट का आगाज़ है। इससे भारतीय राष्ट्रवाद मज़बूत होगा, इसमें संशय है। समाज के एक हिस्से की इसके साथ भावनात्मक सहमति हो सकती है, लेकिन यह तर्कयुक्त नहीं। यह अमानवीय क़दम नये सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक संकटों को जन्म देगा। सच्चाई तो यह है कि राष्ट्रवाद व देशभक्ति को उत्तर भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जाता है। आख़िर, ऐसा क्यों है?

यदि संघ परिवार का राष्ट्रवाद का वर्तमान नैरेटिव सर्वसमावेशी और बहुलतावादी रहता तो इसकी आज विभाजित तस्वीर नहीं बनती। चूंकि इसकी नींव ही विखंडन-विभाजन पर टिकी हुई है इसलिए तस्वीर के फ्रेम को दोष नहीं दिया जा सकता। जब उत्तर-2014 का सत्तारूढ़ राजनीतिक प्रतिष्ठान पूर्व-2014 के राजनीतिक प्रतिष्ठान को 'छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाता है तब सवाल उठता है कि आख़िर ऐसा क्यों है? किस आधार पर संघ परिवार और उसकी परजीवी संस्थाएं नेहरू से लेकर मनमोहन सिंह के शासन को छद्म धर्मनिरपेक्षवादी नाम से पुकारती हैं? छद्म धर्मनिरपेक्षता की ओट से ही उनके राष्ट्रवाद को ख़ारिज कर वे सब अपना राष्ट्रवाद देश पर लादने की कोशिश करते हैं। सारांश में, राष्ट्रवाद एक विभक्त व्यक्तित्व है : उनका 'नक़ली राष्ट्रवाद' और हमारा 'जेनुइन राष्ट्रवाद'! इस धारणा के लिए उत्तर नेहरूकालीन सत्ता प्रतिष्ठान भी कम ज़िम्मेदार नहीं है क्योंकि इसने धर्मनिरपेक्षता के प्रोजेक्ट को निरंतर संपोषित करने की रणनीति नहीं अपनायी। कोई वैचारिक संघर्ष नहीं चलाया। वह बीच बीच में 'सॉफ़्ट हिंदुत्व' का सहारा लेता रहा है। 1980 का इंदिरा शासन सॉफ़्ट हिंदुत्व पर चला। राजीव शासन ने अयोध्या में बाबरी मस्जिद का ताला खुलवाया; मूर्तियों को विधिवत पूजा गया; नरसिंह राव-सरकार के दौरान 1992 में पुनरुत्थानवादियों ने मस्जिद गिरा दी; मनमोहन सिंह-सरकार ने भी इस समस्या को लटकाये रखा और सॉफ़्ट हिंदुत्व का चोला ओढ़े रखा। ज़ाहिर है, इसका भरपूर लाभ कट्टर दक्षिणपंथी ताक़तों ने उठाया। सॉफ़्ट हिंदुत्व के माध्यम से भाजपा का प्रतिस्थापन करना चाहती थी कांग्रेस। इस कवायद में वह बुरी तरह पिटी। इसके साथ ही डेढ़ सदी से चला आ रहा 'समावेशी राष्ट्रवाद' भी हाशिये पर खिसक गया और अब भाजपा के राज में 'एकलवादी राष्ट्रवाद' केंद्रस्थ होता दिखायी दे रहा है। भारत के बहुलतावादी, सर्वजन हितायवादी, सर्वजन सुखायवादी राष्ट्रवाद को धर्म और तथाकथित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के खंभों पर लटका दिया गया है। इसे एक कमोडिटी में रूपांतरित कर दिया गया है। यदि संघ परिवार का 'टैग' आप पर चिपका हुआ नहीं है तो आप राष्ट्रवादी नहीं हैं। देशभक्त नहीं हैं। इस टैग की ओट में आप कुछ भी कर सकते हैं। इसके कुछ लक्षण अपनाने होंगे; महाराणा प्रताप-शिवाजी-सावरकर को महानायक मानना होगा; अखंड भारत का नारा लगाना होगा; राम-रामराज्य, हिंदुत्व, राष्ट्रवाद की बात करनी होगी, 'जयश्री राम' से अभिवादन होना चाहिए! पाकिस्तान दुश्मन नंबर एक होना चाहिए! होठों पर सैन्यभक्ति और आतंकवाद का ख़तरा होना चाहिए; रामजन्मभूमि मंदिर निर्माण का आलाप लेते रहना चाहिए। संक्षेप में, आप कितने 'लाक्षणिक राष्ट्रवादी' हैं, यह दर्शाना महत्त्वपूर्ण है। आप कितने जेनुइन राष्ट्रवादी हैं, इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए। इस राष्ट्रवाद को कारपोरेट जगत का संरक्षण प्राप्त है। आप लाक्षणिक राष्ट्रवादी के चोले में रह कर देश की दौलत लेकर राष्ट्र से चंपत हो सकते हैं, करोड़ों की कर चोरी कर सकते हैं, बैंकों का अरबों रुपया डकार कर अपना दीवाला पीट सकते हैं, निर्वाचित लोगों की ख़रीद-फरोख़्त कर अपनी सरकार बनवा सकते हैं और जहां चाहें वहां दंगे भी करवा सकते हैं। 'फ़ेक न्यूज़' के माध्यम से कुछ भी मायाजाल रच सकते हैं। राष्ट्रवाद के मॉल में ये लक्षण सजे हुए मिलेंगे। इस समय सबसे अधिक मांग है राम, रामराज्य और राष्ट्रवाद की। सुप्रीम कोर्ट को चाहिए था कि अयोध्या विवाद पर अपना फ़ैसला सुनाते समय यह भी आदेश दे देता कि किसी भी राजनीतिक उद्देश्य और चुनावों में इस फ़ैसले का इस्तेमाल नहीं होगा। लेकिन, आला अदालत ने ऐसा नहीं किया। नतीजतन अमित शाह ने इसका इस्तेमाल झारखंड के चुनावों से शुरू कर दिया। ज़ाहिर है, अगले वर्ष दिल्ली, बिहार और दीगर राज्यों में होने वाले चुनावों में भी सत्तारूढ़ दल थोक के भाव इसका इस्तेमाल करेगा क्योंकि राम, राम राज्य, राष्ट्रवाद को परस्पर पर्याय के रूप में जनमानस के सामने परोसा जा रहा है, विशेषरूप से चुनाव व जंग के मौसम में।

छद्म राष्ट्रवाद के ध्वजावाहकों समझ लेना चाहिए कि किसी समय एक राष्ट्र व एक राष्ट्रवाद के निर्माण के लिए धर्म अपरिहार्य तत्व माना गया था; लेकिन, पिछले सात-आठ दशकों से इसे ज़रूरी नहीं माना जाता है। उदाहरण के लिए, भारत का विभाजन एकल धर्म-एकल संस्कृति के नाम पर हुआ था लेकिन 1971 में इस नारे पर बने पाकिस्तान का विभाजन हो गया और बांग्लादेश अस्तित्व में आ गया। ईरान व इराक़ दोनों ही शिया राष्ट्र हैं लेकिन एक दशक तक लड़ते रहे हैं। अफ़गानिस्तान सुन्नीप्रधान देश है, लेकिन पिछले चार दशकों से अशांत है और गृहयुद्ध में धंसा हुआ है। इसी तरह दक्षिण यूरोप के स्पेन राष्ट्र में भी ईसाई धर्म है लेकिन इसके एक भाग–कटैलान में विभाजन व स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चल रहा है. कुछ समय पहले यही हालत कनाडा की रह चुकी है, जहां फ्रेंचभाषी क्षेत्र अंग्रेज़ीभाषी मुख्य कनाडा से आज़ाद होना चाहता है। हालांकि, कैथोलिक चर्च के मतावलंबी दोनों जगह हैं। इसलिए राष्ट्रवाद के परंपरागत समीकरण बदल चुके हैं। इसकी केमिस्ट्री में नये रसायन शामिल हो चुके हैं और वे हैं : पहचान, अस्मिता, एथनिक समानता, नीति निर्णय में समान साझेदारी, राष्ट्रीय राजस्व में समान हिस्सेदारी, सांस्कृतिक-भाषाई वैविध्य को मान्यता, विविधापूर्ण जीवन शैलियों को राष्ट्रीय मान्यता, समान सार्विक विकास की कसौटियां, लैंगिक समानता, मानवाधिकार का पालन, आत्मनिर्णय के अधिकार की रक्षा आदि। आदिवासी समाज भी हिंदू धर्म व समाज का हिस्सा बन जाये, इसीलिए आर एस एस ने जसपुर ज़िले(छत्तीसगढ़) में 'वनवासी कल्याण आश्रम' के नेतृत्व में सालों से 'घर वापसी' का अभियान चला रखा है। कितने आदिवासी सवर्णवादी हिंदूसमाज का हिस्सा बन सके? क्या वजह है कि उत्तर-पूर्व के बहुसंख्यक आदिवासी (नागालैंड, मिज़ोरम, मेघालय आदि) हिंदू समाज को स्वीकार नहीं कर सके हैं। हिंदुत्व तो बहुत दूर की बात है, मेरा निजी अवलोकन है कि बस्तर के दंतेवाड़ा ज़िले में आदिवासियों पर हिंदू धर्म का वर्चस्व थोपने की कोशिश की गयी है। ज़िले के भीतरी अंचलों में महाराणा प्रताप व चेतक की मूर्तियों को स्थापित किया गया है। आदिवासियों की देवी 'दंतेश्वरी देवी' के मंदिर के ठीक सामने 'हनुमान' की विशाल आदमक़द मूर्ति खड़ी की गयी है। यह सब भाजपा के 15 साल के शासन में हुआ है। इससे तो संघमार्का राष्ट्रवाद के प्रति अविश्वास ही बढ़ेगा क्योंकि इसमें आदिवासियों की संवेदनाएं (सेंसिबिलिटीज़) नितांत उपेक्षित हैं।

संघ और भाजपा की यह चिंता नहीं है कि समाज के सीमांत समुदाय (दलित, आदिवासी, ग्रामीण, स्त्रियां आदि) के बोध संसार में राष्ट्रवाद कितना रचा-बसा है? इनके लिए राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणा क्या है? इसे समझने की ज़हमत नहीं उठाते हैं ये लोग। हिंदुत्ववादी मूलतः सर्व वर्चस्ववादी हैं; वैसे तो तथाकथित राष्ट्रवादी शक्तियां हर समय 'वसुधैव कुटुंबकम्' का राग अलापती थकती नहीं हैं; लेकिन जब देश के वसुधैव यथार्थ पर नज़र पड़ती है तो यह अभिजात वर्गीय कुटुंब प्रतीत होता है। वंचित-शोषित-बहिष्कृत वर्ग हाशिये से चिपके नज़र आते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि राष्ट्रवाद 'सर्वजन-बहुजन हिताय-सुखाय' बने।

मो. 9810525019

अंधेर नगरी का संविधान

असग़र वजाहत

(हिंदी साहित्य के पितामह भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक, *अंधेर नगरी* की प्रेरणा से यह नुक्कड़ नाटक मैंने लगभग पंद्रह साल पहले लिखा था जो किसी कारण प्रकाशित होने से रह गया था—अ.व.)

पात्र

रापलाम
सिपाही-1
सिपाही-2
न्यायाधीश

(मंच पर अंधेर नगरी के एक बड़े और भव्य होटल का गेट है। दरबान पहरा दे रहा है। एक फटेहाल बेरोज़गार और पढ़ा-लिखा नौजवान रापलाम घुसने की ताक में इधर-उधर टहल रहा है। दरबान उसे देख रहा है। दो चार धनवान और संपन्न लोग होटल में दाख़िल होते हैं। दरबान उन्हें सैल्यूट करता है। फटेहाल रापलाम भी दरवाज़े में घुसने की कोशिश करता है)

दरबान : क्या है? कहां जा रहे हो, कहां घुस रहे हो?

रापलाम : वहीं जा रहा हूं जहां सब जा रहे हैं।

दरबान : यह ग्रैंड होटल है।

रापलाम : हां-हां, पढ़ा-लिखा हूं, पढ़ लिया है यह ग्रैंड होटल ही है।

दरबान : पढ़े-लिखे हो तो यह भी पढ़ लिया होगा कि दरवाज़े पर क्या लिखा है। हर कोई अंदर नहीं जा सकता।

रापलाम : मैं हर कोई नहीं हूं।

दरबान : पर तुम जैसे लोग अंदर नहीं जा सकते।

रापलाम : देखो, तुम मुझे इसलिए तो रोक नहीं सकते कि मेरे कपड़ों से बदबू आ रही है। मैं मानता हूं मेरे कपड़े बहुत महंगे और क़ीमती नहीं हैं; लेकिन ऐसा भी नहीं है कि साफ़-सुथरे न हों।

दरबान : यहां से सीधे खिसक जाओ... नहीं तो अच्छा न होगा।

रापलाम : तुम मुझे अंदर जाने से नहीं रोक सकते।

(रापलाम अंदर घुसना चाहता है लेकिन दरबान उसे पकड़ लेता है। दो-तीन लोग अंदर से आ जाते हैं। सब मिलकर रापलाम को पीटने लगते हैं)

रापलाम : *(चिल्लाता है)* देखो भाइयो! यह सब क्या है? संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र जहां मुझे होटल के अंदर जाने से रोका जा रहा है क्यों? क्या वजह है?

(भीड़ जमा हो जाती है रापलाम चिल्लाता रहता है)

रापलाम : देखो इन्होंने मेरे कपड़े फाड़ दिये... मेरे सिर पर डंडा मारा है... क्यों... मैं पूछता हूं... क्यों?

(अंदर से मैनेजर निकलकर आता है)

मैनेजर : तुम कौन हो?

रापलाम : एक नागरिक।

मैनेजर : नागरिक क्या होता है? यहां कोई नागरिक-वागरिक नहीं आता।

रापलाम : *(आश्चर्य से)* फिर कौन आते हैं?

मैनेजर : बड़े-बड़े लोग आते हैं... बड़े अधिकारी... बड़े व्यापारी...बड़े राजनेता... बड़े उद्योगपति।

रापलाम : क्या बड़े-बड़े लोग नागरिक नहीं होते?

मैनेजर : यह नागरिक नागरिक क्या किये जा रहे हो... अंग्रेज़ी में बताओ।

रापलाम : अंग्रेज़ी में बता सकता हूं लेकिन नहीं बताऊंगा।

मैनेजर : तब तो होटल में नहीं जा सकते।

(रापलाम फिर होटल में घुसने की कोशिश करता है। दरबान और दूसरे गार्ड उसे रोकते और पीटते हैं। मैनेजर मोबाइल पर किसी को फ़ोन करता है। दो पुलिस के सिपाही आते हैं, डंडे चलाते हैं। लोगों को हटाते हैं)

मैनेजर : देखो यह आदमी शराब पीकर यहां शोर मचा रहा है।

रापलाम : शराब! मैं शराब नहीं पीता।

सिपाही-1 : अबे! मैनेजर साहब क्या झूठ बोलेंगे? ...शराबियों को पक्का पहचानते हैं... दिन-रात शराबियों के साथ ही इनका उठना-बैठना रहता है।

रापलाम : पर मैंने शराब नहीं पी।

सिपाही-2 : हर शराबी यही कहता है।

सिपाही-1 : यह बात तू थाने में नहीं कह सकता।

रापलाम : क्यों?

सिपाही-1 : वहां तो तू अपने आप को चोर और डाकू तक मान लेगा।

रापलाम : यह क्या कह रहे हो?

सिपाही-2 : थाने चलकर देखो।

मैनेजर : इसे थाने ले जाओ। यहां भीड़ न लगाओ। बिज़नेस पर असर पड़ता है।

(दोनों सिपाही रापलाम के हाथ पकड़ लेते हैं और उसे धक्का देते हैं।)

सिपाही-1 : चल थाने चल।

रापलाम : पर क्यों?

सिपाही-2 : *(धक्का देते हुए)* चलता है कि खींचकर ले चलें?... थाने जाने से पहले कोई नहीं पूछता कि क्यों ले जा रहे हो।

रापलाम : संविधान ने मुझे जो अधिकार दिये हैं उनका हनन हो रहा है...क़ानून के ख़िलाफ़ काम हो रहा है... मेरे मौलिक अधिकारों को कुचला जा रहा है... मेरे साथ अन्याय किया जा रहा है।

सिपाही-1 : चल-चल, आजकल सारे शराबी यही बातें करते हैं।

रापलाम : मेरे मौलिक अधिकारों का हनन हो रहा है।

सिपाही-2 : अबे तू अधिकारों को क्या आलू, टमाटर, बैंगन समझ रहा है जिन्हें बाज़ार से कोई भी ख़रीद सकता है?

(मंच से सभी अभिनेता चले जाते हैं। कुछ लड़के आकर होटल के गेट से होटल के नाम का बोर्ड हटाते हैं और थाने का बोर्ड लगा देते हैं।)

सिपाही-1 : चल, अब बता कि तू कौन है।

रापलाम : दिखायी नहीं देता आदमी हूं।

सिपाही-1 : आदमी तो यहां कोई नहीं है... तेरा नाम क्या है?

रापलाम : नाम से क्या होता है?

सिपाही 2 : अरे मूर्ख, नाम से ही सब कुछ होता है.... हमारे संविधान की सभी धाराएं नाम से चलती हैं... लोगों के नाम न हों तो हमारा संविधान ही बेकार हो जायेगा।

रापलाम : यह कैसा संविधान है जो नाम से चलता है?

सिपाही-1 : तू नाम बता, तेरा नाम क्या है?

रापलाम : मेरा नाम रापलाम है।

सिपाही-1 : क्या कहा तूने, तेरा नाम रामलाल है?

रापलाम : रापलाम है।

सिपाही-2 : अबे, यह क्या नाम हुआ? कुछ पता ही नहीं चलता कि तू हिंदू है या मुसलमान।

सिपाही-1 : सीधे-सीधे बता, तू मुसलमान है?

रापलाम : मुसलमान नहीं हूं।

सिपाही-2 : क्या तू हिंदू है?

रापलाम : नहीं, हिंदू भी नहीं हूं।

सिपाही-1 : तू क्या है, तेरा धर्म क्या है?

रापलाम : मेरा धर्म सच्चाई, ईमानदारी, न्याय, भाईचारा, प्यार मोहब्बत है।

सिपाही-1 : यह कोई धर्म नहीं होता।

रापलाम : यही धर्म होता है।

सिपाही-2 : तो तू किसी धर्म को नहीं मानता ...न हिंदू है, न मुसलमान... चल अभी तेरी परीक्षा हुई जाती है... हिंदुओं के भगवान को गाली दे।

रापलाम : मैं गाली किसी को नहीं देता।

सिपासी-1 : अच्छा, तो मुसलमानों के भगवान को गाली दे।

रापलाम : मैंने कहा न, मैं गाली किसी को नहीं देता।

सिपाही-2 : लगता है यह पक्का नास्तिक है।
सिपाही-1 : बड़ा शातिर बदमाश है।
सिपाही-2 : मुझे तो जासूस लगता है।
रापलाम : मुझे एक बात बताइए... आप लोग हिंदू हैं?
सिपाही-1 : हां, हम हिंदू हैं।
रापलाम : आपके भगवान ने ही सब कुछ बनाया है?
सिपाही-2 : हां, हमारे भगवान ने ही पूरी सृष्टि बनायी है।
रापलाम : तो आपके भगवान ने मुसलमानों के भगवान को भी बनाया है?
सिपाही-1 : अरे, यह तो बहुत बड़ा आतंकवादी लगता है।
रापलाम : आप लोग ये सारे निर्णय यहीं ले लेंगे? मुझे मजिस्ट्रेट के पास ले चलिए।
सिपाही-1 : चल, तेरी यह इच्छा भी पूरी कर देते हैं।

(मंच पर कुछ लड़के आकर थाने का बोर्ड हटाकर उस पर न्यायालय का बोर्ड लगा देते हैं। मंच पर एक ऊंची कुर्सी रखी जाती है। न्यायाधीश आकर ऊंची कुर्सी पर बैठ जाता है। उसके सामने रापलाम और दो सिपाही आते हैं)

सिपाही-1 : हुजूर! यह आदमी शराब के नशे में शांति भंग कर रहा था।
न्यायाधीश : शांति कहां है उसे अदालत में पेश किया जाये।
सिपाही-2 : जी, शांति?
न्यायाधीश : हां, शांति का अदालत में बयान होगा।
सिपाही-2 : सर, शांति कोई लड़की नहीं है... शहर की शांति को यह आदमी शराब पीकर भंग कर रहा था।
रापलाम : *(चिल्लाकर)* यह सरासर झूठा आरोप है। मैंने शराब नहीं पी है... मैं शराब नहीं पीता। मेरा टेस्ट कराया जाये।
न्यायाधीश : *(सिपाहियों से)* क्या इसका टेस्ट कराया गया है?
सिपाही-1 : जी सर, पूरा टेस्ट हुआ है।
रापलाम : यह झूठ है, कोई टेस्ट नहीं हुआ।
न्यायाधीश : *(सिपाहियों से)* जब कोई टेस्ट ही नहीं हुआ तो तुम लोग यह कैसे कह सकते हो कि यह शराब के नशे में था?
सिपाही-1 : हुजूर! जब इसने संविधान, मौलिक अधिकारों और न्याय का नाम लिया तो हम समझ गये कि यह नशे में है।
न्यायाधीश : *(आश्चर्य से)* क्या कह रहे हो... मुलज़िम संविधान, मौलिक अधिकारों और न्याय की बात कर रहा था?
सिपाही-1 : जी हुजूर।
रापलाम : *(चिल्लाकर)* यह लोकतंत्र है महाशय... मुझे अपनी बात कहने का पूरा अधिकार है।
सिपाही-2 : देखा सर, यह अधिकार की बात कर रहा है ...नशे में है कि नहीं? आपके सामने सबूत पेश हो गया है। यह पक्का नशे में है।
न्यायाधीश : हां, मुलज़िम नशे में है। इस पर मुक़दमा क़ायम हो सकता है।
सिपाही-1 : हम लोग अदालत के सामने कभी कोई झूठा मुक़दमा नहीं लाते।

न्यायाधीश : हां, अदालत मानती है। मुलज़िम की चार्जशीट पेश की जाये।

सिपाही-1 : आजकल चार्जशीट बनने में तो 10- 15 साल लग जाते हैं, योर ऑनर! और इस आदमी पर तो देशद्रोह का मुक़दमा क़ायम हो गया है। इसे बिना चार्जशीट के निपटा दिया जाये।

रापलाम : कैसा देशद्रोह... मैं एक बेरोज़गार आदमी हूं... एक पढ़ा-लिखा ग़रीब बेरोज़गार।

न्यायाधीश : तुम झूठ बोल रहे हो, मुलज़िम।

रापलाम : झूठ कैसा?

न्यायाधीश : जब पूरे देश में कोई भी बेरोज़गार नहीं है तो तुम कैसे हो सकते हो?

रापलाम : यह आप क्या कह रहे हैं?

न्यायाधीश : मैं नहीं कह रहा हूं देश की सरकार कह रही है... देश के नेता कह रहे हैं... देश के टी.वी. चैनल कह रहे हैं.... सरकारी आंकड़े बता रहे हैं ...मंत्री बयान दे रहे हैं... और तुम देश पर यह झूठा आरोप लगा रहे हो कि तुम बेरोज़गार हो?

सिपाही-1 : देखा हज़ूर, मुलज़िम पर एक और अपराध सिद्ध हो गया।

न्यायाधीश : हां, यह तो गंभीर बात है... मतलब मुलज़िम को देश के नेताओं पर विश्वास ही नहीं है। यह तो सीधा सीधा राजद्रोह है। अंधेर नगरी के संविधान के अंतर्गत नेताओं पर अविश्वास करने वालों के लिए कड़ी सज़ा का प्रावधान है।

रापलाम : नहीं-नहीं, यह ग़लत है। संविधान में ऐसा कुछ नहीं लिखा।

न्यायाधीश : नवयुवक, तुमने अंधेर नगरी का संविधान तक नहीं देखा।

रापलाम : मैंने संविधान पढ़ा है।

न्यायाधीश : संविधान पढ़ने की चीज़ नहीं है। अंधेर नगरी का संविधान देखने की चीज़ है।

रापलाम : क्या मतलब?

न्यायाधीश : *(एक सिपाही से)* अंधेर नगरी का संविधान लाया जाये।

(सिपाही एक मोटा-सा डंडा लाकर न्यायाधीश की मेज़ पर रख देता है)

न्यायाधीश : *(रापलाम से)* इसे देख रहे हो?

रापलाम : हां, यह तो एक मोटा डंडा है।

न्यायाधीश : इसका अपमान मत करो। यह अंधेर नगरी का संविधान है।

रापलाम : नहीं-नहीं.... संविधान तो एक मोटी-सी किताब है।

न्यायाधीश : तुम किस युग में रह रहे हो नवयुवक? किताबों का युग बीत गया है... किताबें डंडों में बदल गयी हैं।

रापलाम : मैं यह नहीं मानता।

सिपाही-1 : मी लॉर्ड, देखिए यह आदमी संविधान पर विश्वास नहीं कर रहा है।

सिपाही-2 : मी लार्ड, देखिए यह तो खुला हुआ देशद्रोह है।

रापलाम : मैं आप लोगों से एक सवाल पूछना चाहता हूं।

न्यायाधीश : सवाल पूछना चाहते हो? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि अंधेर नगरी के संविधान के अनुसार सवाल पूछना एक ऐसा अपराध है जिस में ज़मानत ही नहीं मिलती। इसलिए कोई सवाल न पूछो। तुमसे जो पूछा जाये उसका जवाब दो। *(सिपाहियों से)* जिरह जारी रखी जाये।

सिपाही-1 : क्या तुम देश से प्रेम करते हो?

रापलाम : हां, करता हूं।

सिपाही-2 : सिद्ध करो कि तुम देश से प्रेम करते हो।

रापलाम : कैसे सिद्ध करूं?

सिपाही-1 : यह तुम्हारा काम है ...तुम्हें सिद्ध करना पड़ेगा... यदि तुम सिद्ध नहीं कर पाये तो तुम्हें देशद्रोही माना जायेगा।

रापलाम : कुछ तो बताओ, कैसे सिद्ध करूं कि मैं देश से प्रेम करता हूं?

सिपाही-1 : शत्रुओं को गाली दो।

रापलाम : शत्रु? मेरा तो कोई दुश्मन नहीं है।

सिपाही-1 : तुम्हारा कोई दुश्मन नहीं है... यह भी इस बात का सबूत है कि तुम देशद्रोही हो। देश से प्रेम करने वाले सदा एक दुश्मन रखते हैं।

न्यायाधीश : बिल्कुल ठीक कह रहे हो। दुश्मन का होना देश प्रेम करने की अनिवार्य शर्त है।

सिपाही-2 : मी लार्ड! अब सज़ा सुना दी जाये। सब कुछ साबित हो चुका है।

न्यायाधीश : आजन्म कारावास।

सिपाही-2 : नहीं-नहीं, योर ऑनर।

न्यायाधीश : क्यों?

सिपाही-2 : पहली बात यह है कि अंधेर नगरी की जेलों में जगह नहीं है... दूसरी बात यह कि अपराधी पूरे जीवन अंधेर नगरी का खाना खायेगा और पानी पियेगा... अंधेर नगरी की हवा में सांस लेगा, ऑक्सीजन बर्बाद होगी...

न्यायाधीश : तो फिर क्या किया जाये... फांसी की सज़ा दी जाती है...

सिपाही-1 : नहीं-नहीं, मी लार्ड... बेकार में फांसी देने वाले को पैसा देना पड़ेगा... देश की रस्सी बर्बाद हो जायेगी.... लकड़ी भी लगेगी....इसलिए फांसी देना ठीक नहीं है।

न्यायाधीश : फिर क्या किया जाये?

सिपाही-1 : मी लॉर्ड, अंधेर नगरी में भेड़िये बहुत हो गये हैं। वे लगातार भोजन मांगते रहते हैं... मेरी मानें तो अपराधी को भूखे भेड़ियों के बीच छोड़ दिया जाये...अंधेर नगरी के भेड़ियों की भूख भी मिट जायेगी और एक देशद्रोही भी नष्ट हो जायेगा।

न्यायाधीश : *(सिपाही-1 से)* तुम तो बहुत समझदार हो... तुम्हें तो न्यायाधीश होना चाहिए था, पुलिस में कैसे चले गये?

सिपाही-1 : बस सर! परीक्षा पास कर ली है... सब डिविज़नल मजिस्ट्रेट के पद पर ही नियुक्ति होगी।

न्यायाधीश : बधाई हो।

सिपाही-2 : *(ज़ोर से आवाज़ देता है)* आओ भेड़ियो! आओ... आओ भेड़ियो! आओ... एक देशद्रोही का सफ़ाया करो...

(मंच पर दोनों ओर से भेड़िये आकर रापलाम पर झपटते हैं)

रापलाम : भेड़ियो! तुम मुझे खा नहीं सकते... मैं अंतिम सांस तक तुमसे लड़ता रहूंगा...

(रापलाम अपनी बेल्ट खोल लेता है.. रापलाम और भेड़ियों के बीच लड़ाई शुरू हो जाती है।)

(समाप्त)

मो. 9818149015

दो व्यंग्य

विष्णु नागर

एक
बेचने का अधिकार

जिनके पास बेचने का अधिकार होता है, वे सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ बेच देते हैं। हवा बेच देते हैं, पानी बेच देते हैं, धरती बेच देते हैं, जंगल बेच देते हैं, नमी बेच देते हैं, धूप-छांव बेच देते हैं, हड्डियां और राख तक बेच देते हैं। ईमान और धर्म और न्याय की तो बात ही क्या करना, शांति और युद्ध ही नहीं, युद्धविराम तक बेच देते हैं। वे चाहे, जो, जिसका भी हो, अपना समझकर बेच देते हैं। वे खुद बिके हुए होते हैं और उन्हें ख़रीदने वाले भी कई होते हैं। एकमुश्त बिकने के बजाय वे क़िस्तों में बिकना पसंद करते हैं। प्राफ़िट उनका मोटिव होता है, बेचना उनके ख़ून में होता है तो किसी को वे अपना दिमाग़, किसी को अपने कान, किसी को अपनी आंख, किसी को अपनी नाक, किसी को अपने हाथ, किसी को अपने पैर, किसी को अपना आमाशय बेच देते हैं। किसी को कुछ नहीं बेचते, उसका सब कुछ ख़रीद लेते हैं। ख़रीद क्या लेते हैं, छीन लेते हैं और फिर उसे बेच देते हैं, चाहे वह लोहे की फूटी तगारी हो।

जिनके पास बेचने का अधिकार होता है, वे संविधान, नियम-क़ानून सब अच्छी तरह कंपनी के उत्पाद की तरह बढ़िया पैकिंग करके बेच देते हैं, अपनी हरामखोरी और दूसरों का श्रम, उनका रोज़गार, उनकी देह तक बेच देते हैं। ख़ूब बेचने के लिए वे टी.वी. चैनलों का 20 सैकंड का समय ख़रीद लेते हैं, जिसमें हमारे समय का महानायक मुस्कुराता हुआ प्रकट होता है। इस तरह वे कूड़ा, गंदगी, सड़ता हुआ पानी, बहता हुआ नाला और पेशाब की धार तक बेहद मुनाफ़े में बेच देते हैं। वे कमर बेच देते हैं क्योंकि रीढ़ बेच चुके होते हैं। जिनके पास बेचने का अधिकार होता है, वे हमारा एकांत अपना मानकर बेच देते हैं, हमारे भीतर की आग हमें पता लगने से पहले ही बेच देते हैं। इसका पता हमें अपने अंदर अचानक-अकारण पैदा हुए ठंडेपन से तब लगता है, जब हम कांपना शुरू कर देते हैं। हमारे काग़ज़, कलम, बनियान और जांघिया तो वे बेच ही देते हैं, अपना नंगापन भी हमारा नंगापन बताकर बेच देते हैं। बेच देते हैं और जमा कर लेते हैं करोड़ों, अरबों, खरबों रुपये और अधिक कमाने की चिंता कमा लेते हैं, नींद बेच देते हैं, विचार बेच देते हैं। अरे साहब, ख़रीददार हो तो क्या बताऊं, शर्म आती है, बताने में, वे क्या-क्या नहीं बेच देते हैं। आप समझ जाओ, क्या-क्या नहीं से मेरा तात्पर्य क्या-क्या से है!

उन्हें वैसे ख़रीदना भी पसंद है लेकिन उन्हें वे ख़रीददार पसंद नहीं, जो बाज़ार जाते हैं, तो एक-एक आलू, एक-एक टमाटर, एक-एक भिंडी छांटकर, तुलवाकर, भाव करके, दो पैसे बचाकर ख़रीदना पसंद करते हैं। उन्हें वे थोक ख़रीददार पसंद हैं, जो 360 करोड़ की चीज़ भले 22 करोड़ में ख़रीद लें; मगर ख़रीद लें। वे जो ख़रीदना चाहें, बेच देते हैं। और वे हर जगह बेच-ख़रीद लेते हैं, दुनिया और घर तक में ऐसी कोई कोना नहीं, जहां वे दुकान नहीं लगा सकते। वे हर मौसम में, हर हालत में, हर देश में, हर ग्रह-नक्षत्र में बेचना-ख़रीदना जानते हैं। उन्होंने आकाश बेच डाला तो तारों का क्या करते, वे तारे

भी बेचने वाले होते हैं; मगर प्रदूषण के कारण धरती से तारे नहीं दिखते तो ख़रीदने वाले इससे निराश होकर ख़रीदने से मना कर देता है तो वे उसे एक रुपये की प्रतीकात्मक क़ीमत में बेचने का प्रस्ताव करते हैं। यह राशि भी ख़रीदने वाले को ज़्यादा लगती है तो वे 50 पैसे में बेचने का मन बना लेते हैं, मगर अंततः ख़रीददार, 'तुम भी क्या याद करोगे' के स्टाइल में कहता है कि चलो 50 पैसे के लिए क्या झिकझिक करना। वे जब एक रुपया दे देते हैं और ऐसा-वैसा नहीं एकदम कड़क नोट दे देते हैं, इतना कड़क कि जेब में मोड़कर रखने का भी मन नहीं करे तो वे इसे प्रभु का प्रसाद मानकर, सिर से छुआकर, देने वाले का आभार मानकर अपने पास बहुत ऐहतियात से रख लेते हैं।

उन्हें बेचने में उतना ही आनंद आता है, जैसा कभी भजन गाने में आता था, आरती उतारने में आता था, गुरुजी के खड़ाऊं सिर पर रखने में आता था, तिलक लगाने में आता था और बलात्कार तथा दंगे करने-कराने में आता था। उन्हें बेचने में इतना आनंद आता है और बेचने की ऐसी उतावली रहती है कि नींद आकर भी नहीं आती और नींद आती है तो ख़रीदार आ जाता है। वे ख़रीददार को उसकी आहट से नहीं, उसकी सुगंध, उसकी दुर्गंध और उसकी गंध से जान लेते हैं। कहना अच्छा नहीं लगता; मगर इस मामले में वे कुत्ते के गुरु हैं।

इतना बेचा जा रहा है, इतना बेचा जा रहा है कि यह देखकर रघु रोने लगता है कि इस तरह तो उसकी रही-सही दुनिया भी उजड़ जायेगी, तो उसकी मां उसे चुप कराती है और जब वह चुप हो जाता है तो उसकी मां रोने लग जाती है और रघु उसे चुप कराता है। उधर बहन भी रोती है, भाई भी, बेटा भी, बेटी भी। बीवी सबको चुपचाप कराते-कराते ख़ुद रोने लग जाती है। कुछ चुप हैं, अभी, रो इसलिए नहीं रहे हैं कि कल जब सब रोते-रोते थक जायेंगे तो लड़ने की बात छोड़ दीजिए, रोने को भी कोई नहीं बचेगा। वे कल रोने के लिए आज नहीं रो रहे हैं और समझ नहीं पा रहे हैं कि ये आंखों से बरसने वाले आंसू हैं या बरसात है या दोनों है या कुछ नहीं है, आंखों का भ्रम है, जो अब कभी दूर नहीं होने वाला।

दो
18 घंटे काम करने वाला प्रधानमंत्री

दुख तो बहुत होता है कि हमारे प्रिय प्रधानमंत्री जी को अठारह-अठारह घंटे काम करना पड़ता है, जबकि मैं जो उनसे उम्र में तनिक बड़ा हूं, आठ घंटे जमकर सोता हूं और दिन में सोता नहीं तो झपकी तो ले ही लेता हूं। दुख तो होता है प्रधानमंत्री की यह दशा देखकर कि हाय! बेचारे देश के लिए नींद की क़ुर्बानी तो दे ही रहे हैं; मगर मैं उनसे प्रेरणा नहीं ले पाता। मुझे क्या मेरे बच्चों तक को उनसे यह प्रेरणा नहीं मिल पाती और उनके बच्चों को तो बिल्कुल भी नहीं। मेरे पड़ोसियों, मित्रों-परिचितों का भी ठीक यही हाल है। दुख तो इस बात का है कि इनके भक्तों तक की यह स्थिति है। यह बुरी बात है; मगर जब मोदी जी को ही इसकी परवाह नहीं है तो मुझे क्यों हो! उन्होंने हम सबको सुधार कर ठीक कर देने का ठेका ले रखा है, हमें तो किसी ने दिया भी नहीं और हमने लिया भी नहीं! हमसे तो हमारा अपना ठेका भी नहीं लिया जा रहा और वैसे भी मैं सिद्धांततः ठेकाप्रथा के विरुद्ध हूं।

जहां तक प्रेरणा लेने की बात है, मैं इस मामले में इतना लीचड़ हूं कि गांधीजी तक से प्रेरणा नहीं ले पाया तो उनके सामने प्रधानमंत्री-गृहमंत्री वग़ैरह क्या बेचते हैं! 'मां खादी की चादर दे दे, मैं गांधी बन जाऊंगा', कविता बचपन में पढ़कर गांधी बनने की प्रेरणा मिली अवश्य थी; मगर मां ने खादी की चादर लाकर नहीं दी और गांधी बनने की प्रेरणा पर भी वहीं विराम लग गया। प्रधानमंत्री तो ख़ैर वैसे

भी मैं सौ जनम में बनना नहीं चाहता था, मक्खी-मच्छर-चूहा-सूअर बनकर भी नहीं। ऊपर से हमारे प्रधानमंत्री ने यह नया आदर्श उपस्थित करके और विरक्ति जगा दी है कि प्रधानमंत्री बनने के योग्य वही हो सकता है, जो दिन में पांच-सात बार नयी-नयी ड्रेसें बदले। इधर अपना हाल यह है कि अपन एक ड्रेस, तीन नहीं, तो दो दिन तो चलाते ही हैं। वैसे हर दिन नयी-नयी ड्रेसें बदलने का शौक न पहले मुझे कभी था, न अब है और न मेरी ऐसी हैसियत रही कभी। प्रधानमंत्री जितनी ड्रेसें एक दिन में बदलते हैं, उतनी तो कुल ड्रेसें भी मेरे पास नहीं हैं! वैसे भी ड्रेसें बनवाने-बदलने के इस काम में प्रधानमंत्री के कम से कम रोज़ दो घंटे तो ख़र्च हो ही जाते होंगे, जबकि मैं इन दो घंटों का सदुपयोग सोने के लिए कर लेने को अपने लिए आदर्श मानता हूं।

फिर उन्हें दो-दो, तीन-तीन घंटे भाषण देने में भी ख़ुशी-ख़ुशी ख़र्च करने पड़ जाते हैं। उसमें आत्मप्रशंसा और झूठ की बढ़िया मिक्सिंग करने के लिए भी उन्हें कम से कम एक घंटा तैयारी में अतिरिक्त लग जाता होगा। मुझे यह सब नहीं करना पड़ता, इस प्रकार मेरे तीन से चार घंटे और भी रोज़ बच जाते हैं। इतने समय, मैं चाहूं तो सो सकता हूं, मगर मैं इतना भी सोता नहीं (और वैसे तो मैं दिनभर भी सोऊं तो किसी की सेहत पर इसका क्या फ़र्क़ पड़ेगा और न ईडी और सीबीआई इस बारे में मुझसे पूछताछ करेगी।)। फिर मैं ट्वीटर पर गोडसे समर्थकों को फ़ालो भी नहीं करता, इस वजह से भी मेरा मिनीमम आधा घंटा और बच जाता है। फिर मुझे कैमरों के लिए तरह-तरह के पोज़ भी देने नहीं पड़ते, इससे भी समय की काफ़ी बचत हो जाती है। जैसे मैं चैन्नई एकाधिक बार गया हूं और वहां के समुद्र तट के पास रुका भी हूं मगर, चीनी राष्ट्रपति की क़सम, मैंने एक बार भी कैमरे फ़िट करवाकर वहां के समुद्र किनारे का कचरा उठाने का कष्ट या कष्ट करने जैसा कुछ नहीं किया।

इसके अलावा मुझे किसी न किसी विरोधी को रोज़ फंसाने का उपक्रम नहीं करना पड़ता, इस कारण भी मेरा काफ़ी समय बच जाता है। मुझे अडाणी-अंबानी की दौलत बढ़ाने, देश की अर्थव्यवस्था का भट्ठा बैठाने, भुखमरी के इंडेक्स में पाकिस्तान, बांग्लादेश से पिछड़ने, असमानता और बेरोज़गारी बढ़ाने, आर्थिक मंदी लाने, विकास दर निरंतर घटाने, बी एस एन एल, एम टी एन एल आदि को डुबाने जैसी तमाम 'राष्ट्रहितों' की चिंता भी नहीं करनी पड़ती। संविधान-क़ानून की ऐसीतैसी करने जैसी तमाम चिंताओं से भी मैं मुक्त हूं, इसे भी मैं अपने समय की बचत मानता हूं।

वैसे मुझ 'देशद्रोही' की मानें तो बेहतर तो यह होगा कि स्वयं प्रधानमंत्री भी दस नहीं तो नौ और नौ नहीं तो आठ घंटे तो ज़रूर सोया करें तथा ड्रेसें बदलने की गति में अधिक तीव्रता ला दें तो देश के लिए इसके अधिक सकारात्मक परिणाम आयेंगे; बल्कि देश इसके लिए प्रधानमंत्री का आभारी होगा कि वे अचानक कितने अधिक विवेक से देश को चलाने लगे हैं! देश का बच्चा-बच्चा मोदी-मोदी करने लगेगा और क्या पता 2024 में उन्हें फिर से पांच साल और दे दे! अगर प्रधानमंत्री 18-18 घंटे काम करने की ज़िद पर अड़े रहे तो देश का आज से भी अधिक बुरा हाल होगा। लोग राष्ट्रवाद, हिंदूवाद, धारा 370, जय श्रीराम सब भूल जायेंगे और फिर जो होगा, आप जानते हैं! इसलिए आपका आराम करना हराम की श्रेणी में नहीं आयेगा बल्कि आपका आराम ही आपका काम करना साबित होगा। यही प्रेरणा आप अमित शाह, आदित्यनाथ आदि को भी दे सकें तो देश भूलते-भूलते भी आपको याद करेगा, मगर आपकी समस्या यह है कि 'देशद्रोही' अगर आपके फ़ायदे की बात भी कहें तो आप उनकी बात सुनते नहीं, 'मन की बात' ही करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में आपको मैं सिर्फ़ शुभकामना दे सकता हूं, उसका भंडार भरा पड़ा है मेरे पास, बशर्ते कि उसके एक अंश की भी ज़रूरत आपको हो!

मो.9810892198

ग़ज़ल

ये भी सोचा है क्या

कांति मोहन 'सोज़'

ये भी सोचा है क्या आपने दिलरुबा बाग़ कैसा लगेगा हमारे बिना?
नंगे-गुलशन[1] थे हम ये तो माना मगर जश्न कैसे मनेगा हमारे बिना?

आपको भा गयी बुलबुलों की सदा मख़मली घास पर रक्स[2] करती सबा
खाद बनता है लेकिन हमारा लहू गुंचा कैसे खिलेगा हमारे बिना?

शौक़ से हमको गुलशन-बदर[3] कीजिए अपने सुख का तो कोई जतन कीजिए
कैसे बहलेगा दिल जब हरेक शाख से एक शोला उठेगा हमारे बिना?

वक़्ते-रुख़्सत[4] ख़ता बख़्शवाते चलें एक छोटा सा हक़ था जताते चलें
कौन बाक़ी बचा अब जो हर वार पर यूं मुक़र्रर कहेगा हमारे बिना?

सोज़ इसने कलेजे को छलनी किया फिर भी लख़्ते-जिगर[5] है ये इब्ने-बला[6]
आये है ग़म की क़िस्मत पे रोना हमें किसके कांधे चढ़ेगा हमारे बिना।।

———————————

1 बाग़ का कलंक; 2 नाच; 3 बाग़निकाला; 4 विदा की बेला
5 जिगर का टुकड़ा; 6 मुसीबत का बेटा

नज़्म

बाज़ आओ

कांतिमोहन 'सोज़'

(1978 में एक ठेकेदार के गुंडों द्वारा कई आदिवासी मज़दूरों को स्वर्णरेखा नदी में फिंकवा देने की घटना से आहत होकर।)

तुम हमें खौलती नद्दी में गिरा दो बेशक
तोप से बांधके गोले से उड़ा दो चाहे
अपनी करनी में कोई कोर-कसर मत छोड़ो
हथकड़ी डालके शेरों से लड़ा दो चाहे
हम वो शै हैं कि अजल से भी पलट आयेंगे।

ज़ालिमो! ये तो कहो जुल्म कभी जीता है
बर्क़' जीती है कभी फ़स्ल कभी हारी है
मख़मली दूब को तलवार दिखानेवालो!
खुदकुशी करने की क्या तुमने क़सम खा ली है?
हम वो शै हैं कि कटेंगे तो पनप आयेंगे।

बाज़ आओ कि अभी दिल है हमारा दरिया
हाथ गुलदस्ता है आग़ोश अभी वादी है
आके मिल जाओ क़तारों में हमारी अब भी
हमने मिटकर भी तुम्हें रौशनी दिखला दी है
हम वो शै हैं कि तपेंगे तो दमक आयेंगे।

दरिया फिर दरिया है सैलाब में आ सकता है
हाथ गुलदस्ता हैं शहतीर भी बन सकते हैं
वादी है वादी सुरंगें यहां बिछ सकती हैं
गुंचे फ़ौलाद की ज़ंजीर भी बन सकते हैं
हम वो शै हैं कि जो हर शै को उलट जायेंगे

मो. 8826162547

चार कविताएं

नरेश सक्सेना

1

धरती के गर्भ में, सोयी हुई
चट्टानें कब करवट लेंगी
कब आयेगा भूकंप
और ज्वालामुखी कब फूटेगा
यह कोई नहीं जानता

आसुओं और पसीने में घुला हुआ नमक प्रमाण है
कि मनुष्य समुद्र का वंशज है
लेकन यह जो समुद्र है मनुष्यों का
इसमें कब आयेगा तूफान
इसे सिर्फ़ जानती है जनता
आश्चर्य!
जनता को कोई नहीं जानता

2

आपने हमारे सबसे सुंदर शब्दों को
भरोसे के क़ाबिल नहीं छोड़ा,
वाक्यों को कर दिया विकलांग
बलात्कारियों को देते बधाई और
हत्यारों को माला पहनाते
आपको नहीं आती शर्म

हां हैं हमारे बीच कुछ बगुले,
लोमड़ियां भी हैं और सियार हैं और चूहे
तो क्या करें
समाज को तो वे भी स्वीकार हैं
जो डाकू हैं, ठग हैं या चोर हैं
लेकिन आप तो आदमख़ोर हैं
दफ़ा हो जाइए यहां से

3

दरवाज़ा बारिश में भीगा
फूल गया है,
कभी पेड़ था, हम समझे थे
भूल गया है,
अब न चौखट में अपने, फ़िट
बैठ रहा है
इतनी कीलें ठुकी हुईं, पर
ऐंठ रहा है

बारिश छूने ज्यों, कुछ बाहर
झूल गया है,
कभी पेड़ था, हम समझे थे
भूल गया है

4

आकाश में न सूर्य था
न बादल थे
न पक्षी
इतना ख़ाली था आकाश
कि नीला रंग तक नहीं था

धरती पर न पेड़ था
न झाड़ी थी
न तिनका
इतनी ख़ाली थी धरती
कि काई का निशान तक नहीं था

आकाश तो क्या होता मैं
अपनी धरती के लिए
एक हरा पेड़ ही हो जाता
इतना हरा पेड़
कि छाया भी हरी हो जाती

मो. 8090222200

चार कविताएं

इब्बार रब्बी

1. अफ़ीम सागर

नशे में धुत्त है समाज
पिनक रहे बूढ़े-नौजवान
बरस रही गली-गली अफ़ीम
आखें बंद कान बंद
सुस्त पड़ा देश
दिशा-दिशा बह रही अफ़ीम
1948 से पहले का चीन हो गये
न दायें देखो न बायें
अफ़ीम चाटो योग करो
माजूम सेवो, मस्त रहो
जय गाज़ीपुर, जय मंदसौर
जय अफ़ीम जय-जय अफ़ीम
आत्मलीन, ध्यान मग्न, चिर गुलाम दासानुदास
परम भक्त, परम संत, परम बापू
राम रहीम जय-जय-जय अफ़ीम

2. चिड़ियाघर में मां

चंदू मैंने चिड़ियाघर में मां को देखा*
राम ने नदी पार की तो केवट ने वत्स मांस परोसा
माता के रक्त से चंबल हुई लाल
बुद्ध, महावीर, श्रमणों ने टोका
संघर्ष पर संघर्ष
जैन झुक गये, बौद्ध भागे या मारे गये
उनकी अहिंसा पर हमारा कब्ज़ा हो गया
मामा ने कृष्ण के माता-पिता को सलाखों में डाल दिया
गुर्जरों की रात के बाद
माता के कारण मारे गये म्लेच्छ

ख़रीदते-बेचते मारे गये
फ्रिज़ में मिल गया मांस
तो मारे गये
यह हाल है बलि भक्षी पूर्वजों के वंशज
बुद्ध, महावीर की अहिंसा के रक्षकों का
जो मां का नाम ले उसे मारो
संग्रहालय में खड़ी है मां
टुकुर-टुकुर घास का सपना देखती
बछड़े के लिए रंभाती
देखने पर टिकट है।
(नोटिस लगा है—म्लेच्छ मां के दर्शन नहीं करें)

*बाबा नागार्जुन की कविता 'चंदू मैंने सपना देखा' का संदर्भ

3. मेरे पूर्वज

मेरे पूर्वज मिलते हैं छतों पर पेड़ों पर
कूदते हैं नीचे छीनते हैं मूंगफली की थैली
झपटते केले लपटते अमरूद
लो मेरा चश्मा गया अब गया थैला।
कीचड़ में कूड़ेदान खखोलती माताएं
पोलीथिन, रद्दी, काग़ज़, झूठन, छिलके चबातीं
माताओं की माताएं हंकाली जातीं
दुरदुराता ठेले वाला
बचाता गोभी, आलू, लौकी
पता नहीं कब मुंह मार दे मां
सरसों और मेथी की गड्डी ले जाये
पूर्वज खंभों पर बिजली के तार हिलाते
मां सड़क पर डंडे खाती
मैंने परिवार का हाल बता दिया
समझ गये आप
मेरा ठिकाना कहां होगा!

मो. 8743043348

भय की भाषा

राजेश जोशी

भय की एक नयी भाषा बनायी जा रही है इन दिनों,
इस समाज में!

व्याकरण में कोई बड़ी तब्दीलियां नहीं की गयी हैं
जिन्हें अलग से दर्शाया जा सके
शब्दकोश में फ़कत कुछ नये शब्द जोड़े गये हैं
जिनके अर्थ कुछ और हैं लेकिन उनके पीछे छिपी
मंशाएं कुछ और

असहमतों के लिए जैसे भाषा में एक शब्द
ईजाद किया गया है–'दूसरा'
कभी कभी इसके पर्यायवाची के रूप में
देशद्रोही का भी इस्तेमाल कर लिया जाता है
इस 'दूसरे' के लिए जगह नहीं है समाज में
यह तय नहीं है कि कब किसको किस कारण से
दूसरा मान लिया जायेगा
दूसरा मान लिये गये की अपील के लिए
कोई अदालत नहीं!

किसी का जूता नया हो और काट रहा हो पांव में
तो इसे कहने की एकाएक कोई हिम्मत नहीं करता
पता नहीं कब इसे भी रूपक मान लिया जाये
उसका नया भाष्य क्या होगा
यह उनकी इच्छा पर मयस्सर है!

भय की भाषा कहती है / जहां तक हो सके चुप रहो
और बोलो तो वही बोलो जो शासन चाहता है

भय की भाषा कहती है
हर एक पर संदेह करो!
भय की इस भाषा से बाहर आने के सारे दरवाज़े
बाहर से बंद हैं
फ़िलहाल!!

दो कविताएं

असद ज़ैदी

1. आसिफ़ा के नाम

सलाम अरे आसिफ़ा!
तुमको मेरा और तुम्हारी ख़ाला का सलाम पहुंचे!
चुन्नो और नवाब भी सलाम कहते हैं...
ये हमारे बच्चे नहीं, तुम भी इनको नहीं जानतीं... पर हैं बड़े ना-अहल।
तमाम नालायक़ बच्चों का सलाम पहुंचे तुम्हें और तुम्हारे घोड़ों को
वे जलन से मरे जाते हैं घोड़ों को, हरी चरागाह को,
तुम्हारी आज़ादी को देख कर।

अगर ये पहुंच गये तुम्हारे पास तो ख़ूब कोहराम मचायेंगे
चरागाह में दौड़ लगायेंगे, घास को रौंद डालेंगे
उन्हें क्या मालूम घास का कड़ियलपन और दानाई।

अगले वक़्तों के बुज़ुर्गों का तुमको प्यार मीर-ओ-सौदा का
नज़ीर-ओ-अनीस, मिर्ज़ा नौशा, अन्तोन और अल्ताफ़ का
और बीसवीं सदी के तुम्हारे लोग, उनका नाज़िम, पाब्लो, फ़ेदेरीको,
बर्तोल्त, रवि, धनपत, फ़ैज़, गजानन का
मक़बूल, अमीर, महमूद, थियो यूनानी-ओ-अब्बास-ए-ईरानी का
उदास और मनहूस फ़रिश्तों सेसर, फ्रांत्स, पाउल का
शक़्क़ी पर रहमदिल सआदत, रघुवीर, तदेऊश का
और हर क़िस्म की पुरानी ख़वातीन का -- आन्ना, रोज़ा, अनीस, मरीना, ज़ोहरा, विस्वावा,
अख़्तरी, बाला, कमला, मीना, गीता, नरगिस, स्मिता...फ़ेहरिस्त है कि ख़त्म होने को नहीं आती।

तुमने इनमें किसी का नाम नहीं सुना, ये भी तुम्हें कहां जानते थे!
तो मामला बराबर। सब कह रहे हैं, भई, अदब के घर में आसिफ़ा के लिए अम्नो-अमान!
जो बात हो प्यार की हो चंचल, शोख़, संजीदा, ख़ामोश
और मुर्दा। प्यार तो प्यार है...खोया प्यार भी हमेशा प्यार ही रहेगा।
बहुत बदनसीबी देखी है इन बुज़ुर्गों ने, पर तुम्हें देखकर सब ख़ुश होंगे
सआदत हसन कहेंगे लो यह आयी हमारी नन्ही शहीद!

ख़ुशनसीब लोगों का क़िस्सा कुछ और है जिन्होंने मैदान मारा वही नाख़ुश हैं।
साल उन्नीस सौ सैंतालीस... अक्तूबर और नवंबर के वो दो महीने।
एक दिन शुमार में जो इकसठ थे, दो हफ़्तों में चालीस से नीचे आ गये
ऐसा था डोगरा राज का जनसंख्या प्रबंधन।
मृतक दो लाख सैंतीस हज़ार, उजड़े और लापता छह लाख।
तुम्हें मालूम है कौन था हरि सिंह
और वो मेहर चंद, प्रेम नाथ, यादविंदर सिंह...?
कोई बात नहीं वे सब जा चुके हैं अब, सारे क़ातिल, और उनके गुर्गे।
उनकी औलाद अब खुद को मज़लूमों में गिनती है।
ये लोग कहते हैं हम दुखी हैं, हम वंचित हैं। दरअस्ल वो सच कहते हैं।
कैसी तकलीफ़ों में गुज़री है कर्णसिंह की ज़िंदगी! कहो तो सब करते हैं हा-हा-हा!
अब मनहूस महबूबा ही को देखो वह नहीं समझ पाती कि हर आफ़त हर बला
हर जुर्म उसी के माथे पर क्यों मढ़ दिया जाता है, उसने किया क्या है,
क्यों हर शै और हर शख़्स उसे नाखुश करने को आमादा है!

और हां, आसिफ़ा, उस अलबेले अरिजीत सेन कलाकार को अपना समझना
वह अजीबो-ग़रीब तुम्हें चरागाह में मटरगश्ती करता दिखायी देगा
अपने किसी घोड़े को बता देना उसके पास जाकर शराफ़त से हिनहिनाये
जब वह तुम्हारे घर के पास से गुज़रता हो
तो उसे रोककर कहना सिगरेट बुझा दे और
उसके हाथ में थमा देना साफ़ पानी का एक गिलास।

संदर्भ :

1. आसिफ़ा जम्मू-कश्मीर के पशुपालक बाकरवाल (गुज्जर) समुदाय की आठ वर्षीय बच्ची थी। 10 जनवरी 2018 के दिन कठुआ जिले की हीरानगर तहसील के कसाना गांव के पास जंगल के किनारे एक चरागाह में अपने घोड़ों को चराने गयी, फिर वापस नहीं आयी। कुछ दिन बाद उसका शव जंगल में बरामद हुआ। इस मामले में आठ लोगों को गिरफ़्तार किया गया। जांच के नतीजे बताते हैं कि अपहरणकर्ताओं ने सूनी जगह पर बने एक मंदिर के गर्भगृह में सात दिन तक उसे बेहोश रखकर उसके साथ बलात्कार किया, फिर उसका गला घोंटकर पत्थर से सर कुचल दिया और उसकी लाश को फेंक दिया। मुख्य अपराधियों में मंदिर का पुजारी (अवकाशप्राप्त सरकारी मुलाज़िम), कई पुलिस कर्मचारी और एक नाबालिग लड़का भी शामिल हैं। अप्रैल में जब पुलिस का जांच दल अदालत में आरोप-पत्र दाख़िल कराने पहुंचा तो कठुआ के वकीलों नें ज़बरन उनका रास्ता रोका। जम्मू इलाक़े के अनेक हिंदुत्ववादी संगठनों ने आरोपियों के समर्थन में आंदोलन और प्रदर्शन शुरू कर दिये। कश्मीरी पंडित समुदाय के अति-दक्षिणपंथी संगठन, 'पनून कश्मीर' के नेताओं का रुख़ भी बलात्कारियों के समर्थन का था। राज्य की साझा सरकार में शामिल भारतीय जनता पार्टी के दो मंत्री खुलकर आरोपियों के समर्थन में उतर आये।

इनमें एक मंत्री वही था जिसने दो साल पहले खेती-बाड़ी की किसी समस्या को लेकर प्रतिनिधिमंडल में आये गुज्जर सदस्यों को संबोधित करके कहा था, 'गुज्जरो, 1947 को भूल गये क्या?' इस तरह वह बाकरवाल समुदाय को शेष भारत में अब तक अज्ञात उस हत्याकांड की याद दिला रहा था जिसके तहत डोगरा राजा हरि सिंह की फ़ौजों ने हिंदू सांप्रदायिक दस्तों के साथ मिलकर जम्मू डिवीज़न में क़रीब दो लाख सैंतीस हज़ार मुसलमानों को मौत के घाट उतार दिया था, और कुल मिलाकर छह लाख लोगों को रियासत से बाहर धकेल दिया था। जम्मू डिवीज़न आबादी के हिसाब से उस समय मुस्लिम बहुल था। इस जातीय सफ़ाये के बाद वहां मुस्लिम जनसंख्या 61 प्रतिशत से गिर कर 38 प्रतिशत रह गयी। वैसी ही हत्यारी शक्तियां आज आसिफ़ा के क़ातिलों के पक्ष में खड़ी हैं।

2. इस कविता में इतिहास और वर्तमान की बहुत-सी हस्तियों के नाम आये हैं। अधिकांश को उनके पहले नाम से याद किया गया है। यहां उनके पूरे नाम क्रमानुसार दिये जा रहे हैं :

आसिफ़ा, चुन्नो (काल्पनिक), नवाब (काल्पनिक), मीर तक़ी 'मीर', मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा', नज़ीर अकबराबादी, मीर बब्बर अली अनीस, मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ां 'ग़ालिब', अन्तोन चेख़व, ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन 'हाली', नाज़िम हिकमत, पाब्लो नेरूदा, पाब्लो पिकासो, फ़ेदेरीको गार्सीया लोर्का, बेर्तोल्त ब्रेख़्त, रवींद्रनाथ टैगोर, प्रेमचंद, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, गजानन माधव मुक्तिबोध, मक़बूल फ़िदा हुसैन, (उस्ताद) अमीर ख़ां, महमूद दरवेश, थिओ अंजीलोपुलोस, अब्बास कियारुस्तमी, सेसर वाय्येख़ो, फ़्रांत्स काफ़्का, पाउल सेलान, सआदत हसन मंटो, रघुवीर सहाय, तदेऊश रूज़ेविच, आन्ना अख़्मातोवा, रोज़ा लग्ज़ेमबर्ग, अनीस क़िदवाई, मरीना त्स्वेतायेवा, ज़ोहराबाई आगरेवाली (ज़ोहराबाई अंबालेवाली से पहले के दौर की गायिका), विस्वावा शिम्बोर्स्का, बेगम अख़्तर, बालासरस्वती, कमला दास सुरैया, मीना कुमारी, गीता दत्त, नरगिस, स्मिता पाटिल, हरि सिंह (डोगरा राजा), मेहर चंद महाजन, प्रेमनाथ डोगरा, यादविंदर सिंह (पटियाला का राजा), कर्ण सिंह, महबूबा मुफ़्ती, अरिजीत सेन।

2. अंत में एक तस्वीर

अंत में एक तस्वीर ही कोई भयानक काम करने से रोक देती है

हो सकता है कि तस्वीर
किसी मानुष की हो जो फिर कभी दिखा नहीं
उस प्यारे बकरी के बच्चे की हो
जिसे पचास साल से तुम गोद में लिये खड़े हो
अपनी ही कोई छवि जो जीना मुश्किल किये रहती है
उस बरसों से ग़ायब मित्र की जिसने कहा था एक दिन तुम...

और वह तस्वीर तो हो
पर किसी चीज़ की न हो
किसी जगह किसी लम्हे किसी शै की
किसी ने जिसे लिया ही नहीं, जो कभी रही न हो

लेकिन जो हर और तस्वीर को मिटाती रहती है
या किसी छुपी हुई बारीक़ तफ़सील को
ऐसे अचानक उजागर कर देती है कि

एक लड़की कुछ सोचते-सोचते रुक जाती है
एक आदमी जहां है वहीं बैठ जाता है
एक लड़का एक अजनबी से वक़्त पूछता है
और अपने ही सर पर घूंसा मार देता है
एक औरत फ़ौरन ब्रेक पर पैर दबाती है
पीछे से कोई बजाता है गुस्से से हॉर्न
एक बच्चा बेख़बर सोया रहता है
एक खंभा गिर जाता है
एक समाज नक़्शे से ग़ायब हो जाता है

एक तस्वीर है जिसका अपना जीवन है
जिसे कोई बदल नहीं सकता
चाहे कोई कुछ करिश्मा कर दिखाये
और पूरा हिंदुस्तान सांपों की बांबी में बदल जाये

मो.9868126587

तीन कविताएं

मनमोहन

1. मन की बात

मैंने जो किया
वह एक प्रयोग था
कौन कहेगा कि वह
कामयाब नहीं हुआ

किसे याद हैं वे बस्तियां
जो मैंने रौंद कर छोड़ दीं
वे घर जो मैंने जलाकर ख़ाक कर दिये

वे निहायत मामूली लोग
बदनसीब औरतें बच्चे और बूढ़े
आग की लपटों में बदहवास
दौड़ते और गिरते
उनकी चीख़ें भला किसे याद हैं

जब कहा जाता था
कि मैं अपनी ग़लती मानूं
या माफ़ी मांग लूं
तो मैं मन ही मन इस पर हंसता था
और अपने आप से कहता था
कि 'मूर्खो! तुम्हें पता ही नहीं
कि तुम किस वक़्त में रहते हो?'

आज नहीं तो कल
तुम मेरी दूरंदेशी और सूझबूझ के
क़ायल हो जाओगे

मैंने माफ़ी मांगने के बजाय
'गौरव यात्रा' निकालना ठीक समझा

दरअसल इस गणतंत्र का स्वांग
मैं ख़ूब समझता हूं
मैंने वही किया
जो मैं करना चाहता था
और जानता था कि कर सकता हूं

आपने देखा
मेरा वार भरपूर था
मेरा निशाना अचूक था

मैं जानता था
कि जो बस्तियां मैं जला रहा हूं
वे देश के नये नक्शे में कहीं नहीं हैं
मैं जानता था जिन निहत्थे बदनसीब लोगों को
मैं क़त्ल कर रहा हूं
उन्हें कोई नहीं पहचानता
वे कहां और क्यों और कितना किसी की याददाश्त में रहेंगे

इन्हें ताक़त की जगह से ज़रा एक बार देखो
ये धब्बे से ज़्यादा नहीं दिखायी देंगे
मैं जानता था नागरिकों के नये जनसांख्यिकीय रजिस्टर में
इन कम्बख़्तों के नाम तक नहीं मिलेंगे

दरअसल मैं जान चुका था
नयी पराक्रमी दुनिया के
तमाम भेद

दुनिया के ताक़तवर तबक़े ताक़तवर जातियां
यों ही मेरी ओर उम्मीद से नहीं देखते
क्योंकि वे जानते हैं कमज़ोरों की औक़ात
मैं ठीक-ठीक समझता हूं

भोले-भाले लोगो!

मुझे खुद पर यक़ीन है
आप लोगों पर यक़ीन है
जब तक जनतंत्र है यों ही बने रहो

भाइयो-बहनो!
अभी आपने बस मेरा राज्याभिषेक देखा है
अब देखते जाइए
आप को किस तरह महाशक्ति में बदलता हूं

(दिसंबर, 2014)

2. नया रिपब्लिक

वे कहते हैं
हत्यारा है तो क्या हुआ
हमारा है

जादू जानता है
बिना आवाज़
सर को धड़ से जुदा कर देता है
बच्चे को तलवार की नोंक पर उठा लेता है

खेल खेल में
जेब से पैसे
थाली से रोटी
हाथ से लुकमा
ग़ायब कर देता है

कितना साफ़ कितना सफ़ेद झूठ बोलता है
कौन कह सकता है कि
झूठ बोलता है

जो कुछ बोलता है
बिंदास बोलता है
डंके की चोट पर बोलता है

बकते रहो देशद्रोहियो!

कि घटिया है
कि बेहया है
वो क्या किसी की परवाह करता है
वो क्या किसी से डरता है
जो कुछ चाहता है
कर गुज़रता है

हर बार
जब शिकार से वापस लौटता है
बंदूक लिये
कंधे पर किसी लाश को डाले
या किसी बस्ती को उजाड़ कर
या कुछ रौंद कर कुचल कर
गिरा कर या मिटा कर
तो मंच पर आता है
पसीना पोंछता है
हाथ-मुंह धोता है
गांधी की तस्वीर पर
फूल चढ़ा कर दिखाता है
दर्प से मुस्कराता है
हाथ हिलाता है
और भीड़ से कहता है, 'ज़रा ज़ोर से बोलो
भारत माता की जय।'

वे चीख़ते हैं
तालियां बजाते हैं
कहते हैं मस्त!
कहते हैं, 'वाओ!
वाओ जानेमन!!
हाउ मैनली! हाउ कूल!!
जुग जुग जियो हमारे शेर!!'

वे कहते हैं
'वाओ! भारत माता के सपूत
एक बार फिर से हमारे लिए आओ
एक बार फिर से अपना जल्वा दिखाओ
एक बार फिर से हांका लगाओ।'

(दिसंबर, 2018)

3. बिना इजाज़त

बिना इजाज़त घास
सर उठाती है पत्थर के नीचे से

पत्थर के नीचे नमी है
और चींटियां इकट्ठा हैं
बेशुमार

बिना इजाज़त पानी
रेंग रहा है सूराख़ों की ओर

आकाश है जो अपना कोई भी टुकड़ा
फेंक देता है
खिड़कियों के पीछे

और हवा सनसनाती
लपटें उठाये
अलमारियों किवाड़ों को झिंझोड़ती
चली आती है कभी भी

बीज दौड़ते हैं
बिना इजाज़त हवा के कंधों पर
गिरते हैं काली गीली मिट्टी के
अपार विस्तार में

वे डूबते हैं गर्भ की ऊष्मा में

भीतर वे जाल बिछाते हैं
और बाहर सिर्फ़ एक
नन्हीं उंगली निकालते हैं

(यह उंगली शाहंशाह की आंखों में गड़ती है)

मो.9896838229

तीन कविताएं

शुभा

1. पंद्रह अगस्त 2019

कपटी हत्यारा
फहरा रहा है ध्वज
नरसंहार के मुकम्मिल
इरादे के साथ

नज़रबंद लोग क्या सोच रहे होंगे

मुझे याद आ रही है आसिफ़ा
सुर्ख़ गुलाब की तरह

यूसुफ़ से इस समय
कोई नहीं मिल सकता

2. दिलरुबा के सुर

हमारे कंधे इस तरह बच्चों को उठाने के लिए नहीं बने हैं
क्या यह बच्चा इसलिए पैदा हुआ था
तेरह साल की उम्र में
गोली खाने के लिए?

क्या बच्चे अस्पताल जेल और क़ब्र के लिए बने हैं?
क्या वे अंधे होने के लिए बने हैं?

अपने दरिया का पानी उनके लिए बहुत था
अपने पेड़ घास पत्तियां और साथ के बच्चे उनके लिए बहुत थे

छोटा-मोटा स्कूल उनके लिए
बहुत था
ज़रा सा सालन और चावल उनके लिए बहुत था
आसपास के बुज़ुर्ग और मामूली लोग उनके लिए बहुत थे
वे अपनी मां के साथ फूल पत्ते लकड़ियां चुनते
अपना जीवन बिता देते
मेमनों के साथ हंसते खेलते

वे अपनी ज़मीन पर थे
अपनों के दुख-सुख में थे
तुम बीच में कौन हो?

सारे क़रार तोड़ने वाले
शेख़ को जेल में डालने वाले
गोलियां चलाने वाले
तुम बीच में कौन हो?

हमारे बच्चे बाग़ी हो गये
न कोई ट्रेनिंग
न हथियार
वे ख़ाली हाथ तुम्हारी ओर आये
तुमने उन पर छर्रे बरसाये

अंधे होते हुए
उन्होंने पत्थर उठाये जो
उनके ही ख़ून और आंसुओं से तर थे

सारे क़रार तोड़ने वालो!
गोलियों और छर्रों की बरसात
करने वालो!
दरिया बच्चों की ओर है

चिनार और चीड़ बच्चों की ओर है
हिमाले की बर्फ़ बच्चों की ओर है

उगना और बढ़ना

हवाएं और पतझड़
जाड़ा और बारिश
सब बच्चों की ओर हैं
बच्चे अपनी कांगड़ी नहीं छोड़ेंगे
मां का दामन नहीं छोड़ेंगे
बच्चे सब इधर हैं

क़रार तोड़ने वालो!
सारे क़रार बीच में रखे जायेंगे
बच्चों के नाम उनके खिलौने
बीच में रखे जायेंगे
औरतों के फटे दामन
बीच में रखे जायेंगे
मारे गये लोगों की बेगुनाही
बीच में रखी जायेगी
हमें वजूद में लाने वाली
धरती बीच में रखी जायेगी

मुक़दमा तो चलेगा
शिनाख़्त तो होगी
हश्र तो यहां पर उट्ठेगा।

स्कूल बंद है
शादियों के शामियाने उखड़े पड़े हैं
ईद पर मातम है
बच्चों को क़ब्रिस्तान ले जाते लोग
गर्दन झुकाये हैं
उन पर छर्रों और गोलियों की बरसात है।

3. मातम

औरतें चारों दिशाओं को बीच में लेकर खड़ी हुईं
हवा में एक गोल बना कर उन्होंने बैन किये

हम दुनिया में अकेले रहे
घर सूने थे

दिल सूने
तह दर तह सन्नाटे थे
हमारे दुपट्टे खींचे गये
हमारे केश लपटों में झोंक दिये गये
हमारा पानी छीन लिया गया।

जैसे नदियां सूखीं
जैसे ग्लेशियर ख़त्म हुए
जैसे लावा ठंडा हुआ
हम पत्थर हुईं
खनिज सहेज कर

जैसे धरती का खनिज लूटा गया
हमारा पारा छीन लिया गया

वहां कोई हमारा नहीं था
हमारे बच्चे छीने गये कोख सहित
वहां कोई नहीं था

हमारा श्रम एक हिंसक जानवर चबा गया
वहां कोई नहीं था

हमारा नमक व्यर्थ हुआ वहां कोई नहीं था
हमें किसी ने नहीं छुआ
हमें किसी ने नहीं देखा
कोई हमसे नहीं बोला

हमने धरती छोड़ दी
वहां कोई नहीं था

हम वहां रो रही हैं
जहां कोई नहीं है।

मो. 9896310916

दो कविताएं

कुमार अम्बुज

1. यातना शिविर में नहीं हूं

अगस्त की एक रात में होती है तेज़ बारिश
पौ फटने तक बह जाते हैं सारे रास्ते
टूट जाते हैं तमाम पुल, बंद हो जाते हैं दर्रे,
यह बर्फ़बारी का मौसम नहीं है मगर बर्फ़ के नीचे
दब जाते हैं सारे फूल, इच्छाएं, आशाएं और घास
सिर्फ यातनाएं चमकती रहती हैं बर्फ़ के ऊपर
अब आप लिख सकते हैं : अगस्त सबसे क्रूर महीना है

अगस्त में हुआ था सदी का सबसे बड़ा धमाका
अगस्त में ही मज़लूमों का आत्मसमर्पण
अगस्त की तारीख़ों में से उठता था विकिरण
जिसने घेर लिया था तमाम महीनों को, सभ्यता को
अगस्त में ही हुए थे एक देह के दो टुकड़े
बचा रहता है बस, एक शरणार्थी जर्जर दिल
जो उठाता रहता है सारी तकलीफ़ें

आप मान लीजिए कि मैं यातना शिविर में नहीं हूं
मेरी ये उजड़ी तसवीरें तो झूठी हैं, सुबह की धुंध झूठी है
झूठी हैं मुझ पर तनी हुई बंदूकें, झूठी हैं सायरन की ये आवाज़ें
ख़ून की लकीरें झूठी हैं, ये चीख़ें झूठी हैं, झूठे हैं ये घायल जिस्म
थर्ड डिग्री की यह ख़बर झूठ की प्रतिलिपि है, महाझूठी है
झूठे हैं रसोई घर की दीवारों पर गोलियों के निशान
कौन कह सकता है भला मैं यातना शिविर में हूं
जो कह देगा वह शख़्सयित झूठी है
सच्ची है सिर्फ़ मेरी चुप्पी और सच्चाई मेरी झूठी है

ejk dbZ Hkh dguk vc bl dkfj cspSr yc gS
fd dg nwjnsekuuk dksbZ] u dgwaxk ls e>xk dksbZ
t cfd dguk cl bruh lh ckr gSfd v Hkh lalkj esa gwa
ejh vkokt+ ij fuxkg gSejh gLr fyfi ij fuxkg gSA

निगाह है मेरी आंख की पुतली पर, नहीं सकता अब कुछ छिपा,
इसलिए इस सामाजिक चौपाल पर यूनिकोड में लिखता हूं
कि इस महादेश में हूं, जब तक मुमकिन है ज़िंदा हूं, मज़े में हूं,
और किसी यातना शिविर में नहीं हूं।

2. जवाबदारी

फुटपाथ पर सोते भीख मांगते लावारिस लोगों के लिए
या तो ईश्वर जवाबदार है या पिछली सरकार
या पिछली से पिछली से पिछली से पिछली सरकार
जो आज वह ख़ुद है लेकिन अब वह जवाबदार नहीं
कि यह तो एकदम नयी सरकार है एक नया गठबंधन

महंगाई भ्रष्टाचार शीतलहर या बम धमाकों के लिए
हमेशा ही जवाबदार ठहराया जाता है दूसरा पक्ष
और वह इसका तुरंत ही करता है प्रतिवाद
उधर हथियार बेचने वाला रसीद में लिखकर देता है
कि हम बंदूक़ बेचते हैं, चलाते नहीं
चलाने वाला कहता है मैं आदेश पर चलाता हूं
आदेश देने वाला कहता है मैंने रक्षा की है संविधान की
इस तरह यहां भी ख़त्म हो जाता है जवाबदारी का मसला

न्यायालय फ़ैसला करते हैं न्याय की जवाबदारी नहीं लेते
जैसे पुलिस सुरक्षा की और वन विभाग जंगल की
स्वास्थ्य विभाग स्वास्थ्य की जवाबदारी नहीं लेता
कारख़ाने कामगारों की और बच्चे मां-बाप की जवाबदारी नहीं लेते
बस इधर उधर बिखरे हैं कुछ लेखक, कवि, विचारक,
जो दुनिया भर के किये-अनकिये के लिए लगातार
मानते रहते हैं ख़ुद को ही अपराधी और जवाबदार
इस क़दर कि हत्या आत्महत्या को लेकर करते हैं विचार

जिनकी कर दी गयी हत्या या जो कर चुके आत्महत्या
उन किसानों, मज़दूरों, लेखकों, पत्रकारों के जवाबदार होने में
सरकार को अभी तक शक़-शुबहा है
कि अगर वे जवाबदार होते वाक़ई, तो यों ही मर नहीं जाते

तीन कविताएं

अष्टभुजा शुक्ल

पद-1

साथी! अपना गांव रखाना
चौकस, इस दुर्दांत काल का कोई नहीं ठिकाना
पंचसितारों की चकमक में घर को भूल न जाना
जब तब ढोल-मजीरा लेकर चैता-फगुआ गाना
पाई-पाई पर पहरा है, सैनिक आना-आना
गोबर में चिड़िया बिदखोरे, पानी मिले न दाना
मुंह में राम, बग़ल में छूरी, पहने पीयर बाना
जाति धर्म पर ख़ून ख़राबा करते उखमज नाना
नेता, तस्कर से प्रधान तक सब मौसेरे भाई
हम सूखी रोटी को तरसें, उनके लिए मलाई
इसी साल के सड़क-सेतु सब, इसी साल बेहाल
ठेकेदार सड़क के व्रण-लेपन से मालामाल
पांच वर्ष पर जुटें मदारी, खेल करें बहुरंगा
जोतें मरें बैल सब हांफें, बैठे खायं तुरंगा
कल के बनिया हुए आज के सेठ, मारते लाखों
फलता-फुलता गोरखधंधा, देख रहा हूं आंखों
कुत्ते पूंछ हिलाते चलते, चिक्कन तलुवा चाटें
अष्टभुजा के शब्द ओल-से, कानों को गर काटें।

पद-2

फूंकन, देश फूंक जायेंगे
बिल्ली लाल देख घर घर पर मंद मंद मुस्कायेंगे
चिर्राहिन, जट्ठाहिन, गंधें सूंघ सूंघ मतुवायेंगे
दो को एक न देख सकें ये दूध, ख़ून अलगायेंगे

जाति, धर्म, भाई-भाई में कटाजुद्ध करवायेंगे
ख़ुद चिनगारी फेंक, घड़ा ले सबसे आगे धायेंगे
म्हारे ख़ून पसीने पर ये आंसू बहुत बहायेंगे
गधे को बाप, बाप को गदहा, अवसर देख बतायेंगे
भड़ुआगीरी स्वयं करेंगे, कत्थक हमें नचायेंगे
बंदरबांट करेंगे हममें, पूरी ख़ुद खा जायेंगे
अष्टभुजा इनको लेकर हम साथ रसातल जायेंगे।

शासनादेश

छप्पर जो छाओ
तो आग मत जलाओ

आग जो जलाओ
तो खिचड़ी मत पकाओ

खिचड़ी जो पकाओ
तो हमारा ही नमक खाओ

हमारा नमक खाओ
तो बंधक बन जाओ

बंधक बन जाओ
तो दोनों हाथ उठाओ
—यही शासनादेश है

तीन कविताएं

लाल्टू

1. जब तक चांद देख पाता हूं, खुद को आज़ाद रखूंगा

उस शाम एक खेत के किनारे सड़क पर खड़े मैंने आस्मां में चांद देखा। चांद घूमने निकला था। हम अपने तय रास्ते पर नहीं चल रहे थे। चांद हमारी भटकन देख रहा था। शाम धुंधली-सी थी और हम बज़िद इस ओर चले आये थे।

पास छोटा शहर था। यहां की अज़ान और मंदिरों की घंटियां किसी भी छोटे शहर की अज़ान और मंदिर की घंटियां थीं। यहां इंक़लाब के सपनों का स्मारक धरती पर कहीं का भी इंक़लाब के सपनों का स्मारक था। नीले-से फैल रहे अंधेरे में शहर का नाम प्रतिरोध था। पास से तरह-तरह के वाहन गुज़र रहे थे, जो शहर की ओर आ-जा रहे थे।

मैंने सोचा कि धरती पर चारों ओर आ-जा रहे लोग गुलाम हैं जिनको धरती का संतुलन बनाये रखने का काम दिया गया है। एहसास हुआ कि मैं गुलाम हूं, पर मैंने तय किया कि मैं धरती को गतिकक्ष में बांध नहीं रखूंगा। जब तक चांद को देख पाता हूं, खुद को रखूंगा। पैर गुलामी करते हुए थक चुके थे। मैं ज़मीं पर बैठ गया और मिट्टी पर लकीरें खींचने लगा।

ढलती शाम के अंधेरे में जागते हुए एक सपना देखा। सपना मुझसे थोड़ी दूर खड़ा था। वक़्त के पैमाने पर वह मुझसे पचास साल पीछे से मेरे साथ था। सपने में नारों की गूंज थी। सपने में बहुत सारी औरतें और बच्चे एक सपने के साथ थे, जिसका नाम आज़ादी था। सपने में औरतें गिर रही थीं, उनकी पुष्ट टांगों से ख़ून बहने लगा था। मैं सपने में चीख़ पड़ा।

मैंने सोचा कि पंक्चर ठीक होते ही मैं उन औरतों को एक-एक कर अस्पताल ले जाऊंगा। वहां फ़रिश्ते उन पर पट्टियां लगायेंगे। चारों ओर आज़ादी के गीत गुनगुनाती आवाज़ें थीं। अंधेरा बढ़ चुका था और कहीं से अंधड़-सा उठ खड़ा हुआ था। पास कहीं से केतली और कुल्हड़ लिये एक चाय वाला हमें चाय पिलाने आया था। हम अंदाज़ा लगा रहे थे कि कितनी देर में बारिश आ सकती है। उस वक़्त धरती पर हर शहर का नाम प्रतिरोध था और हम हर कहीं के इंसान थे।

2. मुल्क़ की माली हालत सुधारने का फ़ॉर्मूला

मलंगों को बांध रखने की नयी तकनीक आ गयी है। केंद्र खोले गये हैं जहां चौबीस घंटे ज़िस्म के पोर दिखाये जायेंगे, जिनकी खोज हाल में हुई है। मलंग इनको देखकर नाचते हैं और कभी नहीं रुकते। नाचते हुए वे टट्टी-पानी करते हैं, चाय-नाश्ता करते हैं और हुक्काम की जै-जैकार करते हैं। बेशक यह मलंगों की ज़िंदगी में बड़ा बदलाव है। वे दौड़ते आते हैं और अंदर जाने की मांग करते हैं। कुछ पोस्टर लिये खड़े होते हैं, जिन पर लिखा है—हाइल हिटलर, हाइल हमारा नेता, जै गोमाता। केंद्र से बाहर खड़े होकर कांच की दीवारों से वे अंदर के मंज़र देखते हैं। तरह-तरह के जिस्मानी पोर देखते झूमते हैं। खुद पर चाबुक बरसाते हैं। रति-अतिरेक जैसी चीख़ें गूंजती हैं। उनको संभालने आये पुलिस के सिपाही उनके उल्लास में शामिल हो जाते हैं। नाचते हुए ताप के एहसास से वे वर्दियां खोल डालते हैं। कुछ जांघिये पहने नाचते हैं।

यह तकनीक मुल्क़ की माली हालत सुधारने का फ़ॉर्मूला है। हुक्मरान अपने-अपने इदारों में हर कारिंदे को मलंग-नाच में शामिल होने के लिए कहते हैं। लोग सुबह लंबी क़तारों में खड़े होते हैं और शाम को नाच रहे होते हैं। कौन कितनी देर किन पोरों को देखता-सूंघता नाचेगा, इस पर बहस होती है। सिपाही अलग-अलग नाचते गुटों में शामिल होकर कहते हैं कि वे न्याय-शृंखला के काम में लगे हैं।

एक वक़्त था, जब मलंग अदब की राह ढूंढ़ने निकले थे। वे एक-दूसरे को पुराने अदीब की कहानियां सुनाते रहे, जिसने कहा था कि 'चांद का मुंह टेढ़ा है'। एक-एक कर सभी नाच में शामिल होने लगे। अब उन पर माता चढ़ आयी है। धूप-धूनी में नीमबेहोशी में खोये वे कविताएं पढ़ते हैं और परंपरा का जयगान गाते हैं। नेता की तोंद उनको देखकर खिलखिलाती है। हुक्म जारी होता है कि नये जिस्मानी पोरों को सूंघने वाले सब का नाम बदल कर देशभक्त हो गया है।

3. नेता का तोहफ़ा

आओ मुल्क के लोगो !
काश्मीर से कन्याकुमारी तक
लाइन लगाओ
महान नेता का हुक्म है

कि मुल्क की सारी समस्याएं बस तुम्हारे होने से हैं

इसलिए फ़रमान जारी हुआ है
कि कन्याकुमारी में आख़िरी छोर पर खड़े नागरिक के पाछे
बांधा जायेगा देशभक्त वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत नव्यतम बम

परमाणु, लेज़र वग़ैरह बहुत कुछ है इस बम में
बत्ती लगाते ही पल में सबको पाकिस्तान भेजा जायेगा
वहां जाकर सब लोकतंत्र की मांग करना
यह नेता का तोहफ़ा है
आज रात बारह बजे यह शुभकार्य संपन्न होगा

दुनिया भर के हुक्काम रीस से भर गये हैं
कि हिंदुस्तान के शहंशाह ने यह कारनामा दिखलाना है
अलग-अलग ज़ुबानों में ख़बरें सुनायी जा रही हैं

कहीं कहीं नयी जंगें छिड़ गयी हैं कि
कौन पहले हमारे नेता को गले लगाता है

लाइन में खड़े होने वाले हर किसी को बार-बार राष्ट्रगान सुनाया जायेगा
बाबा श्यामदेव को नाभि के नीचे उत्तेजना के लिए बुलाया जायेगा

सब पाकिस्तान चले जायेंगे और
बस हमारा नेता
गटर-गैस की चाय-बू में सराबोर
श्यामदेव के साथ अर्द्ध-पद्मासन करता अकेले रह जायेगा
इस तरह मुल्क़ एक बार फिर विश्वगुरु बन जायेगा।

मो. 9966878063

दो कविताएं

गौहर रज़ा

1. दर्सगाहों पे हमले

(जे.एन.यू. के छात्रों और छात्राओं के नाम)

दर्सगाहों पे हमले नये तो नहीं
इन किताबों पे हमले नये तो नहीं
इन सवालों पे हमले नये तो नहीं
इन ख़यालों पे हमले नये तो नहीं।

गर, नया है कहीं कुछ, तो इतना ही है
तुम नये भेस में लौट कर आये हो
तुम मेरे देस में लौट कर आये हो
पर है सूरत वही, और सीरत वही।

सारी वहशत वही, सारी नफ़रत वही
किस तरह से छुपाओगे पहचान को
गेरुए रंग में छुप नहीं पाओगे

दर्सगाहों पे हमले नये तो नहीं।

हम को तारीख़ का हर सफ़ा याद है
तक्षशिला हो के नालंदा तुम ही तो थे
मिस्र में तुम ही थे, तुम ही यूनान में
रोम में चीन में, तुम ही गज़ना में थे।

अलाबामा पे हमला हमें याद है
बेल्जियम में तुम्हीं, तुम ही पोलैंड में
दर्सगाहों को मिस्मार करते रहे।

जर्मनी में तुम्हारे क़दम जब पड़े
तब किताबों की होली जलायी गयी
वो चिली में क़यामत के दिन याद हैं
दर्सगाहों पे तीरों की बौछार थी
तुम ही हो तालिबान, तुम ही बोकोहराम
तुम ने रौंदा है सदियों से इल्म-ओ-हुनर
हम को तारीख़ का हर सफ़ा याद है।

तुम तो अक्सर ही मज़हब के जामे में थे
फिर ये क्यों है गुमां, आज के दिन तुम्हें
धर्म की आड़ में, छुप के रह पाओगे
रौंद पाओगे सदियों की तहज़ीब को
हम को तारीख़ का हर सफ़ा याद है
दर्सगाहों पे हमले हैं जब जब हुए
फिर से उट्ठी हैं ये राख के ढेर से
जब जलायी हैं तुम ने किताबें कहीं
हर कलाम बन गया, परचम-ए-इंक़लाब।

आज की नस्ल उठ्ठी है परचम लिये
है ये वाक़िफ़ तुम्हारे हर एक रूप से
तुम को पहचानती है हर एक रंग में
इस नयी नस्ल को
सारे ख़ंजर परखने की तौफ़ीक़ है
इस नयी नस्ल को
दस्त-ए-क़ातिल झटकने की तौफ़ीक़ है।

2. ज़र्द पत्तों का वन

ज़र्द पत्तों का वन जो मेरा देस है
दर्द की अंजुमन जो मेरा देस है
जब पढ़े थे ये मिसरे तो क्यों था गुमां
जर्द पत्तों का वन, फ़ैज़ का देस है

दर्द की अंजुमन, फ़ैज़ का देस है
बस वही देस है।
जो कि तारीक[1] है

बस उसी देस तक है

ख़िज़ां की डगर
बस वही देस है ज़र्द पत्तों का वन
बस वही देस है दर्द की अंजुमन
मुझ को क्यों था यक़ीं
के मेरे देस में
ज़र्द पत्तों के गिरने का मौसम नहीं

मुझ को क्यों था यक़ीं के मेरे देस तक
पतझड़ों की कोई रहगुज़र ही नहीं
इस के दामन पे जितने भी धब्बे लगे
अगली बरसात आने पे धुल जायेंगे

अब जो आया है पतझड़
मेरे देस में
धड़कनें ज़िंदगी की हैं
रुक सी गयीं

ख़ंज़रों की ज़बान रक़्स[2] करने लगी
फूल खिलने पे पाबंदियां लग गयीं
क़त्लगाहें सजायी गयीं जा-ब-जा
और इंसाफ़ सूली चढ़ाया गया

ख़ून की प्यास इतनी बढ़ी, आख़िरश
जाम-ओ-मीना लहू से छलकने लगे
नाम किसके करूं
इन ख़िज़ाओं को मैं

किस से पूछूं
बहारें किधर खो गयीं

किस से जाकर कहूं
ज़र्द पत्तों का बन, अब मेरा देस है
दर्द की अंजुमन, अब मेरा देस है

ऐ मेरे हमनशीं
ज़र्द पत्तों का वन, दर्द की अंजुमन

आने वाले सफ़ीरों[3] की क़िस्मत नहीं
ये भी सच है के उस फ़ैज़ के देस में

चांद जुल्मत के घेरे में कितना भी हो
नूर उसका बिखरता था हर शब वहां
पा-बा-जोलां[4] सही, फिर भी सच है यही

ज़िंदगी अब भी रक़्सां[5] है इस देस में
क़त्लगाहें सजी हैं अगर जा-ब-जा[6]
ग़ाज़ियों[7] की भी कोई कमीं तो नहीं
और मेरे देस में
रात लंबी सही,
चांद मद्धम सही

मुझ को है ये यक़ीं
ख़लक़[8] उट्ठेगी हाथों में पर्चम लिये
सुबह पाजेब पहने हुए आयेगी
रन पड़ेगा बहारों-ख़िजाओं का जब
रंग बिखरेंगे, और रात ढल जायेगी

ज़र्द पत्तों का वन भी सिमट जायेगा
दर्द की अंजुमन भी सिमट जायेगी

मो. 9810358179

---

1. तारीक=अंधेरा, 2. रक़्स=नाच, 3. सफ़ीर=दूत, 4. पा-बा-जोलां=बेड़ियों में पैर, 5. रक़सां=नृत्य करती, 6. जा-ब-जा=जगह-जगह, 7. ग़ाज़ी=जान की बाज़ी लगाने वाले, 8. ख़लक़=जनता

तुम नेता हो

जावेद मलिक

तुम नेता हो तो मुमकिन है
हर ज़ोरो ज़बर हर जुल्मो सितम
तुम नेता हो तो मुमकिन है
हो रंग बिरंगा मुल्क ख़तम

तुम नेता हो तो मुमकिन है
फ़िरदौस लगे दोज़ख़ की तरह
तुम नेता हो तो मुमकिन है
कि ख़ून बहे झेलम की तरह

तुम नेता हो तो मुमकिन है
अपनों की शक्ल हो बेजानी
तुम नेता हो तो मुमकिन है
हर दिल में बसी हो वीरानी

तुम नेता हो तो मुमकिन है
कि नफ़रत का तूफ़ान उठे
तुम नेता हो तो मुमकिन है
हर शख़्स सुबह बेजान उठे

तुम नेता हो तो मुमकिन है
हर ख़बर यहां हो सरकारी
तुम नेता हो तो मुमकिन है
वो बोले जो है दरबारी

तुम नेता हो तो मुमकिन है
बाक़ी सब ख़ामोश रहें
तुम नेता हो तो मुमकिन है
सब होश में भी बेहोश रहें

तुम नेता हो तो मुमकिन है
हो झूठों का बाज़ार यूं ही
तुम नेता हो तो मुमकिन है
तुम ही जीतो हर बार यूं ही

पर ये भी तो मुमकिन है
मख़लूक़ उठाये अपना सर
और इक ऐसा सैलाब उठे
कि टिक न सको तुम मसनद पर

कदंब की डाल

दिनेश कुमार शुक्ल

सखि, डाल कदंब की डोलती है
चहुं ओर सुधारस घोलती है। सखि...

रेत-सी धूप है खेत चुपचाप हैं
मेंड़ पर ऊंघते पेड़ चुपचाप हैं
सूखते रूख की आत्मा में कहीं
जो तरलता बची है सो डोलती है
प्यार से ज़िंदगी को टटोलती है
जो ये डाल कदंब की डोलती है। सखि...

अब न यमुना रही ना रहा वेणुवन
अब न मुरली की धुन ना कहीं श्यामघन
तप रही है मही तप रहा है गगन
और बरसों से सोया पड़ा है पवन
फिर भी जीवट तो इसका ज़रा देखिए
एक लौ-सी लगी है सो डोलती है। सखि...

वो नहर के किनारे जहां पेड़ थे
जिनकी माटी में जीवन का गुंजार था
खेलता जिनमें फ़सलों का अंबार था
उसमें भट्ठे का ज्वालामुखी बो दिया
रात दिन अब धधकता धरा का हिया
चिमनी माहौल में ज़हर घोलती है
फिर भी डाल कदंब की डोलती है। सखि...

हमने सोचा था अबकी फ़सल जो कटी
जाके कंगन तुम्हारे छुड़ा लाऊंगा
और कपड़े नये सबको सिलवाऊंगा
मां को काशी प्रयाग करा लाऊंगा
और छप्पर नया घर पे डलवाऊंगा।
लेकिन बादल जो आये तो अफ़सर बने।
जीप पर तन के आये औ' चलते बने
उनके बंगलों में फूहड़ चमन है खिला
आग में भुन रहा है कि सारा ज़िला
आप कीजेगा जाकर के किससे गिला
बेरुख़ी का बड़ा लंबा है सिलसिला।
बेरुख़ी के कुतंत्र को तोड़ती है
जो ये डाल कदंब की डोलती है। सखि...

आग का, ध्वंस का यह महाज्वार है
क्या अजब युद्ध है मूसलों मार है
धर्म अब एक महामार हथियार है
जाति की एक कुटिल धार तलवार है
भाई भाई को खाने को तैयार है
दांएं बाजू का बांयें पे ये वार है
ऐसा खुदकुश समां वक़्त दुश्वार है।
और महलों में बैठा गुनहगार है
जिसकी दुर्नीति का भेद खोलती है। सखि...

और इतिहास के दौर में जब कभी
सभ्यता शक्ति अपनी बटोरती है
सोती चेतना को झकझोरती है,
न्याय का सूर्य होता उदय है तभी,
मुक्ति मिलती है सारी कुरूपता से,
सूखती पतझरी शाख़ पर जब कभी
एक कोंपल सुनहरी-सी फूटती हैं। सखि...

मो. 9810004446

दो कविताएं

अनिल गंगल

1. कृतज्ञताएं

हम कृतज्ञ हैं उन हत्यारों के प्रति
जिनकी गौरव गाथाएं इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं

हमारे दिलों और दिमाग़ों के रग-रेशों में
मनुष्य से नफ़रत का बीज उन्होंने ही बोया
सीखा हमने उनसे ही
चलती-फिरती सांस लेती मनुष्य देहों को
निष्प्राण देहों में बदलना
हमने सीखा उनसे
हरी-भरी बस्तियों को उजाड़ क़ब्रिस्तानों में बदलना

सौरमंडल के किसी बाहरी ग्रह से नहीं आये थे हत्यारे
हमारे ग्रह पर ही हमारे ही बीच से उगे थे वे
जहरबूटी की तरह
नहीं जानते थे हम नफ़रत की भाषा और कूटलिपि उनसे पहले
उनके आने के बाद ही हम सीख सके
घृणा और जुगुप्सा पैदा करने वाले दृश्य
कैनवास पर उकेरना

हम कृतज्ञ रहेंगे सफ़ेदपोश हत्यारों के प्रति
जिनसे सीखा हमने आस्तीनों में सांप-संपोले पालना
उनके आप्त-वचनों से ही जान सके हम
ताजा बहते मानव-रक्त के स्वाद के बारे में

हत्यारों के प्रति कृतज्ञताओं की सूची रहेगी अधूरी
यदि स्मरण न दिलाया जाये
कि बुद्ध की कथा का बखान करते हुए

उन्होंने ही सिखाया हमें
सफ़ाई से मनुष्य की जेब और गर्दन रेतने का हुनर

गूंगे-बहरे-अंधे न्याय का तकाज़ा है
कि हमसे हमारी मनुष्यता को छीन लेने के एवज
हत्यारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित न की जाये
तो हत्यारों के प्रति यह सरासर नाइंसाफ़ी होगी.

2. चमत्कार

क्या ही चमत्कार था
कि इन दिनों राजनेता हत्यारों जैसे
और हत्यारे राजनेताओं जैसे दिखने लगे थे

दिन की रोशनी में
एक खास रंग की टोपी और लिबास पहनते ही
हत्यारे का चेहरा राजनेता के चेहरे में बदल जाता था
रात होने पर
राजनेता अंधेरे के रंग में हो जाता था इस कदर हमआहंग
कि हत्यारे और राजनेता के बीच फ़र्क़ कर पाना
होता था एकदम नामुमकिन

राजनेता की मानिंद हत्यारा भी होता था सौ फ़ीसदी धार्मिक
कि हत्या करने से पहले
अपने देवी-देवता के आगे शीश ज़रूर झुकाता था
मांगता था आशीर्वाद
कि लौटे वह सफलता का झंडा उठा
दुर्दम्य हत्या के उपरांत

दोनों बगलगीर एक ही शिवलिंग पर चढ़ाते थे दूध
और एक ही तकिये पर चादर

हत्यारे की तरह राजनेता के हाथों पर भी
होते थे अदृश्य दस्ताने
जिनके भीतर उसके हाथ भी अवाम के ख़ून से सने होते थे

दोनों ही गाते थे मिल कर एक ही समूह गान
राजनेता की तरह हत्यारा भी चीख़-चीख़ कर घोषित करता था
कि सिर्फ़ वह ही है
जो अपने राष्ट्र से बेहद प्रेम करता है
इसी राष्ट्रप्रेम की ख़ातिर जिस-जिसकी भी हत्या की उसने
सभी तो थे राष्ट्रद्रोही

कहता था वह
कि राष्ट्र के लिए वह अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकता है
और प्राण ले भी सकता है

एक दिन पाया जाता था हत्यारा और राजनेता
एक-दूसरे से गले मिलते हुए
कि भरत-मिलाप का भावुक दृश्य कहीं नेपथ्य में
खिसक जाता था
जबकि धरती की हवा मजलूमों की कराह
आंसुओं और सिसकियों से आकंठ भरी होती थी.

मो. 8233809053

भाषा का सही इस्तेमाल

अजय सिंह

(लंबी कविता के कुछ अंश)

हत्यारे को
हत्यारा ही कहा जाना चाहिए
चाहे वह प्रधानमंत्री हो
या राष्ट्रपति
या मुख्य न्यायाधीश
या सेना प्रमुख

हत्यारा सिर्फ़ हत्यारा होता है
बाक़ी उसकी अन्य पहचान
हत्या के गुनाह को
छुपाने के लिए होती है

हत्या कई औजारों से की जाती है
इनमें कलम की नोंक
विचार की नोंक
शामिल है
हत्यारे का इतना ही कहना काफ़ी है :
'हिंदुओं को अपना गुस्सा
निकालने का मौक़ा दिया जाना चाहिए'
या, 'कश्मीर में सेना को
पूरी छूट दे दी गयी है'
या, 'वे अगर एक हिंदू लड़की को
उठाते हैं, तो हम 100 मुसलमान लड़कियों को उठा लेंगे'
फिर देखिए
आग और तलवार का खूनी खेल

हत्यारे सड़क पर हैं और संसद में
वे हर संस्थान में मौजूद है।
....
...इन सबसे

हत्या के गुनाह ख़त्म नहीं हो जाते
न हत्यारे की शिनाख़्त छुपती है
खून का एक-एक क़तरा
हिसाब मांगता है
चाहे कितनी सदियां बीत जायें
इंसाफ़ के लिए जद्दोजहद
कभी ख़त्म नहीं होती
नाइंसाफ़ियां चिल्लाती रहती हैं
पड़ोसी देश बंगलादेश को देखो
40-45 साल पहले किये गये
मानवता के ख़िलाफ़ अपराध के लिए
पिछले कुछ सालों से मुक़दमे चल रहे हैं
और कइयों को सज़ा सुना कर
फांसी पर लटका दिया गया है

अपने देश में भी ऐसा हो सकता है

मानवता के ख़िलाफ़ अपराध करने वाले
महत्वपूर्ण पदों पर क़ाबिज़ हैं
वहां से इन्हें बेदख़ल करना है
इसके लिए ज़रूरी है
बेख़ौफ़ अंदाज़ में
हत्यारे को हत्यारा कहना
उसे अन्य सारी पहचान से वंचित करना

हत्यारे को हत्यारा कहना
भाषा के सही इस्तेमाल की
पहली सीढ़ी है

मौन

हीरालाल राजस्थानी

मौन लौट आया है
अन्याय को दुत्कारता हुआ
स्त्रियों के घूंघट में छुपकर
पदचाप से करता हुआ विद्रोह
मौन संगीत सा फैल गया है
संगीत प्रेमियों के कान तक
मौन सजा रहा है नृत्य की लय में झूमता हुआ
मौन रम चुका है अभिनय की कसावट में
मंजे हुए अभिनेता की तरह
मौन लहरों की मौज में कर रहा है बसेरा
अपने अज्ञातवास के साथ अकेला ही
रंगों की छटा में बिफर रहा है घनघोर बादलों सा
बदल बदल कर आकृतियां अनजानी सी
फूलों की ख़ुशबू में जम गया है मौन
फैल गया है हवा के कण-कण में सांस बनकर
मौन बस गया धरा की रग-रग में
बनकर हरियाली के बीज
जो बस अंकुरित होने को आतुर ही हैं
अभिव्यक्ति के अक्षर सीख गये हैं
मौन होकर चिल्लाना
वे तय कर चुके हैं
मौन के सैनिक बने इशारों को
मौन बुन रहा है शोर के विरुद्ध आंदोलन।

मो. 9910522436

तीन कविताएं

पंकज चतुर्वेदी

1. आततायी पूछता है

आततायी पूछता है :
तुम लोग
आततायी हो क्या?

भीड़ हर्षध्वनि करती है :
नहीं!

फिर यह सवाल :
मैं आततायी हूं क्या?
हर्षध्वनि :
नहीं!

और अंत में :
हम सब
आततायी हैं क्या?

और भी उल्लास से
भीड़ निनाद करती है :
नहीं!

इस तरह शांति
और सद्भाव का ज़माना
चलता है
हमारे देश में

2. कुछ ग़ैर-राजनीतिक शब्द

ग़ैर-राजनीतिक वह भी
दिखना चाहता है
जो सत्ता के शीर्ष पर है

और वे भी
जो उसके विरोध की
राजनीति से आहत हैं

दोनों के बीच
मैत्री स्पष्ट है
और दोनों ही
स्वयं राजनीति करते हुए
दूसरों से ख़ामोशी का
आश्वासन चाहते हैं

एक नाउम्मीदी का बीहड़
जिसमें आदमी को
मारा जा सके
रोज़मर्रा के काम की तरह
और वह
चुपचाप मर सके
इंसाफ़ की किसी
ख़्वाहिश के बग़ैर

अधिक से अधिक
हत्यारे की सराहना में
कुछ ग़ैर-राजनीतिक
शब्द कहता हुआ

मसलन :
'आपने मुझे जन्नत बख़्श दी
आपका शुक्रिया!'

3. वह कविता नहीं थी

सुबह का वक़्त था
वे चार थे

सियासत की बात चली
मैंने कहा : 'नफ़रत

और हिंसा की
आक्रामक राजनीति
हो रही है'

उनमें जो सबसे बुज़ुर्ग था
उसने मुझे डपटते हुए पूछा :
'हिंसा कहां हो रही है
कहां है नफ़रत?'

मैंने जवाब दिया :
'कहीं नहीं
चारों ओर
प्यार का माहौल है'

इस पर वह ग़ुस्से में
चीख़ते हुए बोला :
'माहौल ख़राब
कर रहा है साला!'

कुछ लोग
ख़ालिस कुतूहल से
यह तमाशा देखने लगे

एक भद्र जन ने
मुझे निकल जाने का
इशारा किया

सुबह के समय
वह मुक्तिबोध की कविता
'अंधेरे में' नहीं थी

अंधेरा उससे निकलकर
सड़क पर छा गया था
और उसका लफ़्ज़ 'साला'
मेरे बहुत क़रीब
आ गया था

मो. 9354656050, 9425614005
ईमेल : pankajgauri2013@gmail.com

दो कविताएं

संजीव कौशल

1. फ़ासला

हमने युद्ध नहीं बुद्ध दिये
और बुद्ध के अनुयायी
पीट पीट कर खदेड़ दिये

हमने गांधी दिये
और गांधी के हत्यारे
इत्मीनान से छिपा लिये
हमने वसुधैव कुटुंबकम् कहा
और लोगों को
जातियों में बांट दिया
जातियां जहां हिंसा के
नये नये प्रयोग हुए
हमने कहा
अहिंसा परमो धर्मः
और धर्म हिंसा तथैव चः
को ढंक लिया

2. कबूतर

मस्जिद से उड़ उड़ कर
मंदिर के कंगूरों पर बैठ रहे हैं कबूतर
अपने पंखों में नमाज़ की आयतें भर
बिखेर रहे हैं उन्हें
भजनों के छंदों पर

मंदिर की घंटियों से घंटों बतियाते हैं
और भजनों के बोलों से
मस्जिद की सफ़ेद दीवारें रंग आते हैं

21वीं सदी में भी इन्हें
मंदिर मस्जिद का फ़र्क़ नहीं मालूम
बेवकूफ़ों को
नमाज़ और भजन का अंतर नहीं मालूम
कभी मस्जिद पर
कभी मंदिर पर
अपनी गुटर गूं करते रहते हैं
कोई इन्हें रोको
भगाओ
मारो
कंबख़्त धर्मों को भ्रष्ट किये देते हैं।

मो. 9958596170

दो कविताएं

निशांत

1. मुंतज़िर अल ज़ैदी

मैं
मुंतज़िर अल ज़ैदी हूं।

मैंने ही
जार्ज बुश पर जूता फेंका था।

आप
मुझे
भूल जायें
तानाशाह, मुझे याद रखे।

तानाशाह, जब तक ज़िंदा रहेगा
मैं ज़िंदा रहूंगा
मैं, मुंतज़िर अल ज़ैदी।

हिटलर आता है

मोहम्मद गोरी मेरा कोई नहीं था
बाबर बाहर से आया था
अकबर से मेरा कोई नाता नहीं था
दीन-ए-इलाही के बारे में किताबों में पढ़ा था
अच्छा लगा था

जवानी में ज़फ़र

बचपन में रुस्तम मेरा दोस्त था
किशोरावस्था में साजिया के लिए कविताएं लिखी थीं
धर्म से ज़्यादा
ईद बकरीद की सेवंईं और गोश्त अच्छे लगते थे

'थे' को मैं 'है' में बदलना चाहता हूं
फिर से कविताएं लिखना चाहता हूं
सेवंईं और गोश्त खाना चाहता हूं

बार बार एक मुख्यमंत्री
एक प्रधानमंत्री
एक शिक्षा विभाग का अफ़सर
'है' को 'था' की तरह रखते

'है' जब जब 'था' की तरफ़ जाता है
हिटलर आता है।

तीन कविताएं

अनुज लुगुन

1. नागरिकता के सीमांतों पर खड़े लोग

नागरिकता के सीमांतों पर खड़े लोग
संदिग्ध हो जाते हैं
वे बहुसंख्यक आबादी की पूंछ माने जाते हैं
जानवरों की तरह
लोग उनसे अपनी देह की मक्खियां झाड़ते हैं
उन्हें वे अपने पेट तक पहुंचने नहीं देते
अपने सीने से लगने नहीं देते
अपनी जुबान की भाषा तो
उन्हें कभी होने ही नहीं दिया जाता
वे उन्हें
अपने मलद्वार के ठीक ऊपर लटका कर रखते हैं

अकविता की भाषा की तरह
बहुसंख्यक अपने बच्चों को उनसे दूर रखते हैं
वे असभ्य और पिछड़े माने जाते हैं

नागरिकता के सीमांत पर खड़े लोग
कभी जम्मू के हो जाते हैं
तो कभी कश्मीर के
कभी पूर्वोत्तर के हो जाते हैं
तो कभी बस्तर के
वे सीरिया, फ़िलिस्तीन
मैक्सिको, ग्वातेमाला कहीं के भी हो सकते हैं
यहां तक कि वे हमारे घरों में
चूल्हों, चौकियों और चौखटों के हो जाते हैं

धीरे-धीरे वे गुस्सैल हो जाते हैं
वे चिड़चिड़े हो जाते हैं
कभी-कभी तो वे हथियारबंद भी हो जाते हैं

तब उन्हें और आसान हो जाता है
नागरिकता के पायदान से धक्के दे देना

नागरिकता के सीमांत पर खड़े लोग आपकी तरह
मुस्कुराते हुए आधार कार्ड दिखा नहीं सकते
राशन कार्ड लिये हुए भी उनका दिल धड़कता रहता है
वे जानते हैं उन्हें कभी भी अन्न की जगह
जेल की सलाख़ें मिल सकती हैं
वे आपको अपना भूगोल दिखा सकते हैं, मानचित्र नहीं
वे गोद में अपने
बिलखते बच्चों को दिखा सकते हैं, उनका भविष्य नहीं
वे आपको अपनी आंखें दिखा सकते हैं, रुदन नहीं
वे नदियों, नालों, पहाड़ों / और कंटीले रास्तों को पार करते हुए
हमेशा किसी अनिश्चितता में पहुंचते हैं
यह उनकी ख़ूबसूरती है कि / वे हर चीज़ को लांघते हुए
आदमियत के बंद दरवाज़ों को तोड़ते है

2. पत्थलगड़ी

हिंदी में लोगों ने एक मुहावरा बनाया : पत्थर फेंकना
हिंदी के एक कवि ने लिखा 'पत्थरें फेंक रहा हूं'
लोगों ने एक फ़िलिस्तीनी बच्चे को
टैंक के सामने खड़े होकर पत्थर फेंकते हुए देखा
यानी आप अपनी असहमति जता सकते हैं
या, दमन तेज़ हो तो प्रतिरोध स्वाभाविक है

लेकिन हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है
और न ही वे पत्थरबाज़ हैं
उन्होंने तो सिर्फ़ इतना ही कहा कि
पत्थर उनकी पहचान का प्रतीक है
यह उन्हें उनके पूर्वजों से विरासत में मिला है
उनके लिए पत्थर ही पट्टा है
जो न धूप में पिघलता है और न बरसात में गलता है
वे पत्थर गाड़ेंगे और अपने होने का दावा करते रहेंगे
वे कहते हैं कि पत्थरों पर निषेध लगा कर ही
सरकारें उनकी ज़मीन पर सेंध लगाती हैं

आदिवासियों का यह कथन हिंसक माना गया
सरकार ने कहा यह बग़ावत है
और जेल में डाले जाने लगे आदिवासी

कितनी अजीब बात है कि
हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है
न ही वे पत्थर फेंकने का मुहावरा जानते हैं
वे तो सिर्फ़ पत्थर गाड़ना जानते हैं
फिर भी वे पत्थर फेंकने के दोषी माने गये

भाषा का यह फेर पुराना है
सरकार आदिवासियों की भाषा नहीं समझती है
वह उन पर अपनी भाषा थोपती है
आदिवासी पत्थलगड़ी करते हैं
और सरकार को लगता है कि वे बग़ावत कर रहे हैं।

3. सोनभद्र

गांधी परिवार को जोहार
योगी परिवार को जोहार
बहुजनों को जोहार
समाजवादियों को जोहार
जोहार सत्ता के नायकों
जोहार सरकार के कारिंदो
जोहार राजनीति के धुरंधरो!

जोहार कुलाध्यक्ष जी
जोहार कुलपति जी
जोहार परिवार के पुरोहित जी

इस यज्ञ में जोहार
इस कुंड में जोहार
इस भू-खंड में जोहार
इस हत्याकांड में जोहार

जोहार! जोहार! जोहार!

जोहार है तुम्हें
गोहार नहीं है यह
गुहार नहीं है तुमसे
संहार, संहार, संहार है
संहार हुआ है सदियों से
तुम्हारे धर्म के आचार से
तुम्हारे व्यवहार से
तुम्हारी सरकार से

तुमसे नहीं है कोई गुहार
तुम्हें जोहार! तुम्हें जोहार! तुम्हें जोहार!

हमारे हिस्से में है मारामारी
हमारी ज़मीन पर है कब्ज़ेदारी
सरकारी, ग़ैर सरकारी
रेंजर हैं, अधिकारी हैं
सामंत हैं
पूंजीपति हैं
दलाल हैं
तुम्हारे कुलभूषण हैं
भद्र जनों के आभूषण हैं
उन्हें जोहार! उन्हें जोहार! उन्हें जोहार!

अभिवादन नहीं है यह जोहार
यह आख़िरी जोहार है मृतकों के लिए
शर्म है कि तुम आसमयिक मरे
शर्म है कि तुम जीते जी मरे

ज़िंदा है तो सोनभद्र
ज़िंदा हैं तो आदिवासी
ज़िंदा हैं तो लड़ने वाले

लड़ने वालों को हूल जोहार!
सहने वालों को हूल जोहार!
जीतने वालों को हूल जोहार!

मो. 7677570764

दो कविताएं

अनुराधा सिंह

1. पीछे हटती हुई औरत

यह दुनिया के लिए
लज्जा की बात है
कि वह कहे मुझे भूख कम लगती है
नींद की ज़रूरत अधिक नहीं
साज सिंगार रुचता नहीं
कपड़े काम लायक हैं ही
मान सम्मान का क्या है, मिले, न मिले?
यह दुनिया के लिए
शोक की बात है
कि हर दूसरी स्त्री यह कहे
मुझे इस दुनिया से कुछ नहीं चाहिए

क्योंकि कुछ चाहते ही
कैसा तुच्छ कर देते हो तुम उसे

वह मोर्चे पर खड़ी रहती है सामने की कतार में
फिर अपने दावे से एक कदम पीछे हट जाती है
जैसे सुनामी से ठीक पहले समुद्र हट जाता है अपने तट से बहुत पीछे
जैसे बाण छोड़ने के लिए धनुष को खींचा जाता है प्रत्यंचा से पीछे
जैसे धावक आगे दौड़ने से पहले रखता है एक कदम पीछे

तुम गर्व से मुस्कुराते
उसकी बा-हक़ ज़मीन पर पहला क़दम रखते हो
और अपने जायज़ से एक कदम पीछे
हटती हुई औरत
तुम्हारी सभ्यता को हज़ार साल पीछे धकेल
देती है।

2. प्रेम असलहा था

पार्टी कार्यालय में मुख़ालफ़त मेनिफ़ेस्टो
पर्चे झंडे नारे प्रतिरोध के
रंग सुर्ख रंग धधकते आक्रोश के
उन्नीस साला लड़की बुदबुदाती रही, प्रेम
कौन सा असलहा था कैसा बारूद
प्रेम ही था हाथ में
जब मार डाली गयी
मार गयी आधी दुनिया का गूंगापन
मार गयी बाक़ी दुनिया की बुज़दिली
कुचल गयी शातिर ज़माने के दोमुंह

चंबल के करारों में लड़ते थे बाग़ी
जंगल, ज़मीन पर मरते थे नक्सली
लाम पर बराबर सैनिक थे लामबंद
किंतु पराक्रमी था
खाप के सामने डटा
प्रेमी युगल

माथे का पसीना एड़ी तक बहता रहा
कहता रहा, कहता रहा, बस यही कहता रहा
इतनी बड़ी पृथ्वी के एक छोटे छोर पर
छवाने दो हमको अकिंचन एक झोंपड़ी

दुष्कर प्रदेशों में करता रहा प्रेम
डरता रहा शायद आज बिछुड़ जायेंगे
नहीं डरा शायद आज मारे जायेंगे

प्रेम ही था ख़ालिस प्रतिरोध इस सदी का
हमने क़रार दिया गर्हित भगोड़ा
फिर भी डटा रहा अड़ा रहा बना रहा
दहकता महकता
जंगल की खुशबू सा बेहद और बज्जुर।

मो. 9930096966

चार कविताएं

ज्योति लकड़ा

1. सूत्र

ब्राह्मनो, लो रख लो
सूत्र
पास अपने
दरकार नहीं कभी तुम्हारे
मंगल सूत्र
रक्षा सूत्र
और
ब्रह्म सूत्र की
भूमिजा हैं हम
अपने अक्ष पर इठलाती भूमि की तरह
हैं नियम अपने हमारे।

2. अखंड भारत के प्रणेता

अखंड भारत के प्रणेता
भारतीय सूत्र में पिरोते
उन संपूर्ण मूल्यों को
जो पूजते हैं /पत्थरों
पहाड़ा / और नदियों को
विलय करते हुए उन राज्यों की
खंडित मर्यादाओं को
काश जोड़ पाते उन्हें
जो मांगते हैं आज भी
बोडो, विदर्भ, गोंडवाना, कोल्हान
और अलग
नागालैड।

3. फैसला

कोर्ट क़ानून और काग़ज़ के ज़रिये हमें लूट
हमारी ज़मीनें लीं
अब तुले हैं अलगाने
जंगलों पर से हमें
हम जंगली लोग
तुम्हारी सभी तिकड़मों के आगे
पत्थर गाड़ रहे।
अपने सफ़ेदपोश लबादे उतार
भगवा लंगोट में भी गर आये तुम
तो क़सम से / सेंदरा कर दिये जाओगे।

4. वजूद

आज भी याद है मुझे आजी की वे कहानियां
जिनमें टंगे होते पेड़ों पर प्राण
यह जानते हुए भी /कटते रहे पेड़
कटते पेड़ों के साथ ही कट रहे हैं हम
टूटते पहाड़ों की तक़दीर सा टूट रहा है आदमी...
लुप्त नदियों सी विलुप्त हो रही हैं
उसके किनारों पर रची उनकी संस्कृतियां
कटते पेड़ों के साथ ही कट रहे हैं बहुत गहरे वे रिश्ते
जिनसे बंधे हैं हम सब
कहां है अब गांव का गोई–सखी भाई
कहां गयीं सोनपांखी चिड़ियां?
कहां है वे नाग नागिन जिनसे सीखी हमने कलाबाज़ियां
कहां गये वे सहचरी जीव जिनसे सीखे हमने
जीवन के हुनर
कहां छपित हुए इंद्रधनुषी वादा लिये हमारे नेता
कहां गये महतो, माझी, मुंडा
क्या कटते पेड़ों सा कट रहे हैं सब?
फिर भी हम काटते हैं पेड़ / बनाने के लिए घर
पर
बचा पायेंगे क्या
बग़ैर पेड़ों के अपना वजूद

मो. 9113325669

अन्याय के विरुद्ध

चंद्रकांता

औरतों पर बनने वाली ख़बरें कभी बासी नहीं होतीं।
ताज़ा ख़बर है–
एक आदमी की हत्या के शक में
भीड़ ने एक औरत के वस्त्र फाड़कर
पहले उसे नंगा किया
बीच बाज़ार में ख़ूब दौड़ाया
और फिर सरेआम पीटा
सुना है वह महिला 'रेड लाइट एरिया' से थी

उफ्फ! समाज का इस तरह भीड़ में बदल जाना कितना भयावह है।

बहरहाल, समाज का कोई ठेकेदार ब्यौरा देगा!
कितने बलात्कारियों,
कितने दहेज लोभियों
कितने एसिड अभियुक्तों
और कितने 'ऑनर किलिंग' करने वालों को
भीड़ से भि-न-भि-ना-ती हुई सड़क पर पीटा गया है?
नंगा कर इस तरह खुलेआम घसीटा गया है?

क्या हमारे समाज का समस्त बल केवल महिला के लिए है!

सुनो लड़कियो!
फफूंद लगा हुआ यह समाज नहीं बदलने वाला
लेकिन तुम बदल सकती हो! इसलिए
पति छोड़ देगा?
परिवार की बदनामी होगी?
बहनों से कौन ब्याह करेगा?
इसकी परवाह तुम मत करो
नैतिक-अनैतिक के फेर में तुम मत पड़ो
उतार फेंको संस्कारों का लिहाफ़

साथियो, तुम खड़ी हो जाओ इस समस्त व्यवस्था के ख़िलाफ़।

सनद रहे
तुम एक सड़ चुके समाज का हिस्सा हो
जो नहीं चाहता तुममें जीवन का स्पंदन हो
तुम जियो और जीवन के गीत गाओ
इसलिए अपनी सुरक्षा का दायित्व खुद संभालो
कोई एक थप्पड़ मारे
तुम लात घूंसों की बौछार कर दो

तुम बदल डालो इस समाज के एकतरफ़ा नियम-क़ानून।

अकेली औरत कहां जायेगी!
क्या करेगी!
यदि ऐसा कोई ख़याल मन में है, तो
लंगर खा लेना
या भीख मांग लेना
लेकिन इस समाज की एक भी गाली
और एक भी उलाहना मत सहना

तुम मत भूलना अकेला चना ही भाड़ फोड़कर निकलता है।

और जिस दिन 'न्याय का दिन' होगा
तुम भी इन उन्मत्त बाहुबलियों के वस्त्र नोचना
ट्रैफिक से रेंगती हुई सड़क पर
इन्हें नंगा करके पीटना
मैला खिलाना
लोहे की गर्म सलाखों से गोदना
इनके बेलगाम यौनांगों को कंकड़-पत्थर से भर देना

तुम थूकना इन पर जब तक इनके भय से ख़ाली न हो जाओ तब तक।

तुम अपनी अंतिम सांस तक भी विरोध करना
ऐसे थोथले बुद्धिजीवियों का
जो कहते हैं कि फूलन देवी महिलाओं का
और नारीवाद का आदर्श नहीं हो सकतीं

दरअसल ये पितृसत्ता के पिट्ठू हैं
इनका सबसे बड़ा भय
तुम्हारे बाग़ी हो जाने का है
लेकिन तुम इनसे डरना मत, ये अवसरवादी और बहके हुए लोग हैं।
तुम याद रखना
तुम्हारे साहस को अपराध माना जायेगा
तुम्हारी हिम्मत को जुर्रत समझा जायेगा
तुम्हें चौराहे पर लटका दिया जायेगा
लेकिन तुम डटी रहना
आने वाले ख़ूबसूरत कल के लिए
तुम्हारी गिनती कभी शहीदों में नहीं होगी
फिर भी तुम निराश मत होना
क्योंकि साहसी औरतों की समाधि पर फूल नहीं बरसाये जाते।

बहनो! आगे बढ़ो!
संगठित बनो! संघर्ष करो! अडिग रहो!
अपने हिस्से का एक इंच टुकड़ा भी
छीन लो इस लंपट व्यवस्था से
इस दुनिया से अंतिम विदा लेने से पूर्व
'दुनिया की सारी औरतें एक हो जाओ!'
और यदि ज़रूरत पड़े तो इस धरती को लहू से भर दो
सुनो! फूलन बन जाओ सब की सब ...
पुरुष सत्ता की बुनावट में तुम्हारा यह दख़ल कीलें ठोंक देगा।

Email: chandrakanta.80@gmail.com

तारीख़ी फ़ैसला

अदनान कफ़ील दरवेश

1

नौ नवंबर की सुबह
मुल्क की आलातरीन अदालत ने
जैसे ही अपना तारीख़ी फ़ैसला आम किया
मस्जिद का चौथा गुंबद
आप ही बे-आवाज़ ज़मीन पर गिरा
जिसमें क़ैद थी मस्जिद की आख़िरी
लहूलुहान अज़ान
जो मुल्क के हर मज़लूम-ओ-इंसाफ़पसंद फ़र्द के भीतर
सत्तर बरस बाद गूंज उट्ठी

ये कैसा राज है मियां?
लोग बतलाते हैं
मस्जिद में तो केवल तीन गुंबद थे।

2

कोई गोली नहीं चली
कोई दंगा नहीं हुआ
कोई जुलूस नहीं निकला

सब ने मिलकर कहा
जो हुआ अच्छा हुआ
आख़िर सब कुछ पवित्र-शांति में निपट गया
सबने मिलकर राहत की सांस खेंची

वे लोग भी घरों में ही रहे
जिन्हें यक़ीन था
कि एक कलंक आख़िरश धुल गया
एक ज़मीन थी जो पाक हो गयी
लेकिन आज जश्न में उनकी दिलचस्पी कम थी

इतने लंबे संघर्ष ने उन्हें भी अब थका दिया था
थके हुए लोग हमेशा ही करुणा के पात्र होते हैं

आज तारीख़ का एक सफ़्हा अपने आप ही जल गया
सब कुछ धुल गया
सब कुछ पवित्र हो गया
लेकिन सरयू का किनारा क्योंकर उदास है आज
क्या किसी ने फिर से चुपचाप
सरयू के जल में ले ली है
जल-समाधि?

अख़बार इसके बारे में कुछ नहीं कहता।

दो कविताएं

अनुपम सिंह

1. वे गरीबचंद की बेटियां हैं

उनकी भी देह कच्चे घड़े-सी होती है
पर वे जानती हैं अपनी ज़िंदगी के विषम मौसम
इसलिए जब रात सब सो जाते हैं
वे पकाती हैं अपनी मिट्टी

वे बरसात आने से पहले
अपना ईंधन जमा करती हैं
वे खेत जाने से पहले
आंखों में महीन काजल भरती हैं
झउए में हंसिया रखते-रखते
मुंह में दबा लेती हैं एक बीड़ा पान
उनकी हंसी में जितनी खनक होती है
उनके प्रेम में उतनी ही वफा
वे तरल चेहरे वाली लड़कियां
लहरों पर पांव धर चल रही हैं
वे बरगद की उम्र और
जंगल का हरापन लेकर
मिट्टी के कटाव को जकड़े रखती हैं
वे पेड़ों से मिलाती हैं नदियों की जड़ें
वे सिरजती हैं भाप को
वे सिरजती हैं बादल को
वे सिरजती हैं पानी को
वे सिरजती हैं आग, मिट्टी और ताप को
वे मतवाली हवा की सहेलियां हैं
वे गरीबचंद की बेटियां हैं
उनके टोंके में है पुरखों की सिखावन
उनके पास ही इस युद्ध की कला है
मैं फिर से उन्हीं का मुंह निहार रही हूं।

2. तुम्हें हत्तियारी लगी है कवि महोदय

बच्चे मर रहे हैं चीख़ूं कि चूमूं उन्हें
मिट्टी दूं या तर्पण करूं
या कुचल लूं अपना सिर पत्थरों से
क्या करूं?
दुहाई दूं सबसे बड़े लोकतंत्र की
कि सरकार को बधाई दूं
इस अपार बहुमत की
या कहूं मरने वाले बच्चे उसी की तरफ़ थे

या हुकूमत की आलोचना करूं
और जेल चली जाऊं
गोली खाऊं
या तटस्थ रहूं
जैसे अभी हूं
कवि कर्म में निरत
क्या करूं?
चली जाऊं गुफाओं में
चमगादड़ों की तरह लटककर
हत्तियारी छुड़ाऊं जो मेरे नाम
बच्चों के मरने से लगी है

मो. 9718427689

बस अपना जवाब चाहिए

यतीश कुमार

तुम लड़ते दिखते हो
पर तुम मरते तो कभी नहीं
पूरी भीड़ में तुम्हारी गर्दन
सारस-सी लंबी है

कभी तुम्हें ज़मीन पर संघर्ष करते
केंचुए-सा रेंगते नहीं पाया
और न ही केंचुए-सा
ज़मीन को उर्वर बनाते देखा

हां, तुम सांप की तरह दिखते हो
छिप कर अपनी झूठी काया बदलते हो
और कभी अजगर बन जाते हो
तुम्हारे निगले जीव तुम्हारे दाब में
तुम्हारे भीतर कराह कर सांस ले रहे है
तुम्हें इल्म तक नहीं है उन ज़िंदा रूहों का

अच्छा बताओ तो
हमेशा सड़क पे सोते लोग ही क्यों मरते हैं??
हमेशा मज़लूमों की बस्ती-गांव क्यों जलते हैं??
कश्मीर में सिर्फ़ भोली जनता दिखती है बौरायी
तुम पर आज तक खरोंच भी नहीं आयी??

मैंने उस टोपी वाले के कहने पे कश्ती बनायी थी
कश्ती को बड़े जतन से मंझधार में सजाया था
मैं जब डूब रहा था

तुमको व्यापार चाहिए था
मैंने हाथ भी बढ़ाया था
पर तुम्हें आसमान चाहिए था
अब मैंने भी सोच लिया है
मुझे भी मेरे हिस्से का साम्राज्य चाहिए
मैं समझता हूं मेरी कश्ती को भी अब ठहराव चाहिए
मेरे अंदर उठे हर एक सैलाब का हिसाब चाहिए
मुझे जो प्रश्न समझ आ चुके उनका जवाब चाहिए
मुझे इंक़लाब नहीं
बस अपना जवाब चाहिए

मो. : 8777488959

सेल्फ़ी

ऋतेश

वह सेल्फ़ी के लिए तानता है मोबाइल
ठीक इसी समय
भात से लंबी लड़ाई के बाद
दम तोड़ देती है एक बच्ची

ठीक इसी समय
कत्ल हो जाता है
सड़क पर अकेला आदमी
पीट-पीट भीड़ द्वारा
ठीक इसी समय
बेटी बचाओ के नारे के बीच
मासूम की योनि का ख़ून
चखता है दरिंदा
और माथे पर लगा कहता है जय माता की

आस्था के झंडे में लपेट
उतारता है विमान से भांड़
कोई मुख्यमंत्री देश का
ठीक इसी समय
एक धनपति हो जाता है चंपत
लाखों की जेब कांख में दबा
ठीक इसी समय
बिक जाता है एक और पहाड़
कट जाता है एक और जंगल

ठीक इसी समय
कर्ज़ के पेड़ से
झूल जाते हैं हज़ारों किसान
आमदनी के चारगुनी होने के ख़्वाबी समाचार के बीच

ठीक इसी समय
पारित हो जाता है एक और अधिनियम
हो जाती है प्रजा और कम आज़ाद
ठीक इसी समय
क्लिक हो जाती है सेल्फ़ी
सेल्फ़ी में
मुस्कराहट है
मीडिया में सरकार सा
मद है
सेल्फ़ी में नहीं आता कैमरे के पीछे का देश

मो. 9874307700

मेरे बाबा

लीमा टूटी

जब रोती थी वो भूख से
तब ...मांड़-भात बनाकर खिला देते थे बाबा
नंगे नन्हें पैरों में जब चुभते थे कंकड़,
कांटे और रो पड़ी थी वो ,
तब बाबा ही लाये थे गांव की हाट से
गुलाबी चप्पल।

रोयी थी वो ... जब बाबा ने
उसका नाम लिखाया था, सरकारी स्कूल में,
और रोज़ हथेली थाम उसे छोड़ जाते स्कूल के दरवाज़े तक
पर वहां दोस्त ... मिले, खिचड़ी मिली तो धीरे धीरे भाने लगा स्कूल।

वो तब भी बहुत रोयी थी, जब एक दिन
मर गयी उसकी बीमार मां,
बाबा ने ही सीने से लगाकर संभाला उसे।
आज तक उसके.., हर सुख-दुख में
बाबा का भी हिस्सा रहा था

पर आज ...
उसके सामने
बाबा की लाश पड़ी है
ख़ून से लथपथ
पुलिस कहती है
बाबा 'नक्सली' थे।
वो अब भी रोती है,
पर ... नहीं आयेंगे बाबा

मो. 8340592167

उर्दू कहानी

ग्लेशियर टूट रहे थे और मैं ख्वा़ाब की ज़मीन पर चल रहा था

मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी

डिस्क्लेमर

ज़िंदा सच्चाई, ज़िंदा घटनाओं और ज़िंदा लोगों से इस कहानी का कोई ताल्लुक़ नहीं है। मज़े की बात यह कि इस कहानी का मुर्दा लोगों से भी कोई ताल्लुक़ नहीं है।

हम जागते हुए भी नींद में होते हैं। जैसे नींद में होते हैं तो हम ज़्यादा जागते हैं। जैसे आंखों के आगे दूर तक फैली हुई न ख़त्म होने वाली धुंध होती है। यह धुंध हमें ग्लेशियर पर तैरते ख़्वाब से बरामद करती है... या ग्लेशियर में तैरते ख़्वाब धुंध से हमें खोज लेते हैं।

धुंध में सारे देश एक जैसे होते हैं, और उनकी वास्तविकता काल्पनिक होती है। और यह बताना भी ज़रूरी है कि यह कहानी उतनी ही काल्पनिक है जितना कोई देश या शासक...

मान लीजिए, उस दिन ग्लेशियर टूट रहे थे और मैं ख़्वाब की ज़मीन पर चल रहा था। मगर वास्तविक घटना यूं है कि सूरज की किरणों के कमरे में दाख़िल होते ही जब मैं बिस्तर से उठा और पांव ज़मीन पर रखे तो धम से आवाज़ हुई और मैं औंधे मुंह ज़मीन पर गिर पड़ा। लगातार दो-तीन बार गिरने के बाद मेरा हैरान होना वाजिब था कि अचानक एक रात में, सात-आठ घंटे की मुख़्तसर बेदारी या नींद के दौरान मेरे पांव में कुछ गड़बड़ी हो गयी थी। और यह गड़बड़ी काफ़्का के मेटामॉरफोसिस से कहीं अलग थी। यह यक़ीन करना मुश्किल था, मगर आइने में अपनी छवि का जायज़ा लेते हुए इस बात का शिद्दत से एहसास हो गया कि रात ही रात मेरा एक पैर, दूसरे से बड़ा, या दूसरा पैर पहले से कहीं छोटा हो गया है। और इसीलिए जिस्म का संतुलन बिगड़ चुका है। जिस्म के संतुलन बनाये रखने के लिए किसी लाठी, डंडे, हॉकी स्टिक या दीवार का सहारा लेना ज़रूरी था। अपनी नित्य क्रियाओं से फ़ारिग होने के लिए मुझे निरंतर सहारे की ज़रूरत थी। दुबारा गिरने का ख़ौफ़ ऐसा था कि मैंने ख़ामोशी से जिस्म को समेटा, हाथों को दीवार पर रखा और उचक कर बिस्तर पर बैठ गया। दरअसल, मैं इस बात का यक़ीन करना चाहता था कि अब भी मैं किसी ख़्वाब में क़ैद में हूं। ग्लेशियर पर चल रहा हूं... या ग्लेशियर मेरे पांव के वज़न से टूट रहे हैं। और यह सब कुछ ख़्वाब में घटित हो रहा है। यह यक़ीन करने में मुझे काफ़ी वक़्त लगा कि यह ख़्वाब नहीं है, और अचानक वर्षों का सफ़र तय करने के बाद यह दुर्घटना मेरे साथ घटित हो चुकी है कि मेरा एक पांव दूसरे से छोटा या दूसरा अचानक पहले से बड़ा हो गया है।

नींद में कुछ लोगों ने जादूगर का क़त्ल कर दिया।

क्या मैं भी उनमें से एक था? ऐसे सवाल और जवाब दोनों धुंध की आगोश में हैं। जादूगर का एक विचलित करने वाला अतीत था। बचपन में वह बूट पालिश करता था। जादू के नये-नये तमाशे देख कर उसे भी जादूगर बनने का शौक़ पैदा हुआ। लेकिन उसमें और दूसरे जादूगरों में फ़र्क़ था। जब उसे जादू के कई छोटे-मोटे तमाशे दिखाने आ गये तो अपनी मेहनत से वह उस मुक़ाम पर जा पहुंचा जहां उसने जादूगरी में कमाल की महारत हासिल करली। उसके एक इशारे पर गांव के गांव जल जाते थे। उसके एक इशारे पर लोगों की जेबों से नोट और सिक्के ग़ायब हो जाते थे। बल्कि कहते हैं कि एक दिन एक बैंक के क़रीब से उसका गुज़र हुआ तो बैंक में भगदड़ मच गयी। बैंक का सारा कैश ग़ायब था। रजिस्टर, फ़ाइलें हवा में उड़ रहे थे और जल रहे थे। जादूगर के इस नये तमाशे से लोग अभी नावाकिफ़ थे। बल्कि एक दिन तो उसके तमाशे पर सोने के शौकीन मर्द और ज़ेवरों पर जान देने वाली औरतें हैरान रह गयी। एक बड़ा सा हाल था। खचाखच लोग भरे थे। हाल में अंधेरा था। स्टेज पर रोशनी के दायरे में खड़ा, बड़ा सा गोल हैट लगाये जादूगर मुस्कुरा रहा था। रोशनी के दायरे में उसका हाथ चमका... तारीक़ी में बैठे हुए लोगों के होश उड़ गये। यह उसके दायें हाथ की हथेली थी। रोशनी के दायरे में उसकी हथेली से लाल ख़ून निकल रहा था। जादूगर का एक अस्सिटेंट प्लास्टिक की एक बाल्टी ले आया। शो को कामयाब बनाने के लिए जादूगर ने डरी हुई, रहस्यमय आवाज़ों, चीख़ों और सिसकियों का सहारा लिया था। कुर्सियों पर बैठे हुए लोग फटी-फटी आंखों से यह मंज़र देख रहे थे। उसने कहकहा लगाया और हथेलियों से निकलने वाली ख़ून की धार से बाल्टी भरने लगी। फिर बाल्टी लबालब भर गयी... और फिर यूं हुआ कि बाल्टी से उछल-उछल कर ख़ून स्टेज पर बहने लगा। और ख़ून की धार सिर्फ स्टेज तक नहीं रुकी बल्कि उस वक़्त लोगों की चीख निकल गयी जब हाल में जमा तमाम लोगों ने महसूस किया कि सुर्ख़ ख़ून की लहरें स्टेज से हो कर अब आहिस्ता-आहिस्ता उनकी तरफ़ बढ़ रही हैं। देखने वालों के होश उड़ गये। अफ़रा-तफ़री मच गयी। जिस किसी को जहां कोई दरवाज़ा नज़र आया, गिरते-पड़ते इसी दरवाज़े की तरफ़ दौड़ने लगा। जब वे बाहर आये तो बाहर की खुली फ़ज़ा में भी जादूगर के क़हक़हे उनका पीछा कर रहे थे। फिर एक आवाज़ आयी—'जाते-जाते अपनी जेबों की तलाशी ले लीजिए। आप घड़ियां पहनते हैं तो वक़्त देख लीजिए। औरतों के गले में ज़ेवर हो तो वे पहले इत्मीनान कर लें कि ये ज़ेवर अब भी मौजूद हैं यह नहीं।' तलाशी ली गयी और जैसा कि जादूगर ने कहा था, कुछ भी सुरक्षित नहीं था। सोने और चांदी के ज़ेवरात गुम थे। यहां तक कि हाथों की अंगूठियां भी ग़ायब थीं। जेब में पड़े हुए छोटे बड़े रुपये और सिक्के ग़ायब थे। तमाशा यह कि उन सबकी नज़रों के सामने जादूगर हाल से बाहर आया। उस वक़्त उसके बदन पर काफ़ी महंगा लिबास था। वह महंगी गाड़ी में बैठा और उड़न छू हो गया।

'यह कैसा तमाशा है?'

बहुत थोड़े लोगों की नाराज़गी के बावजूद सड़क पर उस वक़्त एक हुजूम ऐसा भी था जो जादूगर के वैभव, प्रेम और पक्ष में नारे लगा रहा था।

किसी ने कहा, 'हमारी जेब कट गयी।'

एक महिला की आवाज़ आयी, 'मेरे ज़ेवर बहुत क़ीमती थे।'

हुजूम ख़ासा नाराज़ था।

'सब कुर्बान कर दीजिए जादूगर पर। और बताइए, क्या आप में से किसी ने इससे पहले जादू का ऐसा कोई तमाशा देखा था?'

ये जादूगर के भक्त थे। और किसी में भी लुटने और ठगे जाने के बावजूद यह हिम्मत नहीं थी कि जादूगर के ख़िलाफ़ एक लफ़्ज़ भी ज़बान पर ला सके।

देखने वाले दम साधे हुए थे। अचानक उनमें से एक व्यक्ति आगे बढ़ा। वह कुछ जादूगर के बारे में कहना चाहता था। मगर यह देख कर हुजूम में भय की लहर दौड़ गयी कि जादूगर के एक भक्त ने एक झटके से उसकी ज़बान खींच ली। कटी हुई ज़बान ज़मीन पर किसी मछली की तरह तड़प रही थी। कुछ औरतों की चीख़ निकल गयी। एक और व्यक्ति आगे बढ़ा। मैं उसे पहचानता था। वह एक अख़बार में सहाफ़ी बतौर काम करता था। उसने इस घटना को सुरक्षित करने के लिए मोबाइल निकाला तो एक भक्त ने उसका मोबाइल झपट लिया। दूसरे ही पल वह अपने हाथों से वंचित हो चुका था।

दोनों हाथ काट डाले गये थे।

'क्या यहां पुलिस आयेगी।'

मेरे लिए कुछ सोचना मुश्किल था, क्योंकि उसी लम्हे जादूगर अपनी क़ीमती गाड़ी में लौट आया। वह राजसी वैभव के साथ गाड़ी से उतरा। गाड़ी से उतरते ही कुछ भक्तों ने राष्ट्रगान छेड़ दिया। भयभीत और आतंक में डूबे हुए लोग अपनी जगह जड़ हो गये। अब सब मिलकर राष्ट्रगान गा रहे थे।

मैंने ये सारे दृश्य अपनी आंखों से देखे थे बल्कि मैं उन लोगों में शामिल था जो तमाशा देखने हाल में जमा हुए थे। ख़ून की बड़ी-बड़ी तेज़ और मोटी धाराओं को उछल-उछल कर अपनी तरफ़ बढ़ते हुए मैंने भी देखा था। और यह कोई दुःस्वप्न या वहम नहीं था, मेरे कपड़े इस वक़्त भी भीगे हुए थे और सुर्ख़ थे। मैं उन थोड़े से लोगों में से एक था, जो उस वक़्त जादूगर से अत्यंत घृणा महसूस कर रहे थे। ये लोग भयभीत थे और इस बात से डरे हुए भी कि जादूगर कहीं भी हो, उनकी आंखों में उतरी हुई नफ़रत को महसूस करने की ताक़त रखता है। और इसमें कोई शक नहीं कि जादूगर के तमाशे और खेल के बावजूद जो नुक़सान होना था, हो चुका था। इसलिए मैं उन बहुत थोड़े लोगों में से एक था, जिसे यह ख़याल आया था कि जादूगर का क़त्ल ज़रूरी है, वर्ना ख़ून की यह धार फैलते-फैलते कहां तक फैल जायेगी, कहना मुश्किल है। और यह सोच भी ग़लत नहीं थी कि जादूगर अपने इरादों से अपने सारे विरोधियों को कंगाल बना सकता है। मिसाल के लिए, जैसे आज ही औरतों के ज़ेवर गुम हो गये। मर्दों के चांदी के सिक्के खो गये।

मैं तमाशागाह से निकल कर घर आया तो घर का माहौल बदला हुआ था। ड्राइंगरूम में वक़्त बताने वाली घड़ी बंद थी। बल्कि यह दीवार-घड़ी पिछले तीन वर्ष से बंद थी। और दिन तारीख़ के याद रखने की वजह यह थी कि इसी दिन इसी तारीख़ में जादूगर अपने नये तमाशों से गुफ़्तगू का विषय बना था। मैंने यह बात घर में कई बार दुहरायी कि बंद घड़ी को घर में रखना मुनासिब नहीं, इससे नुक़सान यह होता है कि इंसान का चलता हुआ वक़्त रुक जाता है।

मैंने पहली बार बाप को गुस्से में देखा था। वे चीख़ रहे थे। सुना तुमने। दीवार घड़ी को बाहर फेंक आओ।

'मगर क्यों?'

जवाब 'मां ने दिया, 'क्योंकि वक़्त ठहर गया है। कलेंडर से महीने ग़ायब हो गये। अब घड़ियाल के घंटों और घड़ियों की ज़रूरत नहीं।'

मेरी बहन उदास थी। उसने वजह बतायी। उसने बड़ी मेहनत से गुल्लक में सिक्के और रुपये जमा किये थे।

'फिर?'

'ग़ायब हो गये।'

'मां ने बताया। वह आज बैंक गयी थी। पिछले कई वर्षों से वह बैंक के लॉकर में ज़ेवरात जमा कर रही थी।

यह बात सारे घर को पता थी। 'मां ज़ेवरात घर में नहीं रखती थी। उसने लॉकर ख़रीद रखा था। वह हमेशा की तरह बैंक जाती। अपना लॉकर खोलती। और ज़ेवरात जमा करा देती।

मैंने उदासी से पूछा, 'फिर किया हुआ?'

'लॉकर ख़ाली था। वहां भीड़ जमा थी। बैंक के सारे लॉकर ख़ाली थे। सोने और चांदी के तमाम ज़ेवरात ग़ायब थे।'

बाप ने काली चाय का आख़िरी घूंट भरते हुए कहा, 'और सुनो। यहां तिजोरी से सारा कैश ग़ायब है। मैं बैंक भी गया था। लंबी क़तार थी। जब क़तार पार करता हुआ मैं अपना पैसा निकालने गया तो मालूम हुआ, मेरा नाम बैंक के अकाउंट, रजिस्टर, कंप्यूटर, ऑनलाइन रेकॉर्ड कहीं भी शामिल नहीं है।'

बाप की आवाज़ दम तोड़ती हुई और कमज़ोर थी। 'सुना तुमने। हम बर्बाद हो गये।'

मैं धम्म से कुर्सी पर बैठ गया। सारा घर उस वक़्त मुझे घूमता हुआ महसूस हो रहा था। यह सब यक़ीनन जादूगर का किया धरा था। मगर ताज्जुब यह कि घर में भी कोई जादूगर का नाम लेने के लिए तैयार नहीं था।

मैंने देखा, बाप काफ़ी उदास थे। उनके चेहरे पर अचानक झुर्रियों का जाल फैल गया था। वो अटक-अटक कर बोल रहे थे। उनका लहजा भारी और ज़िंदगी से बेजार था।

मैंने मुस्कुराने की कोशिश की। 'आप क्यों फ़िक्र करते हैं। कैश और गहने ग़ायब हो गये तो क्या हुआ, सिंगापुर, नॉर्थ कोरिया, घाना, फिजी, फ़िलीपाइन... दुनिया घूमते-घूमते कैशलैस तहज़ीब में दाख़िल हो गयी है।'

मैंने बाप को इतने गुस्से में कभी नहीं देखा था। वो दहाड़ते हुए उठे और मेज़ पर पड़ा हुआ पेपरवेट मेरी तरफ़ उछाल दिया। 'कैशलैस तहज़ीब के लिए कैश तो होना चाहिए ना...'

यही वह लम्हा था जब पेपरवेट उछल कर मेरे सिर पर लगा। सर से टकराने के बाद, ज़मीन पर गिरने से आवाज़ हुई। और इस आवाज़ से मैं बेदार हुआ था। और यही वह लम्हा था जब मैंने देखा कि सूरज की किरणें मेरे कमरे में दाख़िल हो चुकी हैं और बिस्तर से उठने की कोशिश में, मैंने महसूस किया था कि मेरा एक पैर दूसरे पैर से छोटा हो गया है। मैंने दुबारा उठने का फ़ैसला किया, क्योंकि उस वक़्त तक डाइनिंग टेबल पर नाश्ता लग चुका होता है। और बाप को ये बात बिलकुल भी पसंद नहीं कि नाश्ते के लिए बार-बार आवाज़ दी जाये।। दो बार आवाज़ आ चुकी थी। ख़ुद को बहाल करते हुए मैंने जवाब दिया था, 'बस पांच मिनट में आ रहा हूं।' लेकिन सवाल यह था कि इस तरह लड़खड़ाते हुए मैं घर वालों का सामना कैसे करूंगा। मैंने पांच मिनट फ्रेश होने में लगाये। इस दरमियान ऐसा कई बार हुआ जब मैं गिरते गिरते बचा। दीवार और दरवाज़े का सहारा लेते हुए मैं अपने जूते तलाश कर रहा था। जूते में कपड़े की एक मोटी तह चढ़ाने के बाद मैंने पैर डाले तो यह सोच कर ख़ुश हुआ कि जिस्म का संतुलन बन चुका है। 'हां जूते के तले में कपड़े की मोटी तह होने की वजह से मुझे चलने

में थोड़ी परेशानी हो रही थी। मगर इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि मैं इस परेशानी को इस वक़्त क़बूल कर लूं।'

मैं नाश्ते की मेज़ पर आया तो घर वाले नाश्ता शुरू कर चुके थे। मैंने बाप की तरफ़ देखा। उनके चेहरे पर गहरी उदासी पसरी हुई थी। एक लम्हे के लिए उन्होंने मेरी तरफ़ देखा। फिर पूछा, 'तुमने अख़बार देखा?'

'नहीं।'

'कल कुछ लोगों को गिरफ़्तार किया गया है।'

'किस जुर्म में।'

बाप ने एक निवाला रोटी का तोड़ा। मुंह में रखा। 'कुछ बाग़ी नींद में जादूगर को क़त्ल करना चाहते थे...'

'नींद में?'

बाप मेरी तरफ़ देख कर हंसे, 'क्या तुम इसे छोटी बात समझते हो?' उनका लहज़ा संजीदा था। 'क़त्ल, क़त्ल है। असलियत में किया जाये यह नींद में।'

मेरे लिए यह सारा संवाद बोझल था। यह तमाम विवरण थका देने वाला था। अब मैं एक नये सफ़र पर निकलने वाला था। मुझे इस ख़ौफनाक, खौफ़ज़दा, सहमे हुए माहौल से ख़ुद को बाहर निकालना था। लेकिन क्या यह मुम्किन था? मुम्किन नहीं था। लेकिन मुझे मुम्किन बनाना था। चेहरे से गंभीरता की धूल हटानी थी। और इसकी जगह प्रेम-प्रसंग की कल्पना को देना था। मेरे सामने लिली थी। उसे हमेशा इस बात की शिकायत थी कि मैं कभी वक़्त पर नहीं आता। वह हमेशा मेरे हाथों को थाम कर कहती थी। 'कैसे महबूब हो कि हमेशा देर हो जाती है। मुझे ही इंतज़ार करना पड़ता है।' उसने धमकी भी दी थी कि आइंदा देर हुई तो वह ब्रेक-अप कर लेगी। मुहब्बत के लम्हों में मुहब्बत के सिवा कोई भी दूसरी बात लिली को गवारा नहीं थी। और वह इस बात पर ख़ुश होती थी कि मैं मुहब्बत करना जानता हूं और यह भी जानता हूं कि महबूबा पर रोमानी बातों से कैसे जादू किया जा सकता है।

लिली से मिलने से पहले, पहला मसला यह था कि मुझे अपने हुलिये को ठीक करना था। लिली को अच्छा लिबास पसंद था। छींक, खांसी, जुकाम, लंगड़ाना उसे बिलकुल पसंद नहीं। नाश्ते से फ़ारिग होने के बाद मैंने अपने कमरे तक आने के लिए सीढ़ियों का सहारा लिया तो एक बार फिर चौंक गया। बाएं पैर के जूते के तले में रखा कपड़ा निकल गया था। मसला यह था कि ये कपड़ा लिली के सामने भी निकल सकता था। इसलिए लिली की नाराज़गी को देखते हुए मुझे अपने पांव के लिए कुछ बेहतर इंतज़ाम करना था। इस बहतर इंतज़ाम के लिए ज़रूरी था कि मैं सड़क के उस पार फुटपाथ पर जो मोची बैठता है, उससे मश्वरा करूं।

मुझे ये देख कर हैरत हुई कि इस वक़्त मोची के जूता बनाने वाली जगह के पास एक लंबी क़तार थी। मैंने ऐसी कोई क़तार इससे पहले मोची के पास कभी नहीं देखी थी। क़तार में खड़े लोगों के पास एक ही मौजू था, ये लोग उन बाग़ियों को कोस रहे थे जो नींद में जादूगर का क़त्ल करना चाहते थे। धूल, मिट्टी, बदबू का सामना करते हुए एक घंटे के बाद मेरा नंबर आया। इससे पहले कि मैं छोटे बड़े पैर के बारे में बताता, मोची ने हाथ के इशारे से मना कर दिया।

वह ज़ोर से हंसा, 'आज उम्मीद से कहीं ज़्यादा कस्टमर आये हैं। देखिए, आपके पीछे भी लंबी क़तार है।'

'हां।'

'सब का एक ही मसला है। घबरायें नहीं।'

'फिर आप क्या करेंगे।'

'मैं जूते के तले में चमड़े की मोटी तह बैठा दूंगा। फिर आपको चलने में परेशानी नहीं होगी।'

कॉफ़ी हाउस जब मैं लिली के पास पहुंचा तो वह जाने की तैयारी कर रही थी। मेरे काफ़ी मनाने के बावजूद वह एक मिनट ठहरने को राज़ी नहीं थी। मगर यह करिश्मा था कि मौसम का हाल सुनाने पर वह दुबारा अपनी कुर्सी पर बैठ गयी।

''हां, बहुत बुरा मौसम है।'

'उम्मीद से कहीं ज़्यादा बुरा।'

लिली ने दो कॉफ़ी का आर्डर देते हुए ग़ौर से मेरी तरफ़ देखा। 'अच्छा सुनो। जब तुम मेरी तरफ़ आ रहे थे, अगर मैं ग़लत नहीं हूं तो तुम थोड़ा-सा लंगड़ा रहे थे।'

'मौसम बहुत बुरा है।' मैंने बात बदलने की कोशिश की।

''हां बुरा है। मगर तुम लंगड़ा रहे थे।'

'ठंड बढ़ गयी है।'

'हां बढ़ गयी है। मगर तुम लंगड़ा रहे थे।'

'मेरी बात छोड़ो लिली। देखो कॉफ़ी आ गयी। कॉफ़ी पियो। बताओ कॉफ़ी कैसी है...'

लिली ने कॉफ़ी का पहला घूंट लिया। उसके लहजे में नाराज़गी थी। 'कॉफ़ी अच्छी है। मगर तुम...'

उसकी बात से पता नहीं मुझे क्या हुआ कि मैं ज़ोर से चीख़ा, 'ठिगनी औरत। 'हां मैं लंगड़ा रहा था। आज सभी लंगड़ा रहे हैं। तुम भी बहुत जल्द लंगड़ा कर चलोगी। और जरा मुझ पर एतराज़ करने से पहले अपने दांतों को तो देखो। दांत पीले पड़ चुके हैं। और 'हां मेरा ख़याल है कि तुम्हें एनिमिया है। तुम्हारे जिस्म में ख़ून का कतरा दिखायी नहीं देता। तुम जब बोलती हो तो बदबू का रेला उठता है।'

मैं कुछ और भी कहता, लेकिन अचानक देखा, लिली अपनी जगह से उठ गयी थी। वह काफ़ी ग़ुस्से में थी। मैंने उसे तेज़ तेज़ पांव पटकते हुए कॉफ़ी-हाउस के दरवाज़े से बाहर निकलते हुए देखा। मैं हैरान था। यह अचानक मुझे क्या हो गया था। मुहब्बत के इन हसीन लम्हों में यह कौन था, जो मेरे अंदर आ गया था। मेरी रूह की छाल में। मेरे जिस्म की केंचुली में। मेरे मुंह की बदबू में। क्या ये अलफ़ाज़ मेरे थे? लिली तो मेरे मुहब्बत भरे शब्दों की दीवानी थी... फिर मेरी जगह यह कौन था?

हम जागते हुए भी नींद में होते हैं। जैसे नींद में होते हैं तो ज़्यादा जागते हैं... जैसे आंखों के आगे दूर तक फैली हुई, न ख़त्म होने वाली धुंध होती है। यह धुंध हमें ग्लेशियर्स में तैरते ख़्वाबों से बरामद करती है...

अचानक कुछ लोगों के चीख़ने की आवाज़ आयी।

'बाहर भागो। भयानक तूफ़ान है।'

मैं इस अचानक हमले के लिए तैयार नहीं था। लेकिन अभी तो मौसम में ऐसी कोई बात नहीं थी। मैंने नज़रें उठाकर देखा। आसमान अचानक ज़र्द और सियाह हो गया था। तेज़ गाव गरज के साथ मौसम के बदल जाने की इत्तिला दे रही थी। कॉफ़ी हाउस ख़ाली हो गया। मैं लड़खड़ाते हुए गिरता पड़ता कॉफ़ी

हाउस से बाहर आया। तेज़ तूफ़ान की वजह से अचानक सड़कों पर गाड़ियां रुक गयी थीं। हवा की शिद्दत इतनी ज़्यादा थी कि कुछ लोग सड़क पर गिरे हुए नज़र आये। मैंने गुबार से बचने के लिए दीवार का सहारा लिया। वहां बाबा सीमेंट का एक बोर्ड पड़ा था। मैंने बोर्ड को दोनों हाथों से थाम लिया। सड़क पर शोर और हंगामा बरपा था। इस हंगामे में ठहर-ठहर कर जादूगर का नाम भी लिया जा रहा था। ठीक उसी वक़्त दो पुलिस वालों को वर्दी में, मैंने अपनी तरफ़ आते हुए देखा। उनसे बचने के लिए एक ही रास्ता था कि मैं ख़ुद को बाबा सीमेंट के बोर्ड के पीछे छुपा लूं, मैंने ऐसा ही किया और तूफ़ान के रुकने का इंतज़ार किया... लेकिन जल्द ही मुझे इस बात का एहसास हो गया कि यह तूफ़ान जल्दी रुकने वाला नहीं है। भयानक तूफ़ान है और यह कहना मुश्किल है कि तूफ़ान का असर कब ख़त्म होगा।

सड़कों पर अफ़रा-तफ़री का माहौल था। जिसे देखो भागा जा रहा है। मैंने कुछ छोटी गाड़ियों को हवा मैं तैरते और उड़ते हुए देखा। यहां से चलने और आगे बढ़ने की कोशिश की तो जूते पांव से निकल गये। मैंने हवा में अपने जूतों को उड़ते हुए देखा। लंगड़ाते हुए मैं जूतों को पकड़ने के लिए दौड़ा। जूते उड़ते हुए सामने वाले पैट्रोल पंप की दीवारों से टकराये थे। मगर पैट्रोल पंप की दीवार तक पहुंचना आसान नहीं था। गाड़ियां, मोटर-साइकिलें अब भी तेज़ तूफ़ानी हवा में उछल-उछल कर इधर-उधर गिर रहे थे। उनके गिरने से धमाका होता। कुछ गाड़ियां ऐसी भी थीं, जो एक धमाके के साथ गिरतीं और फिर उन गाड़ियों से शोले उठते हुए नज़र आते... गिरते-पड़ते, संतुलन बनाये रखते हुए, मैं किसी तरह पैट्रोल पंप तक आ चुका था। मगर यहां जूते नहीं थे। जूते ग़ायब थे। पैट्रोल पंप से बैंक तक जाने वाली क़तार भी तूफ़ानी हवा का शिकार हो गयी थी। अंधेरे के बावजूद पैट्रोल पंप के अंदर बने कमरे में मुझे रोशनी नज़र आ रही थी। धुंध और धीरे-धीरे फैलते अंधेरे के बावजूद में अंदर बने कमरे में टहलते हुए कुछ लोगों को देख सकता था। वो सब टाई और सूट में थे उन्हें तूफ़ानी हवा, झक्कड़, आसमानी आफ़त की ज़रा भी परवाह नहीं थी। मैं अचानक चौंक गया। एक बार फिर वो दोनों पुलिस वाले मेरी तरफ़ बढ़ रहे थे। अब इन पुलिस वालों से बचना ज़रूरी हो गया था।

लड़खड़ाते हुए तेज़ी के साथ मैंने वहां से भी भागना शुरू किया। मुझे यक़ीन नहीं था कि इस बुरे मौसम में, मुझे घर पहुंचने में कामयाबी मिलेगी। सड़कों का बुरा हाल था। कमज़ोर और कच्चे घर तूफ़ान में गिर गये थे। सड़कों पर जगह-जगह टूटे हुए घरों का मलबा पड़ा था। यक़ीनन उनमें इंसान भी दबे होंगे। सड़क पर अब भी चीख पुकार का आलम था। मैं जब घर में दाख़िल हुआ तो यक़ीन करना मुश्किल था कि मैं इस ख़ौफ़नाक तूफान से ज़िंदा बच निकलने में कामयाब हुआ हूं... घर वालों को मेरे आने से ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ा था।

'तूफ़ान तेज़ है। दरवाज़ा बंद कर दो।'

बाप का लहज़ा सर्द था।

मैंने दरवाज़ा बंद किया। तूफ़ान का शोर इस क़दर ज़्यादा था कि कान के पर्दे फटते हुए महसूस हो रहे थे।

बाप ने दुबारा कहा, 'तूफ़ान के थमने के आसार नहीं हैं।'

'हां।'

'काफ़ी तबाही हुई है। आगे भी होगी।'

बाप परेशानी के आलम में कमरे में टहलना शुरू कर देते थे। इस वक़्त भी वो टहल रहे थे... वो अचानक मेरी तरफ़ मुड़े,

'क्या जादूगर की कोई ख़बर मिली।'

'नहीं।'

'मुझे भी नहीं मिली।' उन्होंने टहलना जारी रखा। फिर मेरी तरफ़ देखा। 'हां तुम्हें बताना भूल गया। तुम्हारी तलाश में दो पुलिस वाले आये थे।'

'पुलिस वाले?'

''हां, वो तुम्हारे पांव के बारे में पूछ रहे थे।' मैं अपनी जगह पर तेज़ी से उछला। 'मगर क्यों...'

'तफ़्तीश चल रही है। कुछ बाग़ी और भी हैं जो नींद में जादूगर को क़त्ल करना चाहते थे। रात ही रात ऐसे बाग़ियों के पैर छोटे बड़े हो गये हैं।'

वो हंस रहे थे। 'क्या यह मुम्किन है?'

ठीक उसी वक़्त पड़ोस के घर से तेज़ आवाज़ आयी। वहां टीन की छत तेज़ हवा में उड़ गयी थी।

'तूफ़ान तेज़ है।'

'हां।' मुझे एहसास हुआ। बाप टहलते हुए रुक गये हैं। उनकी आंखें ग़ौर से मेरे नंगे पांव का जायज़ा ले रही हैं। वो कुछ बोले नहीं, मगर ऐसा एहसास हुआ, जैसे वो पूछना चाहते हों कि मेरा जूता कहां है? वो शक से मेरी तरफ़ देख रहे थे...

इसी दरमियान दरवाज़े पर दुबारा दस्तक हुई।

बाप की आवाज़ में तल्ख़ी आ गयी थी। 'लगता है वो फिर से आ गये हैं।'

कहानी

गोलाकार के तीन कोण

नूर ज़हीर

शुरू में शोर बुरा नहीं लग रहा था। शाम ढल रही थी, चिड़ियों की चहचहाहट, सड़क से अपनी रेड़ियां खींचते, खोमचे समेटते फुटकर दुकानदारों की आवाज़ें, पास की कोयला खदानों से लौटते मज़दूरों के गीत, बच रहे मुट्ठी भर साग को बेचकर ठेला ख़ाली करने की तमन्ना में फटे गले से पुकारता सब्ज़ी वाला; इस सब में वह शोर भी घुल गया था; लेकिन जब यह सारी आवाज़ें धीरे-धीरे शांत हो गयीं तो सामने के कमरे से आने वाला शोर दामोदरन को ज़रा अखरने लगा। पूरब में रात यों भी जल्दी होती है, अनजान जगह में टहलने भी नहीं निकला जा सकता और दिनभर घूमा भी बहुत था इसलिए थकान भी थी; लेकिन नींद कोसों दूर थी।

संगूर नदी के किनारे बसा बंदरबननगर जिसके पास ही पहाड़पुर के प्राचीन बौद्ध मठों के अवशेष थे जिससे कोई पचास किलोमीटर दूर था बिक्रमपुर जहां ऋषि आतिशी का जन्म हुआ था। कहते हैं भगवान बुद्ध एक बार यहां आये थे और उनके प्रभाव से यह पूरा क्षेत्र बौद्ध हो गया था। आज उस वक़्त की सिर्फ़ इमारतें बाक़ी थीं। दामोदरन चिंतन करना चाह रहा था, जो कुछ देखा था उसे अपने अंदर समो लेना चाहता था। जब शोर से सोच में खलल पड़ने लगा तो वह आराम कुर्सी से उठा। यह तो उसे रेस्ट हाउस के मैनेजर ने कमरा देते हुए बता दिया था कि बाक़ी छह कमरों में किसी कॉलेज की लड़कियां ठहरीं हैं जो इतिहास की फ़ील्ड ट्रिप पर ढाका से चिट्टागोंग या चट्टोग्राम का भ्रमण करने निक़ली हैं। वह थोड़े चीख पुकार, चिल्ला मिल्ली के लिए ज़ेहनी तौर पर तैयार था। तो फिर उसे किस चीज़ ने चौंकाया था? वह कान लगाकर सुनने लगा। उच्चारण बंगला था लेकिन जो गीत गाया जा रहा था वह हिंदी का था। यहां बांग्लादेश में भी बॉलीवुड फ़िल्मों का प्रभाव था। वह मुस्कुराया और अपने कमरे से निकल कर उस कमरे के दरवाज़े को खटखटाया जहां से पहले शोर और अब गीत सुनायी दिया था। तीसरी बार में दस्तक सुनी गयी। शोर कम हुआ और एक ज़नाना आवाज़ ने पूछा,

'के भाई?'

'डिनर होए छे बोधाये,' एक दूसरी आवाज़ ने अटकल लगाते हुए कहा।

'सात टा बजे आछे, डिनर 8.30 होबे'।

'आमी देख्छी'।

'एके बारे नोए,' ज़रा उम्र दराज़ महिला की आवाज़ आयी।

फिर किसी ने उठकर दरवाज़े का एक पाट आधा खोला। दामोदरन की नज़र दो बड़ी बड़ी आंखों से चार हुई, सांवली रंगत, ज़रा गोलाई लिये हुए नाक, चौड़ा माथा और ज़रा भरे होठ।

'बोलून?'

'जी कुछ नहीं, हिंदी गीत सुने तो घर याद आ गया इसलिए...', दामोदरन ज़रा सकपका गया।

'आप भारतीय हैं?' पाट पूरा खुल गया।

'जी कोलकता से.'

'ओ कोलकता', दूसरा पाट भी आधा खुल गया,

'वहां रहते हैं?'

'जी रहता तो बोलपुर, शांतिनिकेतन में...'

'शांतिनिकेतन!' दरवाज़ा पूरा खुल गया,

'आइए आइए न!' दामोदरन 23 जोड़ी आंखों की चुभन सहता हुआ अंदर आते हुए बोला,

'नहीं, दरअसल मैं...'

'शोर से परेशान हो गये होंगे।', महिला ने जुमला पूरा किया,

'क्या करूं, रात में लड़कियों को बाहर नहीं भेज सकती, इसलिए कमरे में ही कुछ मनोरंजन करना पड़ता है।'

दामोदरन खिसिया गया और मुड़ते हुए बोला,

'नहीं-नहीं, कोई बात नहीं।'

'अरे अरे जाइए मत! हम लोगों को कुछ शांतिनिकेतन के बारे में बताइए!'

उसने अपना नाम तान्या इमाम बताया। डेढ़ घंटा कैसे बीता, पता ही नहीं चला। जब केयरटेकर ने आकर कहा, 'आपका खाना कमरे में लगा दिया है', तो एक शैतान लड़की ने पूछा, 'आप क्या हमसे अच्छा कुछ खाने वाले हैं?' और दूसरी बोली, 'हमारे साथ खाइए न, हम आपके अच्छे खाने को नज़र नहीं लगायेंगे।' खाना खाते हुए दामोदरन ने कहना शुरू किया, 'प्रो. इमाम...' तो मेज़ पर एक हंसी का फ़व्वारा फूट पड़ा! हैरान दामोदरन को समझाते हुए एक चुलबुली सी लड़की बोली,

'इमाम से कोई खिचड़ी दाढ़ी, लंबे कुरते और ऊंचे पजामे वाला शख़्स मालूम होता है।'

एक और बोली, 'हम सब तान्या मैम कहते हैं।'

दस बजे के क़रीब सब अपने अपने कमरों में चले गये। ग्यारह बजे के क़रीब जब बहुत मच्छर काटने लगे तो दामोदरन ने ओडोमोस के लिए सूटकेस खोला। एक एक कपड़ा निकालकर, खोलकर देखा, लेकिन ओडोमोस की ट्यूब होती तो मिलती। आधी रात को क्या किया जाये, दामोदरन यह सोच ही रहा था की दरवाज़े पर हलकी सी दस्तक हुई, जैसे कोई सबसे छुपाकर इस दरवाज़े को खटखटा रहा हो। सामने तान्या खड़ी थी जिसने दबे लहजे में पूछा,

'क्या आपके पास ओडोमोस है?'

दामोदरन ने लाचारी जतानी शुरू की ही थी कि उसने एक 'कायल' आगे बढ़ाते हुए कहा,

'जानती हूं इससे प्रदूषण होता है, लेकिन मच्छर तो सोने नहीं देंगे'।

दामोदरन चुप रहा, उसे याद नहीं आ रहा था कि किसी अनजान ने उसके बिना मांगे उसके लिए कुछ किया हो; ख़ामोशी को भरने के लिए अचानक बोला,

'आपको कॉफ़ी पसंद है?'

'बहुत! हमारे कमरों में बिजली की केतली नहीं है, सस्ते वाले हैं न! वैसे मैं अपने लिए महंगा वाला कमरा ले सकती थी, लेकिन मुझे लड़कियों के साथ ही रहना पसंद है।'

कॉफ़ी पाउच खोलते हुए दामोदरन ने पूछा,

'कॉफ़ी पीने से आपकी नींद तो नहीं उचट जायेगी?'

,'मुझे तो वैसे भी रात भर जागना है, चौकीदार जो हूं।'

'लड़कियों की आप अकेले ज़िम्मेदारी उठा रही हैं'।

'एक और आयी थीं साथ लेकिन उनके पति की तबीयत ख़राब हो गयी, इसलिए लौट गयीं। पता

नहीं तबीयत ख़राब हुई थी या पत्नी के हाथ की मच्छी याद आ रही थी। एक फ़िज़िकल ट्रेनिंग इंस्ट्रक्टर भी हैं साथ, लेकिन उनको बीएस में चक्कर आता है इसलिए जल्दी सो गये।' दोनों हंसे।

'आपके पति को भी तो आपके हाथ की बनायी मच्छी की याद आ रही होगी?'

'मैं पति से अलग रहतीं हूं, तलाक़ नहीं हुआ है; उन्होंने दूसरी शादी कर ली है। आप अपनी सुनाइए।' उसने जल्दी से बात बदलते हुए कहा।

'शांतिनिकेतन में संजुक्ता बोटनी और मैं स्टैटिस्टिक्स पढ़ाता हूं।'

'शांतिनिकेतन और स्टेटिस्टिक्स, अजीब जोड़ है! हम तो शांतिनिकेतन को संगीत, साहित्य और कला का केंद्र जानते थे।'

'मुझे साहित्य, कला, संगीत पसंद है, उसे नहीं। पिछले कुछ सालों में बौद्ध कला में रुचि बढ़ी है मेरी, पहली बार बांग्लादेश आया हूं। बाहर बरामदे में बैठें, मौसम अच्छा हो गया है।'

'हां पचास पार कर लेने के बाद भी एक महिला को एक अकेले पुरुष के कमरे में नज़र नहीं आना चाहिए।' दामोदरन उसके तंज़ पर मुस्कुराया।

'आपलोग कब तक बाहर रहेंगे?'

'तीन दिन और; राजशाही का अगरपुर विहार और महास्थानगढ़ जहां ऋषि आतिशी का जन्म हुआ था।'

'अरे इन जगहों पर तो मुझे भी जाना है। मैंने टैक्सी ली हुई है।'

'तब तो मुलाक़ात होगी आपसे।'

बुद्ध की राह पर, यानी प्रेम की राह पर बहुत देर बात करते रहे दोनों। प्रेम, सबके लिए, हर प्राणी के लिए, पेड़ पौधों के लिए भी, पत्थरों, नदियों के लिए भी। रात का अंधकार छंट रहा था जब तान्या ने अचानक कहा,

'आप यहां आकर खुश नहीं मालूम हो रहे हैं।'

'क्यों, खुश तो हूं, मेरी वर्षों की मुराद पूरी हुई है।'

'वही तो मैं कह रहीं हूं, मुराद पाने पर जितना खुश आपको होना चाहिए उतने आप हैं नहीं'।

दामोदरन पहले तो चुप रहा, फिर बोला,

'सच बताऊं तो मुझे इन सारे प्राचीन अवशेषों को देख कर अफ़सोस हुआ, यूनानी मोज़ेक का फ़र्श है हर जगह, इस्लामी ग्राफ़िक डिज़ाइन हैं हर तरफ़! इनमें बौद्ध क्या है?'

'सही कह रहे हैं, और गौतम बुद्ध की सारी नयी मूर्तियां सुनहरी क्यों हैं?'

'जिस आदमी ने राज-पाट, सोना-चांदी इतना कुछ ठुकरा दिया उसके नाम पर इतना सोना!'

'यह इलाका बुद्ध के आगमन से लेकर चौदवीं सदी तक बौद्ध रहा। आदि शंकराचार्य के पुनर्जागरण के बाद भी यहां सनातन धर्म की पुनः स्थापना नहीं हुई। वह तो मुस्लिम शासकों ने यहां ज़बरन इस्लाम फैलाया।'

'आप मुसलमान होकर भी यह कह रही हैं?'

'धर्म बदलने से सत्य थोड़ी बदल जायेगा। आज जो सरकारी मदद इनकी देखरेख के लिए दी जा रही है वह भी तो मुसलमान अफ़सरों के माध्यम से पहुंच रही है। जितनी समझ है उसी का परिचय दे रहे हैं। हर जगह सुनहरा रंग लीप रहे हैं।'

'आम लोगों को समझाना भी एक मुश्किल, अपनी इच्छा के अनुसार ढाल लेते हैं, कहीं सुनहरे बालों वाला ईसा तो कहीं सोने-चांदी के बुद्ध।'

'इसी बात को समझ कर शायद शुरू में बौद्ध अर्चना में स्तूप को ध्यान का केंद्र कहा गया था।'

'स्तूप भी तो सुनहरे हैं।' तान्या ने अगरपुर स्तूप की तरफ़ इशारा किया।

'मुझे उम्मीद नहीं थी की कोई दूसरा मेरी तरह सोचने वाला मिलेगा, मुझे लगता था कि हर कोई मंदिर मस्जिद को आलीशान देखना चाहता है', दामोदरन ने गंभीर होकर कहा।

'शायद अपनी अपनी ज़रूरत है ईश की। किसी को वह भयावह, शक्तिशाली, सज़ा देने वाला, गुस्सैल चाहिए और किसी को सखा, साथी, सुख दुःख का सहभागी और हमदर्द की तलाश है।'

बस इतनी ही जानकारी थी दोनों की एक दूसरे के बारे में। संजुक्ता को दामोदरन का अंदर बाहर सब मालूम था; मसलन उसे मालूम था कि जब तक वह कहेगी नहीं तब तक इतवार को दामोदरन नहायेगा नहीं। दामोदरन को भी मालूम है कि वह कहेगी ज़रूर। एक बेटी और एक बेटा है, बेटी को दामोदरन ज़्यादा प्यार करता है लेकिन ख़याल ज़्यादा बेटे का रखना पड़ता है जो 'औटिस्टिक' है। संजुक्ता दोनों बच्चों का पूरा ख़याल रखती है लेकिन उसे प्यार का दिखावा पसंद नहीं। संजुक्ता और दामोदरन दोनों अमेरिका में पीएचडी करने गये थे, वहीं मिले और शादी भी वहीं हुई; दामोदरन अपने देश, अपने वतन लौटना चाहता था, संजुक्ता को लौटना पड़ा क्योंकि उसकी मां बीमार थीं।

बांग्लादेश से बोलपुर लौटते ही संजुक्ता ने उसका सूटकेस हमेशा की तरह ख़ाली किया, घर पर धुलने वाले कपडे मशीन में और ड्राई क्लीनिंग वाले अलग रखे। शाम को बाज़ार पहुंचाने के लिएप् इतवार था तो आदतन दामोदरन पसरा रहा जब तक संजुक्ता ने टोका नहीं, खाने में उसके पसंद की चीज़ें थीं लेकिन जब वह बौद्ध मठों की बात करने लगा तो बेटी प्रिया ने आंखों से इशारा किया और उसे याद आया कि संजुक्ता को खाने की मेज़ पर गपबाज़ी पसंद नहीं। शाम को बेटे प्रमोद की गिटार की क्लास थी, प्रिया का ट्यूशन; दिन रात में ढला और अगले दिन से फिर काम की धांय-धांय! गुरुवार को दामोदरन ने उकताकर पूछा,

'तुम्हें क्या कोई दिलचस्पी नहीं है बांग्लादेश के बौद्ध विहारों में?'

'तुम घूमने गये थे, ज़रूर जो जी चाहा होगा, देखा ही होगा?'

'तुम्हे नहीं जानना?'

'जानना होता तो खुद चलती तुम्हारे साथ।'

हमेशा की तरह उसके कपड़े धुले और इस्त्री किये होते, खाने पीने की चीज़ों की कभी कमी न होती, घर साफ़-सुथरा, सजा-संवरा रहता; दोनों अच्छा कमाते थे। शादी के शुरू के दिनों में दामोदरन ने अपने कॉलेज की भीतरी पॉलिटिक्स की घर में बात करने की कोशिश की थी। संजुक्ता ने बात सुन ली पर न तो कोई प्रतिक्रिया दी, न ही अपने कॉलेज की कोई बात बतायी। धीरे-धीरे दोनों का बिन कहे का रिश्ता ज़्यादा हो गया। संजुक्ता उसकी ज़रूरतें समझती और पूरी करती। संजुक्ता खुद का भी उतना ही ख़याल रखती, कोलकता की हर साड़ी एग्जिबिशन से चुनिंदा साड़ियां ख़रीदती, फ़िल्म की बहुत शौक़ीन नहीं थी लेकिन नाटक बहुत देखती; यह सब वह अकेले करती और नाटक या किताब पर चर्चा करने की उसे आदत नहीं थी। पांच साल से दोनों शांतिनिकेतन आ गये थे।

बांग्लादेश से लौटने के तीन सप्ताह बाद उसने तान्या को फ़ेसबुक पर फ्रेंड रिक्वेस्ट भेजी इस मेसेज के साथ, 'अगर आप मुनासिब समझें तो स्वीकार करें।'

'भला दोस्ती करने में क्या हर्ज़?' जवाब के साथ स्वीकृति मिली और फिर रोज़ बातें होने लगीं। वह पहले से ज़्यादा अपने लैपटॉप पर वक़्त गुज़ार रहा है, अगरचे इस बात पर संजुक्ता ने ध्यान दिया तो, कहा कुछ नहीं। चार महीने बाद तान्या प्राचीन भारत पर एक कांफ्रेंस में भाग लेने कोलकता पहुंची। बोलपुर से दामोदरन कैसे न जाता? बातें, मुलाक़ातें, तान्या का पेपर, प्राचीन युग पर लंबी चर्चा और कोलकता की गलियां। तान्या पहली बार भारत आयी थी; अचानक ही हुआ सब कुछ, तान्या अड़ गयी कि दामोदरन को उसके साथ साड़ियां ख़रीदने चलना होगा, वह हैरान कि साड़ी ख़रीदने में वह क्या करेगा;

एक एक करके वह हर साड़ी अपने बदन पर लगाती और उसकी राय पूछती; पहली बार दामोदरन को एहसास हुआ कि कोई महिला उसकी पसंद के कपड़े पहनना चाहती है।

'अरे आप कोलकता में पले बढ़े हैं, मुझे अपना स्कूल कॉलेज नहीं दिखायेंगे?'

मध्यमग्राम स्कूल की पुरानी, कई जगह से जर्जर हो गयी इमारत के बाहर कब वह अपने बड़े होने और पढ़ने की कहानी सुनाने लगा। पिता जो उसे दस साल का छोड़ नक्सल आंदोलन में शामिल हुए, या उनके हाथों अगवा किये गये; मां न विधवा, न सधवा, उसे पढ़ाने की ज़िद ठाने वह स्कूल की अध्यापिका; एक बार जो कथा बही तो बचपन से लेकर आजतक का अकेलापन बह निकला। दिल में बंद यादों के बाक्स को खोलने का सिलसिला भी अजीब है। यह बाक्स होता तो हर घर में है लेकिन इसमें रखी चीज़ों को धूप देने का ख़याल तब आता है जब कोई और अपना बाक्स खोलता है। तान्या भी अपने बचपन से लेकर जल्दी शादी और पति से अलहदगी की सारी दास्तान सुना गयी। जिस तरह से बाईस सालों में कभी संजुक्ता से बात नहीं हुई थी वह चार दिनों में तान्या से हुई, आप से तुम पर पहले कौन आया? किसने मुस्कुराकर कहा, 'एक तरह से देखें तो जीवन का आख़िर ही है हमारा।' किसने जवाब दिया, 'उम्र को सालों से कब जांचता है प्रेम।'

चार दिन बाद तान्या लौट गयी और जाते जाते दोनों ने एक-दूसरे से प्रेम का इक़रार कर लिया। तीन साल लग गये दोनों को एक-दूसरे के लिए आज़ाद होने में। तान्या का पति उसे तलाक़ नहीं देना चाहता था, उसे मनाना और थोड़ा धमकाना पड़ा; संजुक्ता को तलाक़ से कोई ऐतराज़ न था। लेकिन शादी अमेरिका में हुई थी इसलिए लंबा प्रोसेस था। तान्या का बेटा पिछले सात सालों से लंदन में था, मां की तन्हाई को समझता भी था और पश्चिमी जीवन को अपने भीतर उतार भी चुका था; लेकिन दामोदरन के दोनों बच्चों पर बुरा असर पड़ा; बेटी बड़ी थी, कॉलेज में आ चुकी थी अपने हिसाब से इश्क उसे करने का हक़ था, मां बाप का फ़र्ज़ था उसे रोकें, समझायें दिल खोल कर लड़ी भी और पिता को, 'बुढ़ाता मजनूं' कहने लगी। बेटा चुप हो गया, केवल दुःख भरी नज़रों से उसे देखता और देर रात तक बाहर घूमता रहता।

संजुक्ता ने बस एक ही शर्त रखी कि घर का और बच्चों का ख़र्च दामोदरन को देना होगा। प्रमोद के इलाज और दवाइयों का भी और तलाक जब हो तब हो, दामोदरन को अलग घर ले लेना होगा। उसका कहना था कि बच्चों की देखभाल तो वही करेगी, तो फिर ख़र्चा भी वह क्यों करे? शायद दमोरदारन को उसके इतनी जल्दी तलाक़ पर राज़ी हो जाने की उम्मीद नहीं थी, इसलिए सारी शर्तें मान लीं, एक कमरा किराये पर ले लिया और अपना सामान लेकर, जो संजुक्ता ने बड़े करीने से देख जांचकर, सूट केसों और कार्टनो में भर कर उसके हवाले कर दिया था, अलग हो गया। जब कमरा लिया था तो उसका वीडियो बनाकर तान्या को भेजा था, उसने जवाब दिया, 'अच्छा है, अभी तुम अकेले हो तो ठीक है, हम साथ होंगे तो बड़ा फ़्लैट देख लेंगे। चाहो तो बुक कर दो।'

दो की तनख़्वाह में घर आराम से चलता था, अब एक की आमदनी में दो घर चलाना मुश्किल होने लगा। दामोदरन को संजुक्ता का तर्क समझ में आया कि परिवार साथ था तो सब कुछ किया जा सकता था; अब वही सब वह अकेले क्यों करे?; घर और बच्चों को समय भी वह दे और ख़र्चा भी वही करे! हर दो तीन महीने में दामोदरन की मां को बीस पच्चीस हज़ार रुपये घर के ख़र्च से बचाकर वही भेजा करती थी। वह बंद हुआ तो मेदिनीपुर से मां का फ़ोन आया तो संजुक्ता ने साफ़ कह दिया, 'आपसे रिश्ता आपके बेटे से बना था, जब बेटे से रिश्ता टूट गया तो आपसे भी ख़त्म हो गया। बच्चे चाहें तो आपसे रिश्ता रख सकते हैं, मैं उन्हें नहीं रोकूंगी।' मां ने घबराकर दामोदरन को फ़ोन किया तो उन्हें भी क्या, क्यों, कैसे, सबकुछ बताना पड़ा। सब कुछ जानकर, दुःख व्यक्त करके उन्होंने अपनी ज़रूरत

बतायी। दामोदरन ने बैंक अकाउंट देखकर बीस हज़ार भिजवाये। एक प्रोफ़ेसर भला ट्यूशन दे यह कम ही सुनने में आता है, लेकिन यह भी करने की कोशिश की उसने। इस सबके बीच में सामने का एक दांत हिलने लगा उसका, डेंटिस्ट को दिखाने का वक़्त ही नहीं मिला और जब मिला तो देर हो चुकी थी। वैसे डॉक्टर ने कहा कि वह इम्प्लांट कर सकता है, लेकिन एक प्लेट के चालीस हज़ार उसके बस की बात न थी।

कपड़े अब न कभी वक़्त पर धुलते, न इस्त्री होते, अक्सर नहाना रह ही जाता, शेव कई दिनों तक नहीं बनती और बाल या बहुत छोटे कटवाता ताकि बार बार कटवाने की नौबत न आये या फिर कटवाना भूल ही जाता। शुरू-शुरू में दोस्तों ने ,'आख़िर प्रोफ़ेस्सोगीरी दिखायी देने ही लगी,' कहकर मज़ाक उड़ाया, कुछ एक ने सवाल करके जानने की कोशिश की, माजरा क्या है फिर सब उदासीन हो गये। मोटा तो वह कभी नहीं था लेकिन अब जैसे तीन दिन पुराना दसहेरी आम हो गया।

तान्या अचानक नहीं आयी थी। उसके आने की सूचना थी दामोदरन को; चाहता तो कमरा साफ़ कर सकता था, बेड की चादर बदल सकता था, कुर्सियों के लिए कुशन ख़रीद सकता था, एक आध तस्वीरें, पेंटिंग्स या पोस्टर दीवारों पर सजाता; 'टेक अवे' खाने के प्लास्टिक के पुराने डिब्बे तो फेंक ही सकता था। तान्या को जूठे बर्तनों और बचे हुए बासी खाने की महक से उबकाई आने लगी; इतना सुदर्शन आदमी साल भर में ऐसा डरावना लगने लगा था ख़ासकर हंसने में। ख़ैर दांत तो वह बनवा देगी, और क्या क्या करना है उसकी सूची वह मन ही मन तैयार करने लगी थी कि अचानक रुक गयी। उसे ऐसा क्यों लग रहा था कि वह अपने लिए एक गुड्डा तैयार कर रही है, जिसके कपड़े वह बदले, बाल वह कटवाये, घर वह संवारे। दोनों में साफ़गोई शुरू से थी, इसलिए यह बात उसने दामोदरन से कह दी।

'क्या तुमने दांत से, या नाक नक़्श से मोहब्बत की थी?' दामोदरन ने ज़रा बुरा मानते हुए पूछा।

'शक्ल-सूरत, क्या पहला परिचय नहीं होती? कलफ़ लगी, चुन्नटदार धोती पहने, साफ़-सुथरे चेहरे के आदमी और बदरंग लुंगी में बिना नहाये -धोये आदमी में कुछ फ़र्क़ नहीं है क्या?'

'अब क्या करूं, यह सब तो संजुक्ता किया करती थी। जब तुम आ जाओगी तो तुम कर दिया करना।'

तान्या ने चौंक कर उसे देखा, कुछ देर चुप रही फिर बोली, 'मैंने अकेले खुद की देखभाल की है, अपने आपको और अपनी ज़रूरतों को संभालती हूं, तुमसे प्यार करती हूं, प्यार तुम्हें दे सकतीं हूं, मगर तुम्हारी केयरटेकर नहीं हो सकती।'

दामोदरन हंसने लगा, 'तब तो मेरे इसी भेस की तुमको आदत डालनी होगी।'

'प्यार शून्य में हो भले जाये, पनपता नहीं। प्रेम को भी खाद, मिट्टी, हवा, पानी की ज़रूरत होती है।' तान्या इतना कहने के बाद कुछ पल रुकी, फिर बोली,

'मैं आज तक समझती थी कि ज़्यादातर पुरुष महिलाओं को खेलने वाली गुड़िया समझते हैं, मुझे मालूम नहीं था पुरुषों को खुद भी गुड्डा बनने की इतनी तमन्ना होती है!'

लगी बंधी, एक लीक या ढर्रे पर चलने वाली ज़िंदगी थी तीनों की; न जाने कामदेव ने अपना तीर किस एंगल से छोड़ा जो गोल-गोल घूमता रहा, लगा तो किसी को नहीं लेकिन जिससे घायल तीनों हुए, जिसने छुआ एक को भी नहीं लेकिन अछूता कोई भी न बचा। क्या जाने दोष कामदेव का था, या इन तीनों का जिन्होंने ज़रूरत को देखभाल, देखभाल को मोहब्बत और मोहब्बत को ज़रूरत पर निर्भर कर दिया था?

ईमेल : noorzaheer4@gmail-com

मो.9811772361

कलुआ

चरण सिंह पथिक

भैंस दर्द के कारण खंड के चारों ओर चक्कर काट रही थी। कभी बैठ जाती। तो कभी खड़ी होकर फिर चक्कर लगाती। दर्द की हिलोर पेट से उठती और पिछले हिस्से से टकराकर लौट जाती। जीभ बार-बार बाहर निकलती फिर बार-बार अंदर जाती। दर्द से निजात पाने का यह उसका अपना तरीक़ा था। कलावती बैठी हुई एकटक भैंस के पिछवाड़े पर नज़र रखे हुए थी। वह इंतजार में थी कि कब भैंस ठीक से स्थिर होकर खड़ी रहे या बैठ जाये जिससे वह नवजात को ठीक से खींचकर बाहर निकालकर भैंस को दर्द से, छुटकारा दिला सके।

जानवरों के ब्याने (प्रसव) के मामले में पहला अनुभव वह ख़ुद ही प्राप्त करना चाहती थी। वरना ज्यों ही नवजात के सिर और अगले पैर बाहर निकलते दिखते तो उसे खींचकर बाहर निकालने के सिद्धहस्त बहुत सारे थे उसके मुहल्ले में। वैसे तो वह अपने मुहल्ले के अलावा गांव की कई औरतों को जापा करवा चुकी थी। वह एक सिद्धहस्त दाई थी। उसके हाथ के हुनर के सभी क़ायल हैं। किसी को प्रसव होना होता तो बड़ी बूढ़ी यही कहतीं कि कलावती से बढ़िया कोई दाई नहीं है। उसने भी कभी किसी को टाला नहीं। कोई भी मौसम हो, कोई भी वक़्त हो, वह एक आवाज़ में साथ हो लेती। रंग में जितनी काली थी, उतनी ही जुबान की उजली और तेज़ थी कलावती। अमूमन उससे टकराने की कोई हिमाक़त करता ही नहीं था। अगर टकरा भी जाता तो वह अपनी तेज़ और खरी ज़ुबान के ऐसे करतब दिखाती कि सामने वाला खिसकने में ही अपनी भलाई समझता।

पचास घर के कोलीपाड़े में कुछ लोग दिल्ली, रतलाम, नागपुर के रेलवे स्टेशनों पर कुली का काम करते थे। कुछ मकानों के कारीगर थे, मुश्किल से दो-तीन लोग ही सरकारी नौकरी में थे। गांव के पूर्वी छोर पर बसा यह मुहल्ला आये दिन उफनता रहता। कलावती का कुनबा भरा-पूरा था। मगर यह कुनबा दुनिया को बाहर से देखने और कहने के लिए ही भरा-पूरा था। वरना कलावती की अपनी दुनिया तो अपने कबीर पंथी पति के घर छोड़ने के साथ ही उजाड़ और खंडहर हो चुकी थी। शादी के शुरुआती वर्षों में तो उसने अपने पति को अपनी देह की सांवली और चमकदार भूल-भुलैया में भटकाये रखा था; लेकिन वह एक रात गया तो फिर कभी लौटकर नहीं आया।

बोलने में इतनी तेज़ और खरी कि कब क्या बक दे, कोई पता नहीं जी। सामने वाला बात कहीं से शुरू करता और कलावती उसी बात को इतने मोड़ों पर ले जाती कि भटकने वाला भटक कर रह जाता। जब ख़त्म करती तो कबीर की एक-दो साखी ऊपर से और सुनाकर उसका दम ख़ुश्क कर देती। इसलिए उसका संवाद भी अपने ही मुहल्ले में बहुत कम हो पाता। पहले एक बकरी थी उसके पास! उससे बातें करती। अब भैंस है, पहली बार ब्यायेगी। कलावती परेशान है। भैंस अभी खूंटे के चारों ओर चक्कर लगाने से बाज़ नहीं आ रही है।

वह खीझकर भैंस को सुनाकर कहती, 'अब दर्द हो रहा है तो जीभ निकाल रही है और जब उचंग छूटी थी तो ख़ुद ही खूंटा तुड़ाकर भैंसा के दौड़कर गयी थी। अब भुगतना तो तुझे ही होगा। तेरी जगह मैं जणूं का...?'

वह अक्सर ऐसे ही संवाद करती। देवर, जेठ, देवरानी, जेठानी न बोलें तो न सही। उसे लड़ना हो तो भैंस है अपनी। पहले वह ऐसे ही बकरी से लड़ती। वह जब किसी का जापा करवाने जाती तो ऐसे ही जापे वाली को गरियाती। कोई उसका बुरा भी नहीं मानता। जापे वाली प्रसव में होने वाले दर्द से बिलबिलाती तो वह उसे झिड़ककर कहती, 'हां...हां, और ज़ोर लगा थोड़ा। बच्चादानी खुल रही है।'

प्रसव वेदना से जलती औरत बोलने में असमर्थ जब हाथ से इशारा कर बताती कि वह अब इससे ज़्यादा जोर नहीं लगा सकती तो कलावती सारे दर्द को सोख कर हंस कर कहती, 'उस वक़्त तो ख़ूब ज़ोर लगाया होगा...! तब नहीं सोचा कि आगे क्या होगा? अब करती है बकरी की तरह म्यं..म्यं।' वह ऐसे ही खुली भाषा में बातें कर साथ बैठी एक-दो बड़ी-बूढियों को हुंकारा देने को मजबूर कर दर्द को हवा में उड़ा देती। सहवास के ऐसे-ऐसे काल्पनिक और वास्तविक क़िस्से सुनाती कि जापे वाली नवोढ़ा के दर्द भरे चेहरे पर मुस्कान तैरने लगती। फिर वह अपने सधे हाथों का कमाल दिखाकर सकुशल जापा करवाती। दो-तीन दिन तक जच्चा-बच्चा के पोतड़े धोती और भी इस एवज में मिलता, उसे माथे से लगाकर ले जाती। कभी किसी से झंझट नहीं। जगी के दिनों में आधी-आधी रात तक कबीर की साखी गाकर सबको जगाये रखती।

ऐसी बात भी नहीं है कि प्रसव की अनगढ़ पीड़ा से कभी कलावती का साबक़ा की ही न पड़ा हो। जिस वक़्त उसका पति मांग्या उसे छोड़कर गया था, उस वक़्त उसके पेट में छह महीने का भूण था ऐसा भी नहीं था कि मांग्या ने पहली बार घर छोड़ा हो। इससे पहले भी वह बाबा किशनदास के साथ कबीर के पद, साखी और उलटबांसियां गाते हुए कभी महीना, कभी छह महीना के लिए ग़ायब हो जाता था। घर रहता तो वह शाम के वक़्त कलावती को भी साथ-साथ गाने के लिए मजबूर कर देता। कलावती सुर साधकर मांग्या का भरपूर साथ देती। लेकिन घर छोड़ने की आशंका से ही उसका बदन झनझना उठता था। वह रात के एकांत में मांग्या से घर न छोड़ने का पुराने ज़माने की तर्ज़ पर क़ौल-क़रार करा लेती।

कुल तीन भाइयों में मांग्या मंझला था। कलावती की सांवली देह और उसकी लच्छेदार रसभरी बातें मांग्या को बांधे रखतीं। खेती के नाम पर कुल दो बीघा ज़मीन। खाने के लिए अनाज की पूर्ति नहीं हो पाती थी। उससे बड़ा और छोटा रतलाम और नागपुर के रेलवे स्टेशनों पर कुली का काम करते। कलावती और मांग्या मज़दूरी करके घर का अपना ख़र्च चला लेते। कलावती की इच्छा थी कि मांग्या अगर नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर कुली हो जाये तो आमदनी का स्थायी ज़रिया बन सकता है। मगर कुली का महंगा होता नंबर उसे चांद-तारों जैसा लगता। छोटे-बड़े ने जब नंबर ख़रीदा था तो बहुत सस्ता था। आज मांग्या नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर कुली होने के लिए चार-पांच लाख रुपये कहां से लाये? बेचने के लिए न ज़ेवर न खेत...।

वह कौन-सी मजबूरी थी जिसके तहत मांग्या ने घर छोड़ा...? कलावती आज तक इस बात को समझ नहीं पायी। वह रात के एकांत में ख़ूब सोचती मगर कोई राह न सूझती। मांग्या के घर छोड़ने के तीन महीने बाद प्रसव की जिस अपार वेदना से वह गुज़री थी, उसमें उसकी जान मुश्किल से बच पायी थी। मगर वह अपने नवजात को नहीं बचा सकी। तीन महीने बाद होने वाले नवजात का मोह भी मांग्या को रोक नहीं पाया था।

आज अगर उसका बेटा जीवित होता तो गबरू जवान होता। जिस अनकही और अनगढ़ पीड़ा से

वह गुज़री थी, अब उसकी कल्पना कर सिहर उठती है। और इसी सिहरन ने उसे तेज़ छुरी जैसी जुबान देकर बानी का जीवन बचा लिया था।

जेठ और देवर दोनों की नज़र उसके शरीर पर रहती। दो-तीन महीने वे अपनी-अपनी जगहों पर कुलीगिरी करते। जो कमा कर लाते, उसे गांव आकर दारू-मीट में उड़ा देते। एक-दो महीना रुककर फिर काम पर चले जाते। जब घर होते तो शाम को नशे में धुत्त दोनों ही उसकी फ़िराक़ में रहते। मगर कलावती हाथ नहीं रखने देती। वह दिन भर सांझे में उनके क़बीला के लिए खटती रहती। ज्यों-ज्यों शाम होती, वह दरकने लगती। हद तो यह थी कि उसकी बूढ़ी सास भी उसे दोनों में से किसी एक की चादर ओढ़ने को कहती, 'अकेली औरत कब तक करवट बदलेगी कलावती... घूडिया तेरा देवर ठहरा। उसी को कर ले...'

'मैं कोई विधवा नहीं हूं। ख़सम ने घर छोड़ा है, देह नहीं। कभी तो आयेगा निपूता...।' कलावती बूढ़ी सास को बरजकर कहती। बूढ़ी सास फिर आगे नहीं कह पाती।

एक रात दोनों भाइयों ने मिलकर उसे दबोचना चाहा तो वह कुल्हाड़ी उठाकर बिफर पड़ी, 'आज के बाद फिर ऐसी हरकत मत करना, वरना दोनों के बुरका-बुरका करके नाले में डाल दूंगी।'

उसने गुस्से में कांपते हुए पूरी ताक़त से कुल्हाड़ी का भरपूर वार घर के किवाड़ पर किया। बायें पांव की भरपूर लात मारी। किवाड़ रात के सन्नाटे को चीरता हुआ भरभराकर गिर पड़ा। उसने एक पांव गिरे हुए किवाड़ पर जमा कर कहा, 'आज के बाद मेरे हिस्से के घर में किवाड़ भी नहीं लगेगा। जिसकी माई ने दूध पिलाया हो वो आये मेरे पास...।'

बाहर जगार हो चुकी थी। सर्दियों की वह धुंध भरी रात थी। उसी के मुहल्ले के उसी के कुनबे के लोग उसे हैरत से देखे जा रहे थे। औरतें खुसर-फुसर में मशगूल दोनों भाइयों को लानत भेज रही थीं। उसकी देवरानी और जेठानी अपने पतियों की करतूत और कलावती के कारनामे पर जल-भुन रही थीं। उस रात सुबह तक जो वितंडा हुआ, उसे कलावती आज तक नहीं भूल पायी। उसकी देवरानी ने उस रात जो ताना मारा, वह आज तक उसके गले में फांस बनकर अटका हुआ है। उसने कहा था, 'तुझ जैसी काली, कलूटी को कौन मर्द सूंघेगा...? ऐसी ही है तो काहे भगाया अपने मर्द को...? सिंगार-पटार तो ऐसे करती रहती है जैसे किसी को खा जायेगी। ऊपर से नख़रे करती है छिनाल!' देवरानी के कुबोलों ने उसे झिंझोड़कर रख दिया था। जी में तो आया था कि कुल्हाड़ी की एक ही वार से उसकी गर्दन अलग कर दे, मगर वह यह सोचकर थम गयी कि अभी वह वक़्त नहीं आया है।

इसके बाद उसका अलग द्वार, अपना खाना और अपना सोना-जागना। किवाड़ अब भी उसकी दो घर की पाटौर में नहीं है। कुछ मज़दूरी और कुछ दाई का काम। वह अपने अकेले पेट लायक़ कमा ही लेती। सास को मरे हुए अब बरसों हो चुके हैं। ससुर की उसने आज तक सूरत नहीं देखी। सुना था उसने भी बहुत पहले ही घर छोड़ दिया था। मांग्या ने शायद परंपरा निभायी है।

अतीत याद आता तो उसकी आंखें झरने लगतीं। वह चुपचाप लूगड़ी के पल्लू से आंखों के कोर पोंछ डालती।

भैंस बैठ चुकी थी। वह मुंह फाड़े ज़ोर-ज़ोर से सांसें ले रही थी। कलावती की सतर्क निगाहें उसके पिछवाड़े पर जमी हुई थीं उसने देखा कि पानी की एक थैली सबसे पहले बाहर निक़ली। वह तैयार थी। दर्द की हिलोरे लगातार भैंस के पिछवाड़े से टकरा रही थीं। वह बेचैनी से पहलू बदलती हुई अचानक खड़ी हो गयी। कलावती भी खड़ी होकर भैंस के पीछे आ गयी। कुछ मिनटों बाद नवजात का सिर और अगले पैर नज़र आये।

कलावती ने आदतन कहा, 'ज़ोर लगाकर कलकत्ती। भैंस का नाम भी उसने कलकत्ती रख छोड़ा था। कलावती ने फुर्ती से अपनी हथेलियों में राख मलकर नवजात के चिकने और लिसलिसे अगले पैर मज़बूती से पकड़कर फिर कहा, 'शाबाश कलकत्ती! थोड़ा और ज़ोर लगा। बस्स हुआ ही समझो। नवजात एक मिनट से भी कम समय में कलावती के मज़बूत और सधे हाथों में होता हुआ फिसलकर ज़मीन पर आया। आदत के अनुसार कलावती ने नवजात के ऊपर लिथड़ी चिकनी महीन झिल्ली अपने हाथ से सूंतकर अलग की। उसके पिछवाड़े हाथ फेरकर देखा और किलक उठी। 'पाड़ा...! वह पहले से ही तैयार गुनगुना पानी झट से दौड़कर ले आयी। बड़ी हसरत से पाड़े को नहलाया। फिर अचानक जैसे कुछ याद आया। वह लपकर घर से अंदर से थाली लायी। शाम के धुंधलके में पूरा मुहल्ला झनझना उठा। थाली की गूंज उसकी देवरानी और जेठानी के कानों से होती हुई उनके दिल में गूंजकर खटकने लगी। मुहल्ले के बच्चे कौतुक से उसके छोटे से बाड़े में इकट्ठे हो चुके थे। कोई चाची तो कोई ताई कहकर बार-बार पूछता, 'क्या कर डाला?'

कलावती पुलकर ज़ोर से अपने कुटुंबियों को सुनाकर कहती, 'कलुआ।'

उसकी देवरानी गुस्से में भरभुट होकर अपने आंगन में बड़बड़ायी, 'रांड़ को इतना ही कलुआ जनने का शौक़ था तो ख़सम कर लेती। अब बोलती है भेलड़ा-कौ-भेलड़ा। भैंस की तरह उठी-उठी...।'

लेकिन कलावती तो अपने कलुआ में मगन थी। मुहल्ले के बच्चों को भैंस के वास्ते लाया गुड़ बांट चुकी थी। कलावती सोचती, 'ज़माने की उलटी रीत। भैंस अगर पाड़ा देती है तो धणी का मुंह उतर जाता है। गाय और औरत का तो एक जैसा हाल है। अजीब दुनिया है।'

वह कलुआ पर प्यार से हाथ फेरती रही। उसे चटाती रही। उसे पता है, अभी तो बहुत मेहनत बाक़ी है। कलकत्ती को अपनी झेर डालना है। कौओं और कुत्तों से कलुआ की नाल और उसके पैरों के नरम नीले-नीले खुरों को बचाना है। जापे की जटिलता और व्यस्ता को वह बख़ूबी जानती-समझती है। जापे वाली चाहे भैंस हो या औरत। उसने एक बाल्टी में भैंस का कीला (सद्यः प्रसूता भैंस या गाय का दूध) काढ़ा और कलुआ को कौली में भरकर जैसे-तैसे खड़ा करके भैंस का थन उसके मुंह में दे दिया। कलुआ के लिए उसने बेटे की तरह मनौती मांगी थी। वह उसे बेटे की तरह ही खिला-पिलाकर बड़ा करेगी। कुछ भी हो जाये, क़साइयों के हाथ में नहीं देगी।

उसे याद आया जब वह 'उठी हुई कलकत्ती को लेकर गांव के मुहल्ले-मुहल्ले परेशान डोलती रही थी। गांव में एक भी सार्वजनिक भैंसा नहीं था।' कलकत्ती ज़ोर-ज़ोर से रेंकती और दौड़ती। लोग तीख़ा और कटु मजाक़ करते। उसे पहली बार ऐसा हुआ कि एक अकेली औरत का 'उठी हुई भैंस को' बुआने ले जाने पर लोग कैसे-कैसे बेहूदे, गंदे और बेमतलब के सवाल पूछते हैं। दो-चार दबंगों के छोरों ने तो उसकी नाक में दम कर दिया था। 'काहे कलावती! भैंस उठी है क्या...?'

कलावती लाज से लबरेज होकर बस इतना ही कह सकी थी, 'हां।'

उनमें से एक ने अपने दूसरे साथी की तरफ़ इशारा कर कहा था, 'इधर आ जा, ये बू देगा।'

कलावती जल्दी-जल्दी कलकत्ती की सांकल पकड़े जब आगे बढ़ी थी, तो उनमें से एक ने रास्ता रोककर कहा था, 'भैंस के संग-संग कभी तू नहीं 'उठती' क्या?

तब कलावती यह सोचकर कि कौन मुंह लगे, आगे बढ़ गयी थी। अगर कोई और वक़्त होता तो वह उनकी सब सांड़गिरी भुला देती।

जब से गांव में दो-तीन दबंगों ने भैंसा रखकर भैंस 'बुआने का धंधा शुरू किया, तब से गांव में कोई भी सार्वजनिक भैंसा नहीं टिक पाता। वे उस सांड़ भैंसे को मार-मारकर गांव के बाहर खदेड़ देते।

उनकी जमकर कमाई होती। एक बार बुआने के सौ रुपये लेते।

कलावती के लिए सौ रुपये ही पहाड़ जैसे हो गये थे तिस पर यह कि 'मेरे पाड़े के पास लेकर चल वरना...?' मगर कलावती सबको ठेंगा दिखाकर दूसरे गांव जाकर ही वहां के सार्वजनिक भैंसे से कलकत्ती को बुआ कर लायी थी। उसने उसी वक्तध तय कर लिया था कि अगर उसकी कलकत्ती पाढ़ा डाल देगी, तो वह ग़रीब-गुरबों की भैंसों का ज़रूर ख़याल रखेगी। वह अपने कलुआ को सार्वजनिक सांड़ भैंसे के रूप में छोड़ देगी।

दिन गुज़रने के साथ-साथ कलुआ का काला रंग निखरने लगा। कलावती मन से उसे नहलाती। फिर सरसों का तेल लगाती। कलकत्ती का आधा दूध उसे चुखा देती। साल भर बाद कलुआ के पट्टे भरने लगे। माथे पर छोटी-छोटी सींगड़ी निकलने लगी। कलकत्ती फिर 'उठी' और कलावती ने दबंगों की लाख कोशिशों के बावजूद उनके पाढ़ों से कलकत्ती नहीं 'बुआई'। वह अब भी दूसरे गांव तीन कोस जाकर कलकत्ती को 'बुआ' कर लाई। कसाई अलग से आये दिन गांव के हर मुहल्ले की हर गली में टेर लगाकर पूछते रहते, 'कोई भैंस-पाढ़ा बिकाऊ है क्या...? किसान अपनी उन बूढ़ी भैंसों को कसाइयों के हाथों बेच देते जिनकी भविष्य में ब्याने की उम्मीद टूट चुकी होती है। साथ में उन मरगिल्ले से पाढ़ों को भी बेच देते, जो साल-दो-साल में हज़ार-आठ सौ रुपये तक बिकने लायक़ हो जाते थे। कलुआ का काला-चमकीला रंग और पुष्ट पुट्ठों को देख-टटोलकर वे कलावती से उसे बेचने का इसरार करते।'

'दो हज़ार देंगे।'

'न भैया, बिलकुल नीं...'

'पांच सौ और ले लेना माई।'

'पांच लाख भी नीं...।'

कलावती सारे रास्ते बंद कर टका-सा जवाब देती। वह मन-ही-मन या जी में आया तो ख़ूब सुना-सुनाकर कहती, 'बेटे की तरह पाला है कलुआ को...कसाइयों को कैसे बेच दूं..दूध में गुड़ मिलाकर पिलाती हूं'।

तीन साल का होते-होते कलुआ भैंस 'बूने' के क़ाबिल हो चुका था। उसकी छोटी-छोटी सींगड़ी माथे की ओर मुड़कर जलेबी की तरह चक्करदार होने लगी थी। काली चमड़ी ऐसे चमकती जैसे सांप की केंचुली हो। कलावती उसे अब भी रोज नहलाती, तेल चुपड़ती जिससे उसकी चमड़ी का रंग और भी काला होकर चमकने लगता।

थोड़ी देर अगर वह खुला रह जाता तो आस-पड़ोस की भैंसों को सूंघता फिरता। कलावती उसे 'गांववाई बनाने का पक्का इरादा कर चुकी थी। कलवा की क़द-काठी और पुष्ठता को देखकर हर कोई रश्क करता। कलावती तो रोज़ उसकी बेटे की तरह बलैयां लेती।'

एक दिन कलावती ने गांव के हर मुहल्ले में घूम-घूमकर गांव के मुख्य-मुख्य पंच पटेलों को गांव के बीच स्थित अंथाई पर इक्ट्ठा किया। लोगों ने पूछा तो यह कहा, 'मेरे घर का कोई मसला है।'

पंचायत जुड़ने के नाम पर गांव में लोग ख़ूब इकट्ठा हो जाते हैं। अंथाई पर दबंगों और गांव की सभी जातियों के पंच पटेलों सहित लगभग पचास आदमी एकत्रित हो चुके थे। कलावती अंथाई से कुछ दूर बैठी हुई थी। बद्री पटेल ने खड़े होकर कहा, 'कलावती कोलिन ने पंचायत बुलायी है। मसला बताया नहीं। सरपंच मदन लाल खटीक भी यहीं मौजूद हैं। अच्छा हो, कलावती से मसला पूछ कर पंचों के सामने रखें।'

सरपंच मदनलाल एससी की आरक्षित सीट पर जीतकर सरपंच बना था। पैंतीस साला सरपंच पटेलों

और दबंगों के बीच कबूतर-सा दुबका हुआ बैठा था, जैसे कोई बहुत सारी बिल्लियों के बीच बैठा हो। वह अंथाई से उतरकर कलावती के पास आया। कलावती ने उसे धीमे-धीमे स्वर में बता दिया कि 'मैं कलुआ को गांव के सुपुर्द करना चाहती हूं।'

सरपंच ने अंथाई पर जाकर सभी पंच पटेलों को कलावती का इरादा सुना कर कहा, 'बहुत अच्छी बात है की कलावती गांव के लिए अपना पाड़ा दे रही है—वह भी मुफ़्त। गांव में एक पंचायती पाढ़े की कमी भी है। कलावती का पाड़ा भी उम्दा नस्ल का है। मैंने उसे देख रखा है।'

अंथाई और उसके आसपास अब तक सैकड़ों की संख्या में लोग एकत्रित हो चुके थे। बहुत सारे लोग धीमे-धीमे स्वर में एक-दूसरे से यह कहने में मशगूल थे की कलावती ने यह काम तो अच्छा किया है, वरना उसके जैसा पड़ा बीस हज़ार से कम में नहीं आता। लोगों को अब सुविधा भी होगी। गांव में इसकी कमी है ही, लेकिन फ़ैसला तो गांव के चार-पांच मुख्य पटेलों के ऊपर निर्भर था। उनके आगे क्या सरपंच और क्या ग्राम पंचायत की औक़ात। वे चाहें तो कलावती के पाड़े को पड़िया सिद्ध कर दें। चाहें तो खस्सी सिद्ध कर दें। पांचों मुख्य पटेल दबंग जाति के ठहरे। ऐसी वैसी जातियों के पटेल तो बेचारे इनके पिछलग्गू बनकर हां में हां और ना में ना मिलाने को मजबूर होते हैं। तीन पटेलों के अपने-अपने घरेलू पाड़ा थे, जिनसे वे धंधा करके चार- पांच सौ रोज़ की कमाई कर लेते थे। मामला बड़ा पेचीदा होता जा रहा था। लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। अगर कलावती का पाड़ा गांववाई छूटता है तो तीनों पटेलों के पाड़े ख़ाली खड़े-खड़े अपने खूंटों पर पूंछ हिलायेंगे। हो सकता है, क़साइयों को बेचने पड़ जायें। कौन भैंस लेकर जायेगा कलुआ के रहते उनके पास...?

ज़्यादातर लोग और सरपंच चाहते थे कि कलावती के पाड़े का कान पांच आदमियों की उपस्थिति में थोड़ा-सा काट काटकर यहीं गांववाई बना दिया जाये। मामला उलझता देखकर भारती पटेल ने कहा, 'कलावती का पाड़ा अच्छा है, मगर इसमें एक पेंच है। उस पर भी गांव के पंच ग़ौर कर लें।'

लोग उत्सुकता से भरती के चेहरे की ओर ताकने लगे। भरती पटेल भी अपना घरेलू पाड़ा रखे हुए थे। उसने बड़ी भद्र और नर्म आवाज़ में कहा, 'गांव में आज तक ऐसा नहीं हुआ कि कोई पाड़ा या बिजार कोली, चमार, खटीक आदि जातियों ने छोड़ा हो। मेरी तो सातों पीढ़ी पटेलाई करती हुई इसी गांव में मर-खप गयी। हमने तो कभी बाप-दादों से सुना नहीं ऐसा...।'

'हां, यह तो है। बात भी सही है। आसपास के गांवों के लोग क्या सोचेंगे कि अमुक गांव में अब कोलियों का पाड़ा अच्छे-अच्छे दबंग पटेलों की भैंसों को 'बू' रहा है। बड़ा नीचा देखना पड़ जायेगा आसपास के गांव की बिरादरी में।' रामदयाल ने भरती का समर्थन किया।

लोगों में फिर खुसर-पुसर होने लगी। कलावती ने तो सपने में भी ऐसी बातों को नहीं सोचा था। वह तो सभी दबंगों के यहां जापा करवाने जाती रही है। तब नहीं कहते ये पटेल कि हमारी जनानी की 'उसको हाथ मत लगाना।'

उसने एक बच्चे के ज़रिये सरपंच को अपने पास बुलाकर तीखे स्वर में कहा, 'आप गांव के सरपंच हैं। आप कुछ क्यों नहीं कहते जी...? पाड़े में जाति कहां से खुसेड़ दी इन्होंने?'

'इनको कौन समझाये कलावती...? सब अपने स्वार्थ में अंधे और बहरे हो चुके हैं।' सरपंच ने लाचार और बेबस आवाज़ में अपनी मजबूरी बतायी।

'लेकिन इनसे इतना तो कह ही सकते हैं कि पाड़ा, पटेल और दूध की जात नहीं देखी जा सकती।' कहते हुए कलावती का चेहरा तमतमा गया।

सरपंच थके क़दमों से अंथाई पर आया। कहा, 'कलावती ठीक कहती है।'

'क्या ठीक कहती है।' एक साथ कई स्वर उभरे।

'यही कि पाड़ा, पटेल और दूध की जात नहीं देखी जाती।'

'यह कहावत अब पुरानी हो चुकी है। ज़माना बदल गया है'। राम ने प्रतिवाद किया।

'ठीक है लेकिन इस बदले ज़माने में जात-पात का क़िस्सा भी पुराना पड़कर पीछे छूट चुका है।' सरपंच ने जवाब दिया।

'अजी, सरकारी काग़ज़ों में जात-पात मिटने से यह मतलब तो नहीं कि हमारे यहां ख़त्म हो गयी हो! सरकारी काग़ज़ों में तो न जाने क्या-क्या काला-पीला होता रहता है।' भरती ने कड़ककर कहा।

बहस लंबी चले, इसके बजाय सरपंच चाहता था कि कलुआ के बारे में कुछ फ़ैसला हो जाये। इसलिए उसने फिर अपनी तरफ़ से पंचायत में कोशिश की। 'आप फिर सोच लें। आदमियों ने तो अपनी जात बता दी मगर जानवरों को तो जात-पात में मत बांटो।'

'यह क़िस्सा ही ख़त्म करो भाई।' भरती ने गुस्से में कहा, फिर कलावती को ज़हर-बुझी सांत्वना दी, 'कलावती नेक दिल है। घर-घर जापा करवा चुकी है। हमने तब कहां इसकी जात देखी। मगर यह मामला ऐसा है कि अगर कोई मुझसे ही पूछ बैठे कि कल कि मेरी भैंस कौन से पाड़े से 'बूई' है? और मैं ये कहूं अपने नाते-रिश्तेदारों या अपने बिरादर भाइयों से कि मेरी भैंस कोली वाले पाड़े से ग्याभिन है तो मेरी तो भद्द कुट गयी न...! वैसे तुम सोचते होगे कि हम जात-पात में विश्वास करते हैं? क़तई नहीं। यहां सरपंच बैठा है। इससे पूछ लो। हम इसे बराबर से अपनी चारपाई पर बैठाते हैं। लेकिन यह पाड़े वाला मामला ही ऐसा है। बाहर गांव के लोग सोचेंगे कि अमुक गांव के पंच-पटेल एक पाड़ा गांववाई तक नहीं ला सके। इसलिए एक कोलिन ने अपना पाड़ा गांव को दान दिया है। तो भैया, हम पंच-पटेलों की बेइज्ज़ती तो होगी ही, साथ में गांव का नाम भी बदनाम होगा। हमें तो सभी जगह पटेलाई करने जाना पड़ता है। यह सरपंच तो गांव की हद तक ही ठहरा।'

कलावती ने देखा—सभी लोग भरती पटेल की बातों से सहमत हैं। उसे कबीर के दोहे, साखी और उलटबांसियां याद आने लगीं। मगर सुनाये किसे...? कौन सुनेगा...? उसने अपने बूते थके स्वर में जहां बैठी थी, वहीं से सबको सुनाकर कहा, 'पंचों का फ़ैसला पंचों के ही माथे...। कलुआ गांववाई न सही लेकिन इस बस्ती की कोई भी भैंस हो या दूसरी बस्ती की भैंस... कलावती के कलुआ के पास ले आना, कलावती एक धेला भी नहीं लेगी।' उसने यह बात सबको ज़ोर से सुनाकर कही। अंथाई पर बैठे पंच-पटेलों सहित आसपास बैठे सभी लोगों ने सुना।

पंचायत लगभग बिखर चुकी थी। कलावती भी थके क़दमों से अपने मुहल्ले की तरफ़ मुड़ चुकी थी। वह मन-ही-मन में बड़बड़ायी, 'मैंने कलुआ को दूध, गुड़ और घी खिला-पिलाकर पूत-सा पाला है। आज वो कोली हो गया। तो भैंस ही तो 'बूता'।' किसी की बहन-बेटी की इज़्ज़त तो नहीं लेता।

कलावती की कही हुई बात सुनकर पंचायत बिखरते वक़्त रामदयाल ने कुटिल मुस्कान के साथ जो कहा, वह शायद कलावती ने सुना हो या न सुना हो लेकिन और सभी ने सुना, 'कलुआ गांव में रहेगा तब न...?'

जनता एवं साहित्य

रशीद जहां

(डा. रशीद जहां, 1905-1952, भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की आधारशिला रखने वाले लेखकों की सबसे अहम सक्रिय साथी थीं, पेशे से मेडिकल डाक्टर, कहानीकार, नाटककार, संगठनकर्ता और प्रतिबद्ध मार्क्सवादी। उनके लेखों का एक संग्रह, *हमारी आज़ादी तथा अन्य लेख,* हाल ही में शकील सिद्दीक़ी ने संपादित करके प्रकाशित कराया है, यह लेख उसी संकलन से लिया है जो फ़ासीवादी विचारधारा से उनके विचारधारात्मक संघर्ष को दिखाता है और आज के दौर में हम लेखकों को प्रेरित करता है। हम शकील साहब के आभारी हैं जिन्होंने यह लेख हमें उपलब्ध कराया - **संपादक**)

आज सारी दुनिया एक ज़बरदस्त जंग के पंजे में जकड़ी हुई है और हम-आप ऐसे वक़्त में एक जगह जमा हुए हैं; चाहे हम ऐन लड़ाई के मोर्चे पर हों या अपने घरों में बैठे हों, इस जंगे-अज़ीम (विश्वयुद्ध) का असर हम सब पर पड़ता है। जो मुसन्निफ़ हैं और अवाम के ख़यालों की तरजुमानी करते हैं और उनके ऊपर असर डाल सकते हैं, आज हम इस लड़ाई की तरफ़ से ग़ैरजानिबदाराना (निरपेक्ष) पक्ष नहीं अख़्तियार कर सकते। किसी ज़माने की तारीख़ (इतिहास) देखिए और हर बार यही बातें पायेंगे कि उस ज़माने के वे मुसन्निफ़ और मुफ़क्किर (चिंतक) जो अपने मुल्क और अवाम के साथ थे वे कभी भी जंग से ग़ैरजानिबदार नहीं रहे बल्कि लड़ाई के ज़माने में उन्होंने अपनी तसानीफ़ (कृतियों) और गीतों और नज़्मों के ज़रिये से जंग में हिस्सा लिया। हमारे बुज़ुर्ग मुसन्निफ़ और शायर हमारे मौजूदा साथी दूसरे मुल्कों में हैं, हमें आज उनके साथ-साथ क़दम मिलाकर चलना है।

फ़ासिज़्म को ख़त्म करना है, हमारे अवाम और उनके रहनुमा ख़्वाह वे सियासत में हों, एकतेसादियात (अर्थशास्त्र) से तअल्लुक़ रखते हों और ख़्वाह आर्टिस्ट हों, वे हरगिज़ इस लड़ाई में ग़ैर-जानिबदार बनकर नहीं रह सकते। पहले पंद्रह साल में हमारे मुल्क के देशप्रेमी बराबर हमको यह समझाते चले आ रहे हैं कि नाज़िज़्म के बराबर आज तक इतिहास ने जाबिर, ज़ालिम और ख़ौफ़नाक निज़ाम नहीं देखा है और इससे बड़ा कोई दुश्मने इंसानियत, तहज़ीब और अदब का नहीं है। हमारे मुहिब्बे वतनों (देशप्रेमियों) ने ही हम को बैनुलअकवामी (अंतर्राष्ट्रीय) नज़रिया सिखाया है और हमें जो हमदर्दी स्पेन के साथ, चीन के साथ और जो नफ़रत इटली, जर्मनी के पिठ्ठू फिरंगियों के साथ और जापानी दरिंदों के साथ ज़ाहिर करते हैं या सोवियत यूनियन को अवाम की आज़ादी का रहनुमा मानते हैं तो यह इसी पिछले पंद्रह साला तालीम का नतीजा है। हम हिंदुस्तानियों ने भी दिशा चुन ली है और हम आज इस फ़ासिज़्म की जो दुनिया को गुलाम बनाने और तहज़ीब और अदब को मिटाने पर तुली हुई है कहीं पूरी तौर से हार चाहते हैं। हमारे मशहूर शायर टैगोर ने उन तमाम पेशबंदियों पर जो होनिकोची जापानी फ़ासिस्ट मुसन्निफ़ ने की थी थूक दिया। क्या आज हम ग़ैरजानिबदाराना सूरत अख़्तियार करके अपने मशहूर शायर और अपने देशप्रेमी लीडरों को झूठा ठहरा सकते हैं? नहीं, हरगिज़ नहीं, हम हिंदुस्तानी फ़ासिज़्म को इस लड़ाई में पूरी-पूरी तौर से बरबाद करना चाहते हैं और हर मुल्क और क़ौम को आज़ाद देखना चाहते हैं। हम को

देखना यह है कि आज दुनिया की आज़ादी के वास्ते सब से आगे बढ़कर कौन लड़ रहा है। सोवियत यूनियन और उसकी फ़ौज बहादुर है या चीनी बहादुर हैं, और उन बहादुर मुसन्निफों, ड्रामा व नाविल नवीसों, शायरों का भी शुमार है जो शहर-बदर (निष्कासित) किये गये है या मारे गये हैं। बहुत से शायर इटली, जापानी मुसन्निफ़ (लेखक) भी इन्हीं बहादुर मुसन्निफ़ों के साथ याद किये जाते हैं। हम सबसे पहले उनको अपना सलाम भेजते हैं।

हमारे हिंदुस्तानी लेखकों पर ग़ैर-मुल्की लिट्रेचर का बहुत बड़ा असर पड़ा है और हमारे अदीब तुर्गनेव, टॉल्सटॉय, चेख़व, गोर्की जैसे ज़बरदस्त मुसन्निफ़ों की किताबें पढ़कर उन से प्रभावित होते हैं तो क्या यह मुमकिन है कि इस फ़ासिस्ट जर्मनी को जिस ने टॉल्सटॉय, और मिसीनिया को बरबाद कर दिया, उन्हें गारत करने में मदद न दें या जिन्होंने चेख़व, गोर्की के घरों को उजाड़ दिया उनको नेस्त-व-नाबूद न करना चाहिए?

हमारी पूरी तरफ़दारी लाल फ़ौज के साथ है जो उन ज़ाहिल फ़ासिस्टों को मिटाने पर तुली है। हम ऐसे ज़बरदस्त मशहूर मुसन्निफ़ों मसलन फ्रेड्रिक मान, टोलर डेविग जो जर्मनी से निकाल दिये गये हैं के साथ खड़े होना अपनी इज़्ज़त ख़याल करते हैं और ऐसे लोगों के क़रीब बैठना मसलन रोमा रोलां, जॉन आइंस्टाइन या पर्ल बक, अपने लिए फ़ख्र समझते हैं।

दुनिया के अवाम एक तरफ़ हैं और उनके दुश्मन दूसरी तरफ़। हम मुसन्निफ़ीन (लेखकों) की ज़बान चाहे अलग-अलग हो लेकिन सब को एक आवाज़ ख़याल होकर यही कहना है फ़ासिज़्म की मौत हो, गुलामी की मौत हो, आज़ादी और अवाम की हर जगह फ़तह हो।

स्मरण

जालियांवाला बाग़ क़त्लेआम की शती
साझी शहादत-साझी विरासत की गौरव गाथा

शम्सुल इस्लाम

विश्व इतिहास की पहली साम्राज्यवादी शक्ति अंग्रेज़ नहीं थे। इतिहास साम्राज्यों की दास्तानों से भरा पड़ा है। हम सब पुर्तगाली, रोमन, फ्रांसीसी, उस्मानियाई, जर्मन इत्यादि साम्राज्यों की रक्त रंजित दास्तानों से बख़ूबी परिचित हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि अंग्रेज़ी साम्राज्य एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह साम्राज्य ज़्यादा व्यापक, स्थायी और निरंतरता लिये हुए था। अंग्रेज़ी साम्राज्य के ज़्यादा टिकाऊ होने का सबसे बड़ा कारण यह था कि उन्होंने साम्राज्य चलाने के काम को एक संस्थागत रूप दिया था। उन्होंने इस काम के लिए दफ़्तरों का जाल-सा बिछा दिया था। साम्राज्य द्वारा की जाने वाली हर गतिविधि की सूचना हासिल की जाती थी और उसे संग्रहीत किया जाता था। अंग्रेज़ साम्राज्य पहला साम्राज्य था, जिसने राज-काज से संबंधित तमाम दस्तावेज़ों और काग़ज़ात को अभिलेखागारों में सुरक्षित रखना शुरू किया। ये सब करने के पीछे उनका पुरानी चीज़ों के प्रति मोह नहीं था, बल्कि वे इतिहास के इन अनुभवों के माध्यम से वर्तमान को समझना और भविष्य को संचालित करना चाहते थे।

भारत में अंग्रेज़ों ने 1891 में केंद्रीय अभिलेखागार की स्थापना कलकत्ता में की। बाद में इसे दिल्ली लाया गया। इसमें अंग्रेज़ी शासन के तमाम सरकारी दस्तावेज़ों का तो संग्रह था ही, इसके अलावा इसमें खुफ़िया रिपोर्टों, सरकार विरोधी गतिविधियों और प्रतिबंधित साहित्य का भी विशाल भंडार है। अंग्रेज़ जब भारत छोड़कर गये तो इसको भी भारत सरकार के हवाले कर गये (यह स्वाभाविक है कि उन्होंने अति-ख़तरनाक दस्तावेज़ों, ख़ासकर अंग्रेज़ों के हिंदुस्तानी दलालों की करतूतों के ब्यौरे वाले दस्तावेज़ों को भारत छोड़ने से पहले नष्ट कर दिया होगा)।

जलियांवाला बाग़ क़त्लेआम का इतिहास

ऐतिहासिक दस्तावेज़ों का यह खज़ाना, जो आज़ादी के बाद राष्ट्रीय अभिलेखागार कहलाया, ऊपरी तौर पर तो गुज़रे ज़माने से संबंधित बेज़ुबान दस्तावेज़ों का रिकार्ड ही लगता है। लेकिन जब 1994 में जलियांवाला बाग़ अमृतसर में 13 अप्रैल, 1919 को अंग्रेज़ शासकों द्वारा अंजाम दिये गये क़त्लेआम की 75वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस विभाग ने मूल दस्तावेज़ों, व्यक्तिगत काग़ज़-पत्रों, प्रतिबंधित साहित्य और चौंका देने वाले चित्रों की प्रदर्शनी लगायी (जिसको पहली बार 13 अप्रैल, 1994 को जालियांवाला बाग़ में प्रदर्शित किया गया) तो एक तरफ़ गोरे शासकों के बेमिसाल बर्बर दमन और खूंरेज़ी की दास्तानें जानकर दिल दहल उठा, तो दूसरी ओर, देश के हिंदुओं, मुसलमानों, सिखों और अन्य धर्मों के अनुयायियों ने किस बहादुरी से इस दमन-बर्बरता का सामना किया और मिलकर बेमिसाल कुर्बानियां दीं तो इसे जानकर सीना फ़ख्र से फूल गया। इस प्रदर्शनी को देश के विभिन्न बड़े शहरों में घुमाया गया तो बेज़ुबान दस्तावेज़ों में छिपा अंग्रेज़ शासकों की बर्बरता और जनता के प्रतिरोध का इतिहास सजीव हो उठा, मानो

दफ़्न इतिहास ज़िंदा होकर सामने खड़ा हो। यह प्रदर्शनी अगर एक तरफ़ अंग्रेज़ी शासन की बर्बरता, वहशीपन और चालाकी की शर्मनाक दास्तान बयान करती थी, तो दूसरी ओर, भारत की आज़ादी के मतवालों की बहादुरी की गाथाओं का भी जीवंत चित्रण करती थी।

इस प्रदर्शनी में प्रस्तुत सामग्री चौंका देनेवाली थी और इस बात का शिद्दत से अहसास कराती थी कि जब अंग्रेज़ों का राज शिखर पर था, तब भी इस देश के लोग अंग्रेज़ी लुटेरों से बराबर का लोहा ले रहे थे। यह कितना दुखद है कि इस अभूतपूर्ण प्रदर्शनी को बस्तों में बंद कर दिया गया और बर्बर दमन और विरोध की शानदार दास्तानों पर ताला डाल दिया गया जो जलियांवाला बाग़ क़त्लेआम की 100वीं बरसी पर भी नहीं खुला है।

क़त्लेआम के चश्मदीद दस्तावेज़

सबसे दिल दहला देने वाले दस्तावेज़ और चित्र 'जलियांवाला बाग़' त्रासदी से संबंधित हैं। जलियांवाला बाग़ के क़त्लेआम से पहले के और बाद के मूल चित्र (जो पुलिस रिकार्ड में थे) को दर्शाया गया था। रतन देवी जिन्होंने 13 और 14 अप्रैल, 1919 की रात जलियांवाला बाग़ में हज़ारों लाशों और जख़्मियों के बीच अपने पति की लाश के सिरहाने बैठकर बितायी थी, उनका रोंगटे खड़े कर देने वाला मूल बयान भी पढ़ने को मिलता है,

'मैं अपने मृतक पति के पास बैठ गयी, मेरे हाथ बांस का एक डंडा भी लग गया था, जिससे मैं कुत्तों को भगाती रही। मेरे बराबर में ही तीन और लोग गंभीर रूप से जख़्मी पड़े थे, एक भैंस गोलियां लगने के कारण बुरी तरह रेंग रही थी, और लगभग 12 साल का एक बच्चा, जो बुरी तरह से जख़्मी था और मौत से लड़ रहा था, मुझसे बार-बार निवेदन करता था कि मैं उसे छोड़ कर न जाऊं। मैंने उसे बताया कि वो फ़िक्र न करे, क्योंकि मैं अपने मृतक पति की लाश को छोड़कर जा ही नहीं सकती थी। मैंने उससे पूछा कि अगर उसे सर्दी लग रही हो तो मैं उसे अपनी चादर उढ़ा देती हूं, लेकिन वह तो पानी मांगे जा रहा था, लेकिन पानी वहां कहां था।'

4 अक्टूबर, 1919 के *अभ्युदय* अख़बार में छपी 18 वर्षीय अब्दुल क़रीम और 17 वर्षीय रामचंद्र नाम के दो दोस्तों की तस्वीरों और जालियांवाला बाग़ में उनकी शहादत के वृत्तांत को पढ़कर दिल-दिमाग़ सन्न हो जाता है। ये दोनों ही अमृतसर से नहीं बल्कि लहौरियों के बेटे थे। अब्दुल करीम की शहादत के तुरंत बाद जब परीक्षाफल प्रकाशित हुआ तो पंजाब विश्वविद्यालय की दसवीं की परीक्षा में वह सर्वप्रथम आया।

निहत्थे देशवासियों पर हवाई बमबारी

यह शर्मनाक तथ्य भी पहली बार सामने आया कि जलियांवाला बाग़ क़त्लेआम के अगले दिन, 14 अप्रैल, 1919 को अंग्रेज़ वायुसेना के एक जहाज़ नंबर 4491, क़िस्म बी.ई.ज़ेड.ई. जो कि 31वें स्क्वाड्रन का हिस्सा था, को उड़ाते हुए कैप्टन कारबेरी ने 2.20 मिनट से लेकर 4.45 मिनट तक ज़बर्दस्त बमबारी की थी। अंग्रेज़ी वायुसेना के रिकॉर्ड में दर्ज इस हवाई बमबारी के ब्यौरे के अनुसार :

> समय 15.10, जगह गुज़रांवाला रेलवे स्टेशन (अब पाकिस्तानी पंजाब में) के आसपास बमबारी से आग की लपटें उठ रही हैं। समय 15.20 स्थान गुज़रांवाला के उत्तर पश्चिम में 2 मील दूर एक गांव-लगभग 150 लोगों की भीड़ पर बमबारी, गांव में मशीनगन से 50 राउंड गोली चलायी। समय

15.30, स्थान-पहली वाली जगह से एक मील दक्षिण की ओर पचास लोगों की भीड़ पर बमबारी, गांव में मशीनगन द्वारा 25 राउंड गोलीबारी, एक खेत में 200 लोगों की भीड़ पर बमबारी, लोग भागकर एक घर में घुसे, जिस पर 30 राउंड मशीन गन से गोलीबारी, समय 15.40, स्थान गुज़रांवाला नगर शहर के दक्षिण में लोगों की भीड़ पर बमबारी, सड़कों पर चलते हुए 'देसी' लोगों पर मशीनगन से 100 राउंड गोलीबारी। 15.50 पर जब बमवर्षक जहाज़ लाहौर के लिए चला तो कोई प्राणी सड़कों पर नहीं था। समय, 16.45, लाहौर हवाई अड्डे पर बमवर्षक जहाज़ की सही सलामत वापसी।

प्रतिरोध की हैरत-अंगेज़ दास्तानें

इस प्रदर्शनी में सर सिडनी आर्थर टेलर रौलेट की अध्यक्षता में सन् 1917 में गठित राजद्रोह समिति से संबंधित गुप्त दस्तावेज़ों को पहली बार पेश किया गया। इस समिति ने उस समय में 87020 रुपये ख़र्च करके कलकत्ता और लाहौर में अनेक गुप्त बैठकें कीं और 18 अप्रैल, 1918 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट को सरकार ने स्वीकार करके अराजकता या क्रांतिकारी अपराध अधिनियम (रौलेट एक्ट के नाम से बदनाम) के तौर पर 18 मार्च, 1919 को देश भर में लागू किया।

देश भर में इसका ज़बर्दस्त विरोध हुआ। प्रदर्शनी में मोहम्मद अली जिन्नाह का 28 मार्च, 1919 वाला वह पत्र भी प्रदर्शित किया गया, जिसमें उन्होंने सरकार पर 'सभ्यता का दामन छोड़ देने' का इल्ज़ाम लगाते हुए इम्पीरियल विधान परिषद से इस्तीफ़ा देने की घोषणा की थी। जिन्नाह जो बाद में एक सांप्रदायिक नेता के तौर पर उभरे कभी भारत के आम लोगों की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए इम्पीरियल विधान परिषद को लात भी मार सकते थे, यह जानकर सुखद अहसास होता है।

इस प्रदर्शनी में केंद्रीय खुफिया विभाग की अति गुप्त रिपोर्टों को भी पहली बार देश के सामने रखा गया। आमतौर पर शांत और अहिंसात्मक माने जाने वाले गुजरातियों ने रौलेट समिति के ख़िलाफ़ अहमदाबाद में अंग्रेज़ी सत्ता के प्रतीकों की जिस तरह होली जलायी थी, वह जानने योग्य है। प्रदर्शित गुप्त रिपोर्टों के अनुसार 11, 12 अप्रैल 1919 को अहमदाबाद में प्रदर्शनकारियों ने कलेक्टर के दफ़्तर, नगर मजिस्ट्रेट, फ़्लैग स्टाफ़, अहमदाबाद जेल, मुख्य टेलीग्राफ़ केंद्र और 26 पुलिस चौकियों को आग लगायी थी। स्वयं अंग्रेज़ों की इस रिपोर्ट से यह बात साफ़ होती है कि अंग्रेज़सत्ता के विरोध के केंद्र केवल बंगाल और पंजाब ही नहीं थे।

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर का प्रतिरोध

इस प्रदर्शनी में गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के अपने हाथ से लिखे उस मूल पत्र की प्रति भी दर्शकों के लिए उपलब्ध करायी गयी, जो उन्होंने पंजाब में दमन के विरोध में 'नाइट' की उपाधि त्यागने की घोषणा करते हुए वायसराय को लिखा था। इस पत्र में उन्होंने लिखा :

> समय आ गया है जबकि सम्मान के पदक वर्तमान अपमान के संबंध में हमारी लज्जा के प्रतीक बन गये हैं... और मैं अपनी ओर से खड़ा रहना चाहता हूं, हर प्रकार की विशिष्टता के बिना अपने देश के लोगों के साथ, जिनको साधारण आदमी होने के कारण एक ऐसा अपमान और जीवन सहना पड़ रहा है, जो इंसान के लिए किसी भी तरह स्वीकार योग्य नहीं है।

सरकारी कर्मचरियों का प्रतिरोध

भारत सरकार के गृह सचिव का इसी दौर का एक और रोचक पत्र भी यहां उपलब्ध कराया गया,

जिससे पता लगता है कि सरकारी दमन के ख़िलाफ़ केंद्रीय सचिवालय के सरकारी कर्मचारियों ने भागीदारी की थी। इस गुप्त पत्र में गृह सचिव ने सख़्त कार्रवाई की मांग करते हुए यह भी लिखा कि सरकार की भद पिटने के डर से अनुशासनात्मक कार्रवाई न की जाये।

क़त्लेआम-विरोधी साहित्य पर प्रतिबंध

विदेशी शासकों के अत्याचारों और भारतीय जनता के प्रतिरोध के एक पूरे चरण पर प्रकाश डालती इस प्रदर्शनी का सबसे सशक्त हिस्सा था उस प्रतिबंधित साहित्य की उपस्थिति, जो अंग्रेज़ों ने ज़ब्त करके खुफ़िया विभाग की फ़ाइलों में नत्थी कर दिया था। यह देश की हर भाषा में लिखा गया था। *बा बाग़े जलियां* (रामस्वरूप गुप्ता द्वारा हिंदी में लिखित संगीतात्मक नाटक), *जलियांवाला बाग़* (फ़िरोज़ुद्दीन शर्फ़ द्वारा गुरमुखी में एक लंबी कविता), *पंजाब का हत्याकांड* (उर्दू में लंबा नाटक) और *जंलियांवाला बाग़* (एक लंबा गुजराती नाटक) तो किताबों के रूप में ही प्रदर्शनी में पेश किया गया। यह कितना दुखद है कि आज़ादी के 70 साल बाद भी हमारी यह गौरवशाली परंपरा धूल से अटे बस्तों में बंद है। ये वे साहित्यिक रचनाएं थीं जिनसे दुनिया का सबसे शक्तिशाली अंग्रेज़ साम्राज्य भी थर्राता था। इस साहित्यिक प्रतिरोध के कुछ नमूने यहां पेश हैं :

'बेगुनाहों पर बमों की बेख़तर बौछारों की दे रहे हैं धमकियां बंदूक़-तलवार की।
बाग़ की ज़ालियां में निहत्थों पर चलायीं गोलियां/ पेट के बल भी रेंगाया, जुल्म की हद पार की।'
'जुल्म डायर ने किया था रंग जमाने के लिए/ हिंद वालों को मुसीबत में फंसाने के लिए।
ख़ून से पंजाब के डायर की लिखी डायरी/ रूबरू रख दी मेरी तबियत जलाने के लिए।
बाग़े जलियां में शहीदों की बने गर यादगार/ जायेंगे आशिक़े-वतन आंसू बहाने के लिए।'
'हम उजड़ते हैं तो उजड़ें, वतन आबाद रहे।
मर मिटे हैं हम के अब वतन आज़ाद रहे।
वतन की ख़ातिर जो अपनी जान दिया करते हैं/
मरते नहीं हैं वो हमेशा के लिए जिया करते हैं।'

शहीद ऊधम सिंह जिन्होंने जलियांवाला बाग़ क़त्लेआम का बदला लिया

इस क़त्लेआम पर देश के लोगों को प्यार करने वाले जांबाज़ ख़ामोश नहीं रहे, उन्होंने उन शैतानों से बदला लिया जिन्होंने इसे अंजाम दिया था। इस सिलसिले में शहीद ऊधम सिंह का ज़िक्र न हो यह कैसे हो सकता है।

सुविख्यात क्रांतिकारी ऊधम सिंह का जन्म एक दलित सिख परिवार में हुआ और एक अनाथालय में उनकी परवरिश हुई। वे ख़ूनी बैसाखी वाले दिन जलियांवाले बाग़ में सभा में मौजूद थे और क़त्लेआम के साक्षी भी। तभी से उनके दिल में इसका बदला लेने की ज्वाला धधक रही थी। इस बीच वे कम्युनिस्ट विचारों को ग्रहण कर चुके थे। उनके जीवन का एक ही मक़सद था कि किसी तरह लंदन (इंग्लैंड) पहुंचा जाये जहां इस क़त्लेआम को अंजाम देने वाले दो सब से बड़े अफ़सरान, माइकल ओ डायर (Michael O'Dyer, जो उस समय पंजाब का अंग्रेज़ शासक था) और रेगीनाल्ड डायर (Reginald Dyer जिस ने क़त्लेआम का हुक्म दिया था) को जान से मारा जाये।

इस काम को अंजाम देने के लिए और इंग्लैंड में प्रवेश पाने की जुगत में मिस्र, कीनिया, उगांडा, अमरीका और समाजवादी रूस में वहां की कम्युनिस्ट तहरीकों में काम करते रहे। आख़िरकार 21 साल

बाद उन्हें सफलता मिली, जब उन्होंने 13 मार्च 1940 को लंदन में माइकल ओ डायर (पंजाब का पूर्व गवर्नर तथा जलियांवाला बाग़ हत्याकांड के ज़िम्मेदार अफ़सरान में से एक)। की हत्या कर दी। मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये जाने पर जब ऊधम सिंह से नाम पूछा गया, तो उन्होंने अपना नाम ऊधम सिंह नहीं बताया बल्कि अपना नाम मुहम्मद सिंह आज़ाद बताया। ऐसा नाम जिसमें मुस्लिम, सिख और हिंदू तीनों के नाम शामिल हैं। इस तरह उपनिवेशवादी सामंतों के विरुद्ध जारी संघर्ष में एक बार फिर भारत में सभी धर्मों के बीच एकता का संदेश ज़बर्दस्त तरीक़े से प्रस्तुत किया गया।

ऊधम सिंह को 31 जुलाई 1940 को पेंटोनविल्ल (Pentonville) जेल में फांसी दे दी गयी। मौत की सज़ा सुनाये जाने के बाद अदालत में उन्होंने जो जवाब दिया वह उनके गोरे शासकों के ज़ुल्म और लूट के ख़िलाफ़ उनकी प्रतिबद्धता को ही रेखांकित करता है :

> मुझे मौत की सज़ा की क़तई चिंता नहीं है। इससे मैं ख़ौफ़ज़दा नहीं हूं और न ही मुझे इसकी परवाह है। मैं एक उद्देश्य के लिए जान दे रहा हूं। अंग्रेज़ साम्राज्य ने हमें बर्बाद कर दिया है। मुझे अपने वतन की आज़ादी के लिए जान देते वक़्त गर्व हो रहा है और मुझे पूरा विश्वास है कि मेरे बाद मेरे वतन के हज़ारों लोग मेरी जगह लेंगे और वहशी दरिंदों (अंग्रेज़ों) को देश से खदेड़ कर देश आजाद करायेंगे। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का विनाश होगा। मेरा निशाना अंग्रेज़ सरकार है, मेरा अंग्रेज़ जनता से कोई बैर नहीं है। मुझे इंग्लैंड की मेहनतकश जनता से गहरी हमदर्दी है, मैं इंग्लैंड की साम्राज्यवादी सरकार के विरोध में हूं।

राष्ट्रीय अभिलेखागार के संग्रह से पुलिस और खुफ़िया विभागों एवं अख़बारों के उन चित्रों को देखकर कलेजा मुंह को आ जाता है, जिनमें पंजाब में सन् 1919 में फ़ौजी क़ानून के लागू होने पर आम नागरिकों को सज़ा के तौर पर सार्वजनिक रूप से कोड़े खाते हुए और सड़कों पर रेंगते हुए दिखाया गया है। आत्मसम्मान को भयानक चोट पहुंचाने वाली ये तस्वीरें देखकर इस बात को समझना ज़रा भी मुश्किल नहीं रहता कि पंजाब ने भगतसिंह जैसे शहीदों को क्यों पैदा किया!

जलियांवाला बाग़ के शहीदों का ब्यौरा उपलब्ध नहीं

भारत सरकार के गृह विभाग के जून 1919 की एक रिपोर्ट, जिसमें पंजाब में मारे गये लोगों के आंकड़े दिये गये हैं, को देखकर यह साफ़ पता लगता है कि किस तरह अंग्रेज़ शासकों ने पंजाब में किये गये क़त्लेआम पर परदा डालने की कोशिश की। मृतक अंग्रेज़ों का ब्यौरा तो उपलब्ध है, लेकिन मारे गये भारतीयों के बारे में साफ़ लिखा गया है कि उनकी संख्या कभी भी पता नहीं की जा सकेगी। इस रिपोर्ट में गृह सचिव की यह टिप्पणी कि अगर मृतक भारतीयों के बारे में हम कोई भी संख्या दें तो वह मानी नहीं जायेगी, अंग्रेज़ शासकों के नैतिक पतन की छवि को ही रेखांकित करती है।

इस सिलसिले में एक शर्मनाक पहलू यह है की शहीद हुए देशवासियों की असली तादाद कभी नहीं जानी जा सकी। हंटर आयोग जिसे हत्यारी अंग्रेज़ सरकार ने अक्टूबर 14, 1919 में पंजाब में हुई ज़्यादतियों की जांच के लिए नियुक्त किया था (जिस में बंबई यूनिवर्सिटी के उपकुलपति और प्रसिद्ध वकील, चिमनलाल हरिलाल सीतलवाड़ भी थे) के अनुसार 381 अंग्रेज़ी सेना की गोलियों का शिकार हुए थे जिन में एक छह महीने का बच्चा भी था। शहीदों की हंटर आयोग द्वारा निर्धारित यह संख्या सही नहीं मानी सकती। अमृतसर एक बड़ा व्यापारिक केंद्र था जहां दूर-दराज़ से ग्राहक और काम की तलाश में लोग आते रहते थे, इन में बहुत से गुमनाम शहीदों की लाशों को ग़ायब कर दिया गया, जैसा कि इस तरह के बर्बर दमन की घटनाओं में पुलिस द्वारा किया जाता है।

आज़ादी के बाद जलियांवाला बाग़ शहीदों की विरासत के साथ खिलवाड़

अंग्रेज़ी राज में तो इन शहीदों की अनदेखी की ही गयी जो स्वाभाविक भी था। लेकिन आज़ाद भारत में भी इन शहीदों के परिवारों का तिरस्कार जारी रहा और है। जिस देश में आपातकाल में सिर्फ़ एक महीने से भी कम जेल में रहने के लिए दस हज़ार रुपये प्रति माह और 2 माह से कम जेल में रहने के बदले में 20 हज़ार रुपये महीना पारिवारिक पेंशन दी जा रही हो वहां इन शहीदों की किसी ने सुध नहीं ली।

स्वतंत्रता आंदोलन के सहधार्मिक और सहजातीय चरित्र का रेखांकन

शहीदों की सूची से यह सच बहुत साफ़ होकर सामने आता है की बाग़ में हिंदू, सिख और मुसलमान बडी तादाद में मौजूद थे। सरकारी सूची के अनुसार 381 शहीदों में से 222 हिंदू, 96 सिख और 63 मुसलमान थे। इस सूची की एक ख़ास बात यह थी की वहां मौजूद जनसमूह हर तरह की जातियों और पेशों से जुड़ा था। इन में दुकानदार, वकील, सरकारी मुलाज़िम, लेखक और बुद्धिजीवी थे, तो लोहार, जुलाहे, तेली, नाई, ख़लासी, सफ़ाई कर्मचारी, क़साई, बढ़ई, कुम्हार, कालीन बुनने वाले, राजमिस्त्री, मोची भी बड़ी तादाद में मौजूद थे। यह सूरत इस गौरवशाली सच को रेखांकित करती थी कि साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन एक साझा आंदोलन था और अभी मुस्लिम राष्ट्र और हिंदू राष्ट्र के झंडाबरदार हाशियों पर पड़े थे।

भारत के लोगों की यह महान जुझारू विरासत, अलमारियों में बंद पड़ी है। हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई, गुजराती, पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, और विभिन्न पेशों से जुड़े सब मिलकर दुख, पीड़ा, संघर्ष और बलिदान में सहभागी थे। यह भारत के इतिहास का एक गौरवशाली सच था, लेकिन यह सब फ़ाइलों में बंद पड़ा है। इस का नतीजा यह है की साझी शहादत और साझी विरासत को भूलकर देश आज धार्मिक और जातीय नफ़रत फैलाने वाले गिरोहों की चरागाह में तब्दील हो गया है।

दुहरा ख़तरा : मौजूदा आर्थिक संकट और हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद

प्रभात पटनायक

साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रवाद के केंद्र में औपनिवेशिक शोषण की एक समझ थी, जो उसकी अपनी ख़ासियत थी। इसीलिए, साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रवाद औपनिवेशिक शासकों और उनसे पहले के सभी शासकों में अंतर करता था। वह इसे समझता था कि पहले के सारे शासक भी किसानों का अतिरिक्त उत्पाद हड़पते थे और उसको घरेलू दायरे में ही ख़र्च करते थे और इसके ज़रिये रोज़गार पैदा करते थे। इसके विपरीत, उपनिवेशवाद किसानों से अतिरिक्त उत्पाद हड़पता था और उसे विदेश भेज देता था, जो घरेलू रोज़गार को नष्ट करता था। हिंदुत्व इस बुनियादी अंतर को ही मिटा देता है और मुग़लों और अंगरेज़ों को एक ही पलड़े में तौलता है क्योंकि उसके साथ अर्थशास्त्र की कोई समझ ही नहीं जुड़ी है।

विडंबना यह है कि हिंदुत्व में अर्थशास्त्र की समझ निहित न होना ही उसकी ताक़त है। आज के दौर में, जब नवउदारवादी पूंजीवाद बेदम हो गया है, कार्पोरेट-वित्तीय पूंजीवाद को, अब तक वह जिस विचारधारात्मक सहारे का उपयोग करता आ रहा था, उससे अलग यानी जीडीपी में वृद्धि की ऊंची दर तथा उसके संभावित रूप से सर्वजन हितकारी प्रभाव के वादे से अलग, कोई और विचारधारात्मक सहारा चाहिए। जीडीपी वृद्धि दर के धीमे पड़ने के साथ, पहले वाला विचारधारात्मक सहारा नाकाफ़ी हो जाता है। इन हालात में, शासन की नीति को इस पूंजीवाद के पक्ष में मोड़ने और इसके बावजूद उसके ख़िलाफ़ वंचितों के बीच से कोई विद्रोह न हो यह सुनिश्चित करने के लिए, विमर्श बदल की ज़रूरत है। हिंदुत्व यही विमर्श बदल मुहैया कराता है। यही उस कार्पोरेट-हिंदुत्व गठजोड़ के बनने का आधार है जो इस समय हमारे देश में राज कर रहा है।

कार्पोरेटों के लिए हिंदुत्व की उपयोगिता

अगर हिंदुत्व के साथ अर्थव्यवस्था की कहीं ज़्यादा समझ जुड़ी होती और अगर वह संकट पर क़ाबू पाने के लिए आर्थिक निज़ाम के साथ वाक़ई कोई छेड़छाड़ करने जा रहा होता, तो कार्पोरेटों के लिए उसकी उपयोगिता सीमित ही होती। याद रहे कि यह संकट बुनियादी तौर पर नवउदारवाद के अपने अंतर्विरोधों से ही पैदा हुआ है, हालांकि हिंदुत्ववादी सरकार की नोटबंदी तथा जीएसटी जैसी महाभूलों ने इस संकट को बहुत बढ़ा दिया है। कार्पोरेटों के लिए हिंदुत्व की सीमित उपयोगिता के चलते, दोनों के गठजोड़ में दरार पड़ गयी होती। लेकिन आर्थिक मामलों में हिंदुत्व का अज्ञान, कार्पोरेटों के साथ गठजोड़ के मामले में हिंदुत्व के लिए काफ़ी काम का साबित हुआ है। और दोनों का गठजोड़ बदस्तूर क़ायम है।

यह विमर्श बदल, उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष की विरासत में मिले विमर्श का बदलना था। जहां पहले वाले विमर्श में विभिन्न राजनीतिक पार्टियां, जनता के लिए राहत के अपने वादों के आधार पर एक-दूसरे से होड़ करती थीं, अब उसकी जगह अति-राष्ट्रवाद ने ले ली है, जिसका उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद से कोई मेल ही नहीं है। यह अति-राष्ट्रवाद बहुत हद तक जीवन की भौतिक जीवन दशाओं को परे खिसका कर ही चलता है और एक प्रकार के योरपीय राष्ट्रवाद का ही अनुकरण करता है, जो दो विश्वयुद्धों के बीच के दौर में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा था।

इस तरह का विमर्श बदल, भारतीय राजनीति में इससे पहले कभी नहीं हुआ था। इसीलिए विपक्ष उसके सामने बेदम हो गया है। वामपंथ, जो पुराने विमर्श के लिए प्रतिबद्ध है, सन्न रह गया है और अभी बस हरकत में आना शुरू कर रहा है। कांग्रेस यह तय ही नहीं कर पा रही है कि पुराने विमर्श को ही पकड़े रहे या ठिठक-ठिठक कर ही सही, हिंदुत्व के अति-राष्ट्रवाद के नये विमर्श के पीछे चल पड़े।

इस विमर्श बदल का महत्त्व हाल के लोकसभा चुनावों में स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ था। इससे पहले, भाजपा की ज़मीन खिसक गयी थी और एक प्रबल आंदोलन रूप ले रहा था, जिससे उसके सत्ता में बने रहने के लिए ही ख़तरा पैदा हो गया था। लेकिन बालाकोट के प्रहार ने अति-राष्ट्रवादी आख्यान को पुख़्ता करते हुए उसे एक नया जीवन दान दे दिया। जिन किसानों ने चुनाव से ऐन पहले सरकार के ख़िलाफ़ दिल्ली तक मार्च किया था, बाद में उसी सरकार के जारी रहने के लिए वोट डाल आये।

कार्पोरेटों की सेवा : जनता को अति-राष्ट्रवादी भुलावा

कार्पोरेट-वित्तीय पूंजीवाद के लिए इस विमर्श बदल की उपादेयता, ताज़ा घटनाक्रम से स्वतः स्पष्ट हो जाती है। धारा-370 तथा 35ए के व्यावहारिक मानों में ख़त्म ही कर दिये जाने की ओट में, जो एक प्रकार से जम्मू-कश्मीर को बलात क़ब्ज़ाये जाने जैसा है और जिसने हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवाद की आग को भडक़ाया है, इस सरकार ने अर्थव्यवस्था के संकट पर क़ाबू पाने के नाम पर कार्पोरेटों को 1.45 लाख करोड़ रुपये की कर रियायतें पकड़ा दी हैं। सार्वजनिक धन के इस तरह मुफ़्त में कार्पोरेटों की जेब में डाले जाने के इस क़दम के जिस तरह के विरोध की सामान्यतः उम्मीद की जा सकती थी, उसे भी कश्मीर में 'जीत' के हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवाद के शोर में दबा दिया गया है।

यह सचाई, स्वतः स्पष्ट होने के बावजूद, प्रायः सामने आ ही नहीं पायी है कि इन कर रियायतों का अर्थव्यवस्था में गतिविधि के स्तर पर और इसलिए, रोज़गार तथा उत्पाद, दोनों पर नकारात्मक असर ही पड़ने जा रहा है। चूंकि इन कर रियायतों के लिए वित्त, राजकोषीय घाटे में बढ़ोतरी से नहीं आने वाला है क्योंकि ऐसा करने से तो वैश्वीकृत वित्तीय पूंजी ख़फ़ा हो जायेगी, जो सरकार को हर्गिज़ मंजूर नहीं है, इसके लिए मेहनतकशों को और ज़्यादा निचोड़ा जायेगा। मेहनतकश जनता से छीनकर कार्पोरेटों के पक्ष में आय का कोई तबादला, अपने आप में, अर्थव्यवस्था में उपभोग की मांग को कम करने का ही काम करेगा।

इसकी वजह यह है कि आय में से उपभोग करने की प्रवृत्ति, कार्पोरेटों के मुक़ाबले, मेहनतकशों के मामले में ज़्यादा रहती है। कार्पोरेट अपनी आय का एक हिस्सा अवितरित मुनाफ़ों के रूप में बचाकर रखते हैं। इस अतिरिक्त आय में से वितरित किये जाने वाले लाभांश में से भी, उपभोग करने की प्रवृत्ति कम ही रहती है। चूंकि कार्पोरेटों द्वारा निवेश किसी बाज़ार के आकार में वृद्धि की प्रत्याशा के अनुपात

पर निर्भर करता है, जिसमें ताज़ा कर रियायतों के ज़रिये कार्पोरेटों के करोपरांत मुनाफ़े बढ़ाये जाने से रत्तीभर फ़र्क़ पड़ने वाला नहीं है, इस तरह की कर रियायतों से कोई अतिरिक्त निवेश भी आने वाला नहीं है। इसलिए इन रियायतों से तो कुल मिलाकर समग्र मांग में गिरावट ही होने जा रही है और यह संकट को और बढ़ाने ही जा रहा है। इतना ही नहीं, सकल मांग में इस तरह की गिरावट से आने वाले दिनों के लिए निवेश में भी गिरावट होने जा रही है और यह अर्थव्यवस्था में गिरावट के चक्र को और तेज़ कर देने वाला है।

संकट और बढ़ेगा, हिंदुत्व का उन्माद और चढ़ेगा

याद रहे कि यह संकट तो खुद ही नवउदारवाद से आयी आय असमानता में भारी बढ़ोतरी से पैदा हुआ है। आय असमानता में यह बढ़ोतरी नवउदारवाद से सिर्फ़ भारत में ही नहीं आयी है बल्कि दुनिया भर में आयी है। इस तरह नवउदारवादी व्यवस्था में मेहनतकश जनता यानी किसानों, मज़दूरों, दस्तकारों, कारीगरों तथा मछुआरों आदि के हाथों से आय छीनकर उसे कार्पोरेट-वित्तीय पूंजीवाद के हवाले किया गया है। फिर भीए अब तक आय के इस हस्तांतरण के मांग घटाने वाले प्रभाव को, भारत में भी और दुनिया भर में भी, कुछ आकस्मिक या अस्थायी कारकों ने रोके रखा था। इन कारकों में परिसंपत्ति मूल्य का बुलबुला ख़ास था। लेकिन अब, इन आकस्मिक कारकों के पराभव के बाद, संकट खुलकर सामने आ गया है और मोदी सरकार के नोटबंदी तथा जीएसटी जैसे क़दमों ने, नवउदारवादी पूंजीवाद की ढांचागत असंगति से पैदा होने वाली समस्या को और बढ़ाने का ही काम किया है। अब सरकार इस संकट को हल करने के नाम पर और भी ज़्यादा आय मेहनतकश जनता से छीनकर कार्पोरेटों के हवाले कर रही है, जबकि यह संकट तो खुद ही ठीक ऐसे ही हस्तांतरण से पैदा हुआ है।

बहरहाल, जब तक सरकार हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवाद को ज़िंदा रखने में कामयाब रहती है, वह अपनी आर्थिक ग़लतियों की ओर से लोगों का ध्यान बंटाती रह सकती है। इसलिए असली सवाल यह है कि वह हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवादी विमर्श को जनता के बीच चलाने में कामयाब कैसे हुई?

बेशक, इसके अनेक कारण हैं। फिर भी जिस एक कारण को कम करके नहीं आंकना चाहिए, वह है, हर ओर जनता के मन में भय और असुरक्षा की भावना का भरा जाना। सरकार की हरेक आलोचना का या किसी तर्क का दूसरा पक्ष पेश किये जाने का जवाब, राजद्रोह के या राष्ट्रविरोधी होने के आरोपों से दिया जाता है और ऐसी आवाज़ उठाने वाले किसी को भी 'टुकड़े-टुकड़े गैंग' का सदस्य घोषित कर दिया जाता है। राजनीतिक विरोधियों के ख़िलाफ़, उनकी कथित वित्तीय गड़बडियों की जांच के नाम पर, प्रवर्तन निदेशालय तथा सीबीआइ को लगा दिया जाता है। इसके अलावा सत्ताधारियों के 'ट्रोलों' की और बदमाशों की सेना है, जिसे किसी के भी ख़िलाफ़ लहकाया जा सकता है, जबकि पुलिस आम तौर पर उनकी हरकतों की ओर से अपनी आंखें बंद ही कर लेती है। इस समूची पृष्ठभूमि में और हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवाद की परियोजना के सामने मीडिया के और न्यायपालिका के भी क़रीब-क़रीब पूरी तरह से घुटने टेक देने के चलते, ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है जहां तस्वीर का क़रीब-क़रीब एक ही रुख़ पेश किया जा रहा होता है। ज़ाहिर है कि अचरज की बात नहीं है कि बहुत से लोग इसी रुख़ को सच मान लेते हैं।

सकल मांग की अपर्याप्तता से पैदा हुए संकट के बीच, कार्पोरेटपरस्त तथा मेहनतकशविरोधी आय वितरण रणनीति पर चले जाने का वास्तव में उल्टा ही पड़ना, वक़्त गुजरने के साथ साफ़ दिखायी देने

लगेगा। लेकिन, यह तो और भी बड़ी हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवादी महा-योजनाओं को सामने लाने जा रहा है। इस सबके पीछे मूल विचार यह है कि जनता को, 'स्तब्ध और अभिभूत' रखा जाये, ताकि अर्थव्यवस्था के मुद्दों की ओर से उसका ध्यान हटाया जा सके और सरकार की विफलताओं पर पर्दा डाला जा सके।

देश के लिए दुहरा ख़तरा

बहरहाल, इसमें देश के लिए दुहरा ख़तरा निहित है। हिंदुत्ववादी अति-राष्ट्रवाद की 'स्तब्ध और अभिभूत' करने वाली महा-परियोजनाओं से, जैसे 'एक देश, एक भाषा' का अभियान या पूरे देश के लिए राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर या नागरिकता संशोधन विधेयक से, एक धर्मनिरपेक्ष-जनतांत्रिक समाज तथा राजनीतिक व्यवस्था के रूप में हमारे अस्तित्व के लिए ही बुनियादी ख़तरा पैदा हो जाने वाला है। इसके साथ ही साथ, कार्पोरेटपरस्त तथा मेहनतकशविरोधी आर्थिक नीतियां अर्थव्यवस्था को और गहरे संकट में घसीट ले जायेंगी। चूंकि इस तरह की आर्थिक नीतियां 'स्तब्ध और अभिभूत' करने वाली परियोजनाओं को ही उत्प्रेरित करने जा रही हैं, हमारा देश तब तक उनकी भयानक द्वंद्वात्मकता में ही फंसा रहने जा रहा है, जब तक कि ज्वार ही नहीं पलट जाता है।

हिंदुत्ववादी विमर्श बदल और निजीकरण अभियान

ऐसा अभियान पूंजीवादी निज़ाम के 'सामान्य' हालात में नहीं छेड़ा जा सकता था। अगर ऐसे हालात में अभियान को थोपने की कोशिश की गयी होती, तो इस पर ज़बर्दस्त विरोध उठ खड़ा हुआ होता। लेकिन आज, जब देश को हिंदुत्व के नाम पर बांटा जा रहा है और जब 'दूसरे' या 'पराये' के डर तथा इससे पैदा होने वाली नफ़रत के योग को बहुसंख्यक समुदाय में भरा जा रहा है, सरकार को ऐसा अभियान छेड़ने का हौसला हो गया है। इस तरह का डर रक्षक या उद्धारक की ज़रूरत पैदा करता है और वही उद्धारक अगर निजीकरण भी कर रहा हो, तो लोग निजीकरण का भी ज़्यादा विरोध नहीं करते हैं। वे तो हिंदुत्ववादी विमर्श से ही इतने भरमाये रहते हैं कि वे कार्पोरेट-वित्तीय पूंजीवाद के वर्गीय एजेंडे को चुनौती दे ही नहीं सकते हैं, जबकि निजीकरण इसी वर्गीय एजेंडे का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। संक्षेप में यह कि हिंदुत्व ने हमारे देश में ऐसा विमर्श बदल कर दिया है जो कार्पोरेट-वित्तीय पूंजीवाद के हित में काम करता है।

निजीकरण तरह-तरह के रास्तों से किया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उद्योगों को सीधे-सीधे बेचने के लिए छांटा गया है और इसमें सिर्फ़ ऐसे उद्यम ही नहीं हैं जो घाटे में चल रहे हैं बल्कि ऐसे उद्यम भी शामिल हैं जो तगड़ा मुनाफ़ा कमा रहे हैं। इसके अलावा, दूसरे अनेक सार्वजनिक उद्यमों में सरकार हिस्सा पूंजी का अपना अंश घटाकर 51 फ़ीसद करने जा रही है। इसके अलावा कुछ अन्य सार्वजनिक उद्यमों के मामले में मौजूदा सरकार इस विचार को लेकर चल रही है कि संबंधित उद्यम की समग्र आर्थिक गतिविधि को, कई अलग-अलग गतिविधियों के टुकड़ों में बांट दिया जाये और इनमें से कुछ गतिविधियों के टुकड़ों को सार्वजनिक उद्योग से अलग करके बेच दिया जाये। रेलवे के मामले में यह आख़िरी रास्ता ही अपनाया जा रहा है।

सार्वजनिक क्षेत्र की मौजूदा गतिविधियों का निजीकरण करने के इन तरीक़ों के अलावा इसकी भी

कोशिशें की जा रही हैं कि जिन हलकों में सार्वजनिक क्षेत्र काम भी कर रहा है, उन हलकों में उसे धता बताकर निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया जाये और इस तरह सार्वजनिक क्षेत्र के दायरे को ज़्यादा से ज़्यादा जितना हो सके, घटाया जाये। मिसाल के तौर पर कोयला खनन के क्षेत्र में, जिसे अब तक कमोबेश पूरी तरह से सार्वजनिक क्षेत्र में ही बनाये रखा गया था, अब तो विदेशी पूंजी तक को उत्पादन में हिस्सा लेने के लिए न्यौता जा रहा है। रेलवे में इंजनों जैसे हिस्सों के विदेशी फ़र्मों से आयात का सहारा लिया जा रहा है और उसी अनुपात में सार्वजनिक क्षेत्र में घरेलू उत्पादन को कतरा जा रहा है। यह सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों को ख़त्म कर देने की ही भूमिका है।

श्रम सुधारों के नाम पर श्रमिकों पर हमला

ऐसा ही क़िस्सा पहले से मौजूद श्रम क़ानूनों में कथित 'सुधार' करने के लिए लाये जा रहे क़ानूनों का है। ऐसे क़ानून लाये जाने वाले हैं, जो मालिकान के लिए मज़दूरों को हटाना आसान बना देंगे। याद रहे कि हमारे देश में श्रम शक्ति का मुश्किल से 4 फ़ीसद हिस्सा ही होगा जो अब तक मौजूद श्रम क़ानूनों की किसी भी प्रकार की सुरक्षा के दायरे में आता होगा। इसकी वजह यह है कि संगठित क्षेत्र तक में श्रम शक्ति के कैजुअलीकरण को ज़बर्दस्त तेज़ी से आगे बढ़ाया गया है। इसलिए, श्रम क़ानूनों में प्रस्तावित बदलावों का असली उद्देश्य यही है कि ट्रेड यूनियन गतिविधियों को ही नामुमकिन बना दिया जाये। जो भी मज़दूरों को यूनियन में संगठित करने की कोशिश करेगा, उसे मालिकान द्वारा हाथ के हाथ हटा दिया जायेगा।

सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण का भी ठीक ऐसा ही नतीजा होगा। दुनिया भर में निजी क्षेत्र में मज़दूर सार्वजनिक क्षेत्र के मुक़ाबले कम यूनियनबद्ध होते हैं। मिसाल के तौर पर अमरीका में, जहां निजी क्षेत्र के सिर्फ़ 7 फ़ीसद मज़दूर यूनियनबद्ध हैं, सार्वजनिक क्षेत्र में (जिसमें शिक्षा का क्षेत्र भी शामिल है) यही हिस्सा 33 फ़ीसद है। इसलिए किसी औद्योगिक इकाई का जब सार्वजनिक क्षेत्र से निजी में हस्तांतरण होता है, इसका मज़दूरों की यूनियनबद्धता पर बहुत ही बुरा असर पड़ता है। इस तरह, मोदी सरकार का असली मक़सद तो मज़दूर वर्ग पर सीधे-सीधे हमला करना ही है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि कार्पोरेट-वित्तीय पूंजीवाद की मनपसंद चीज़ इससे बढ़कर दूसरी नहीं होगी। फिर भी, पहले ऐसा हमला करना आसान नहीं था। लेकिन हिंदुत्व के साये में इसी हमले को अंजाम दिया जा सकता है, दिया जा रहा है।

नंगई से कार्पोरेटपरस्ती की विचारधारा

हिंदुत्व के साये में कार्पोरेटों का अपनी झोलियां भरना किसी भी तरह से संयोग की बात नहीं है। वास्तव में हिंदुत्व के पैरोकारों की आर्थिक विचारधारा तो बेझिझक और नंगई से कार्पोरेटपरस्त है। इस तथ्य को सबसे स्पष्ट रूप से स्वर तो खुद नरेंद्र मोदी ही देते रहे हैं। वे पूंजीपतियों को देश के लिए 'संपदा रचने वाले' बताते हैं। ऐसा दावा करने की तो पूंजीवादी अर्थशास्त्र तक की हिम्मत नहीं होगी। पूंजीवादी अर्थशास्त्र की मानक पाठ्य पुस्तकों तक में चार 'उत्पादन कारकों'—भूमि, श्रम, पूंजी तथा उद्यम—का उल्लेख किया जाता है, जो उत्पादन में एकजुट होती हैं और इसी पर संपदा का निर्माण निर्भर होता है।

पूंजीवादी अर्थशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों का यह सर्वसंग्रहवाद वास्तव में इसी का इशारा करता है कि वे यही दिखाना चाहते हैं कि पूंजीपतियों द्वारा लगायी जानी वाली पूंजी, संपदा निर्माण की प्रक्रिया में श्रम जितनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दूसरे शब्दों में पूंजीपति, समाजवादियों की दलील के अनुरूप शोषणकर्ता होना तो दूर रहा, वास्तव में संपदा के निर्माण में बराबर का योगदान देते हैं।

बहरहाल, हिंदू दक्षिणपंथ मानक पूंजीवादी पाठ्य पुस्तकों से भी आगे निकल गया है। उसने संपदा निर्माताओं की सूची से श्रम का नाम पूरी तरह से काट ही दिया है। उसका मानना है कि संपदा के निर्माण की प्रक्रिया में पूंजीपति सिर्फ़ सह-निर्माता ही नहीं हैं, जैसा कि पूंजीवादी पाठ्य पुस्तकें बताती हैं, बल्कि वे ही संपदा के इकलौते निर्माता हैं। पूंजीपतियों की और इसलिए आज के संदर्भ में कार्पोरेटों की इससे ज़्यादा भक्तिभाव भरी वकालत की शायद कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

हिंदुत्व की पूंजी भक्ति

वास्तव में पूंजीवादी पाठ्य पुस्तकों के तंग दायरे से बाहर निकल कर देखें तो हमें इससे उल्टी ही सचाई दिखायी देती है। वह सचाई यह है कि प्रकृति को साधने में लगने वाला मानव श्रम ही सभी चीज़ों का या सभी उपयोग मूल्यों का स्रोत है। इनमें से कुछ चीज़ों का उपयोग प्रकृति को साधने की प्रक्रिया में मनुष्य द्वारा श्रम के औजारों (कैपीटल स्टॉक) के रूप में किया जाता है। बहरहाल, व्यक्तियों के एक समूह यानी पूंजीपतियों द्वारा खुद को श्रम के उक्त औजारों का मालिक बना लिया जाता है और इस प्रकार वे खुद कोई श्रम किये बिना ही, पैदा की जाने वाली चीज़ों के एक हिस्से पर स्वामित्व हासिल कर लेते हैं। इस तरह हड़पे हुए उत्पाद का एक हिस्सा तो वे उपभोग में लगा देते हैं और बचे हुए हिस्से के सहारे वे श्रम के औजारों के अपने भंडार को बढ़ाते हैं।

आइए, बहस के लिए हम अतिरिक्त उदारता बरतते हुए, पूंजीपतियों की मोदी द्वारा की गयी प्रशंसा को इसके लिए प्रशंसा माने लेते हैं कि वे श्रम के औजारों के भंडार में बढ़ोतरी करते हैं। तब भी उन्हें सिर्फ़ इसलिए संपदा निर्माता कहना कि वे उत्पादन का जितना हिस्सा हड़पते हैं, उसमें से सारे का उपभोग नहीं कर लेते हैं बल्कि उसके एक हिस्से से श्रम के औजारों में बढ़ोतरी करते हैं, उत्पादन की इस समूची प्रक्रिया के मामले में पूरी तरह से अज्ञान का प्रदर्शन करना ही है।

बहरहाल, मोदी ने इससे भी ज़्यादा अज्ञान का प्रदर्शन अपनी इस टिप्पणी के ज़रिये किया है कि उनकी सरकार ने एकदम हाल ही में कार्पोरेटों को 1.45 लाख करोड़ रु. की जो कर राहतें दी हैं, सबके भले के लिए दी हैं। उन्होंने दावा किया कि यह तो 120 करोड़ भारतीयों के लिए 'हर तरह से जीत' की स्थिति है! इस मामले में तो मोदी, पूंजीपतियों के 'संपदा निर्माता' होने के अपने ही विचार से भी आगे बढ़ गये हैं। ऐसा लगता है कि अगर कार्पोरेट खिलाड़ी 1.45 लाख करोड़ रु. की समूची रक़म ही हज़म कर जाते हैं और श्रम के औजारों के भंडार में रत्तीभर इज़ाफ़ा नहीं करते हैं, तब भी इसे मोदी के तर्क से 120 करोड़ भारतीयों के लिए 'हर तरह से जीत' की स्थिति ही कहा जा रहा होगा, भले ही इन रियायतों के चलते सकल मांग में कमी होने के रास्ते से बेरोज़गारी में ही भारी इज़ाफ़ा हो रहा हो।

यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के प्रति हिंदुत्व का नज़रिया बहुत ही सरल है : 'कार्पोरेटों के हाथ में जितना ज़्यादा पैसा दिया जायेगा, समाज के लिए उतना ही अच्छा होगा'। अब कार्पोरेटों को कितना दिया जा सकता है, इसकी सीमा इससे तय हो रही होती है कि मेहनतकश जनता को क्या देना पड़ेगा। इसलिए, हिंदुत्व का विचार यह लगता है कि मेहनतकश जनता को जितना कम दिया जायेगा, समाज के लिए

उतना ही अच्छा होगा! संक्षेप में यह कि हिंदुत्ववादी नज़रिया अल्पसंख्यकविरोधी, दलितविरोधी, आदिवासीविरोधी, महिलाविरोधी आदि तो है ही, इसके अलावा यह सारतः और बुनियादी तौर पर मेहनतकशविरोधी भी है।

एक ज़हरीली द्वंद्वात्मकता

यहां एक ज़हरीली द्वंद्वात्मकता काम करती है। इस समय देश को अपनी जकड़ में ले रहे आर्थिक संकट का हिंदुत्ववादी समाधान यही है कि कार्पोरेटों के हाथों में और ज़्यादा संसाधन दे दिये जायें। वास्तव में अपने अजब अर्थशास्त्र के चलते, वह इसके सिवा और कुछ सोच भी नहीं सकता है। लेकिन, इसे व्यवहार में उतारने के लिए तो और भी आक्रामक विमर्श बदल की ज़रूरत है। इसके लिए उसे और भी ज़बर्दस्त, 'अचंभित और भयभीत' करने वाली कार्रवाइयां करनी होंगी, जैसे 'एक राष्ट्र, एक भाषा' की पुकार लगाना, राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर का और नागरिकता संशोधन विधेयक का अभियान चलाना आदि। इनमें से हरेक क़दम का जनता की ज़िंदगियों पर और राष्ट्र की एकता पर सत्यानाशी असर पड़ने जा रहा है।

लेकिन, इस सबके ऊपर से कार्पोरेटों के हाथों में ज़्यादा से ज़्यादा संसाधन देना, मौजूदा संकट को दूर करने की तो बात ही क्या करना, हालात को और ज़्यादा बिगाड़ने का ही काम करेगा। इसलिए हिंदुत्ववादी सरकार ऐसे ख़तरनाक क़दमों से बाज़ आने के बजाय ऐसे ख़तरनाक क़दमों को और तेज़ ही करने जा रही है। दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे मौजूदा संकट और गहरा होगा और इस संकट से उबरने की निष्फल कोशिश में कार्पोरेटपरस्त क़दमों को और आगे बढ़ाया जायेगा, वैसे-वैसे असहाय अल्पसंख्यकों पर सांप्रदायिक हमला और तेज़ से तेज़ होता जायेगा।

बहरहाल, जहां हिंदुत्व-कार्पोरेट धुरी, जो हिंदुत्व द्वारा आत्मसात की गयी इस ख़ास वर्गीय समझ के गिर्द ही गढ़ी गयी है, इस तरह की ज़हरीली द्वंद्वात्मकता को उन्मुक्त करने जा रही है, वहीं इस प्रक्रिया में उसकी कमज़ोर तली भी अपना रंग दिखाने जा रही है। इसका संबंध इस तथ्य से है कि इस द्वंद्वात्मकता के चलते, मौजूदा संकट और बढ़ने ही जा रहा है और यह स्थिति कोई ज़्यादा चलने वाली नहीं है और इसके ख़िलाफ़ बढ़ता हुआ प्रतिरोध भी सामने आयेगा, जो एक दिन इस धुरी को ही उखाड़ देगा।

मुंह में राम
नयी शिक्षा नीति 2019 : स्कूली शिक्षा का मूल्यांकन

सच्चिदानंद सिन्हा

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 (NEP) का प्रारूप मानव संसाधन मंत्रालय के वेबसाइट पर जून के महीने पर प्रकाशित किया गया। मंत्रालय ने शिक्षा नीति के मसौदे पर कुछ एक विश्वविद्यालयों जिनमे निजी संस्थाएं शामिल हैं के अलावा, किसी भी शिक्षक संगठन से कोई औपचारिक बातचीत करने की ज़रूरत नहीं समझी। यह सरासर जनतांत्रिक प्रक्रिया का उल्लंघन है। पिछले चार महीनों से प्रारूप के विभिन्न प्रस्ताओं पर काफ़ी बहस भी हो रही है। शिक्षा और समाजिक सरोकारों से जुड़े कई संगठन इस प्रारूप को समग्र रूप से ख़ारिज कर चुके है। शिक्षाविदों का यह मानना है कि नयी शिक्षा नीति एक तरफ़ निजीकरण और व्यवसायीकरण के रास्ते को सरल बनाने की कवायद कर रहा है वहीं दूसरी तरफ़ भारत के संविधान के मौलिक मूल्यों–धर्मनिरपेक्षता, समानता और मानवतावाद की जगह–धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों को शिक्षा प्रणाली में प्रश्रय दे रहा है। इसमें कोई दो राय नहीं कि आधुनिक और सार्वभौम भारत का भविष्य वैज्ञानिक, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक जनवादी शिक्षा के बग़ैर संभव नहीं।

NEP को संसद की स्वीकृति अभी नहीं मिली है। संसद में राजग बहुमत में है इसलिए शिक्षा नीति को पारित करना सरकार के लिए मुश्किल नहीं। शायद यही वजह है कि सरकार ने काफ़ी पहले से ही असंवैधानिक तरीक़े से कई मुद्दों पर अमल करना शुरू कर दिया है। एक्सीलेंस के नाम पर एक निजी संस्थान जिसका अभी तक कोई वजूद नहीं है को सरकारी अनुदान के लिए उपयुक्त समझना और वहीं सरकारी संस्थानों में अलग-अलग तरीक़ों से–कभी फीस तो कभी यूजर चार्जेज के नाम पर धन उगाही कर, छात्रों और परिवारों को मुश्किल में ला खड़ा कर दिया है। एक महीने से चल रहा जेनेवि के छात्रों का आंदोलन भारत की जनता के सामने जहां सरकार के पूंजीवादी मनसूबों को बहुत महत्वपूर्ण तरीक़े से पेश करता है वहीं समाज के आर्थिक, सामाजिक और प्रादेशिक रूप से पिछड़े परिवारों को जन-वित्तपोषित संस्थानों में शिक्षा के अपने मौलिक अधिकार की पुरजोर पैरवी करता है।

यहां स्कूली शिक्षा के संदर्भ में ड्राफ़्ट रिपोर्ट के कुछेक प्रस्तावों पर देश की ज़मीनी हक़ीक़त के आधार पर मूल्यांकन प्रस्तुत है।

स्कूली शिक्षा

देश की शिक्षण व्यवस्था विगत कई सालों से चिंता का विषय बनी हुई है। जन-वित्तपोषित स्कूलों और महाविद्यालयों की स्थिति से सभी अवगत हैं और निजी संस्थानों का ट्रैक रिकॉर्ड कोई बेहतर नहीं। 2002 में सर्वशिक्षा अभियान शुरू किया गया और 2009 में RTEAct को सरकारी अनुमोदन मिला। स्कूल,

कॉलेज और विश्वविद्यालयों की संख्या लगातार बढ़ी है। इनके बावजूद स्कूली क्षेत्र में अभी भी हम अनिवार्य प्राथमिक नामांकन के टारगेट को हासिल नहीं कर पाये हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 6 से 11 आयु के 10 प्रतिशत बच्चे स्कूली शिक्षा से वंचित हैं। मिडिल और सेकेंडरी स्तर पर छात्रों की संख्या अनुरूप आयु के अनुपात में लगातार कम होती जा रही है। वंचित वर्गों और लड़कियों की तादाद में गिरावट और भी तेज़ बनी हुई है। नयी शिक्षा नीति के शुरू के आठ अध्यायों में इन मुद्दों पर चिंता जताते हुए सरकार ने नीतियां भी परिभाषित की हैं। नीतियों के प्रमुख बिंदु निम्नलिखित हैं :

1. ड्राफ़्ट पालिसी का यह मानना है कि 3+ आयु के अधिकतर बच्चों को आरंभिक बुनियादी शिक्षा के अवसर नहीं मिलने के कारण वे प्रारंभिक कक्षाओं में ही ड्राप आउट हो जाते हैं। इसलिए पहली नीति ECCE यानी अर्ली चाइल्डहुड केयर एंड एजुकेशन को अनिवार्य बनाने की सिफारिश करता है। पिछले कई दशक से ECCE सरकारी नीति रहा है। यह सच है कि इस दिशा में प्रगति की रफ्तार बहुत धीमी रही है। लेकिन क्या सरकार यह दावा कर रही है कि स्कूल ड्राप आउट ही प्रमुख कारण है जिसकी वजह से अनिवार्य एलीमेंट्री एनरोलमेंट कम है? अगर NSSO के आंकड़े देखें तो पता चलता है कि ग्रामीण इलाकों, पिछड़े समुदायों और विशेषकर लड़कियों में नेवर एनरोल्ड यानी वे बच्चे जिनका नामांकन कभी हुआ ही नहीं, का प्रतिशत कोई कम नहीं। RTE के बाद कुछ राज्यों में इस मामले में सुधार हुआ है। नीति नेवर एनरोल्ड के प्रश्न पर मौन है। क्यों?

2. ECCE के अंतर्गत पाठ्यक्रम प्रणाली में बदलाव के सुझाव है। ड्राफ्ट के अनुसार 5 सालों का बुनियादी (Foundational) स्टेज होगा। इसमें 3 साल का प्री-प्राइमरी और कक्षा 1 और 2। बच्चे बुनियादी 5 साल या तो आंगनवाडी में बितायेंगे या आंगनवाडी और प्राथमिक विद्यालय साथ-साथ होंगे। प्राथमिक विद्यालयों में प्री-स्कूल का प्रावधान किया जायेगा या उचित हुआ तो एकल प्री-प्राइमरी स्कूल की स्थापना भी की जा सकती है।

3. कक्षा 3 से 5 प्रिपरेटरी स्टेज होगा। यानी वर्तमान के प्राथमिक विद्यालयों से कक्षा 1 और 2 को जहां मुमकिन होगा आंगनवाड़ी का हिस्सा बनेगा। प्री-प्राइमरी किस संस्थान का हिस्सा होगा इसको लेकर कुछ निश्चित नहीं। आंगनवाड़ी या एकल प्री-स्कूल की स्थिति में बच्चों का एक संस्थान से दूसरे में जाने की प्रक्रिया में ड्राप आउट की गुंजाइश बढ़ जाती है। शोध से यह पता चलता है की इंटीग्रेटेड स्कूलों में ड्राप आउट कम होता है और स्टैंड अलोन या एकल विद्यालयों चाहे वे किसी स्तर के हों वहां ड्राप आउट की संभावना तुलनात्मक रूप से अधिक है।

4. तीन साल (कक्षा 6,7,8) का मिडिल और चार साल (9,10,11,12) का हाई स्कूल पहले की तरह ही होगा।

5. सिफ़ारिश यह है कि प्री-प्राइमरी और उच्च विद्यालय भी अब RTE के दायरे में होंगे। इसके परिणाम की चर्चा नहीं की गयी है। आशय यह है कि देश में अब कंपल्सरी एलेमेंट्री एजुकेशन की जगह अब कंपल्सरी हाई सेकेंडरी एजुकेशन की क़वायद की जा रही है।

6. उपरोक्त प्रस्ताव ड्राफ़्ट रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा में गुणवत्ता लायेगी। रिपोर्ट का मानना है कि समानतावादी विचारों की वजह से स्कूलों की संख्या बढ़ी लेकिन गुणवत्ता घटी है।

हम यहां थोडा ठहर कर उपरोक्त प्रस्तावों का मूल्यांकन करेंगे। प्री-स्कूल को सामान रूप से शिक्षा का पहला सोपान बनाना स्वागत योग्य है। सवाल यह है कि प्री-स्कूल के तीन साल के लिए हमारे पास क्या तैयारी है? लगभग हर गांव में आंगनवाड़ी तो है लेकिन वहां काम करने वाले कर्मचारी क्या इस योग्य हैं कि ECCE के लक्ष्य को पूरा कर सकें? इस विषय से अलग मानव संसाधन के लिए क्या प्रस्ताव

है? शोध यह बताता है कि अधिकतर आंगनवाडी में कमज़ोर तबके के ही बच्चे है। यानी यहां भी कहीं वर्गीय समीकरण कमज़ोर तबक़ों के लिए अभिशाप न बन जायें! क्या हर प्रदेश जो आर्थिक रूप से पिछड़ा है, जैसे बिहार, राजस्थान, ओडिशा आदि के पास प्री-प्राइमरी के लिए पर्याप्त संसाधन मौजूद होंगे? इन मुद्दों पर रिपोर्ट ख़ामोश है।

स्कूली संसाधन के विस्तार और गुणवत्ता के बीच द्वंद्वात्मक संबंध है, यह कहना अनुचित है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। गुणवत्ता के साथ शैक्षिक संसाधन हर नागरिक तक पहुंचाना सरकार का प्राथमिक कर्तृतव्य है। शिक्षा में गुणवत्ता मौलिक रूप से अध्यापकों की नियुक्ति और आवंटन से जुड़ी है। देश के 60 प्रतिशत से अधिक प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षकों की संख्या तीन से कम है। प्रति अध्यापक छात्रों की संख्या चाहे दूरगामी और जटिल यातायात के कारण जनजातीय और दुर्गम पहाड़ी इलाकों में ठीक भी लगे लेकिन अगर प्रति-कक्षा अध्यापक की संख्या का आकलन करें तो यह अनुपात कम होगा। ऐसे स्कूलों में गुणवत्ता कम होगी। विकसित देशों मै जहां-जहां ऐसी स्थितियां दरपेश आयी हैं और जहां के छात्र शैक्षिक रूप से कमजोर आंके गये हैं वहां अधिक अध्यापक भेजे जाते हैं ताकि वे बच्चों पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे सके। नतीजा हमेशा बेहतर पाया गया है। इस रिपोर्ट में तो तमाम तथ्यों को दरकिनार करते हुए उलटी गंगा बहाने की कोशिश की गयी है।

समेकित या इंटीग्रेटेड स्कूल के स्थान पर प्राथमिक कक्षाओं को तोड़ना, कक्षा 1 और 2 को आंगनवाड़ी से जोड़ना या एकल प्री-प्राइमरी स्कूल के प्रस्ताव न ही नेवर-एनरोल्ड चिल्ड्रेन की समस्या का समाधान है और न ही ड्राप आउट के। अव्वल यह कि 5+3+3+4 की व्यवस्था प्रतिकूल रूप से ड्राप आउट को बढ़ावा देगी, चाहे कितना भी चाइल्ड-ट्रैकिंग की व्यवस्था हो। शोध से यह तथ्य साफ़ है कि छात्रों की ग्रेडवार उपलब्धि समेकित विद्यालयों में बेहतर है। चूंकि देश में अभी भी हम अनिवार्य एलिमेंट्री एजुकेशन का लक्ष्य नहीं हासिल कर सके हैं इसलिए प्राइमरी और मिडिल स्कूलों को एक साथ रखना बेहतर होगा। प्री-प्राइमरी भी एलीमेंट्री स्कूल का हिस्सा हो तो और भी उचित होगा। इसके कई फायदे हैं—अध्यापकों का आवटन बेहतर होगा, और शिक्षण में गुणवत्ता बढ़ेगी। पंजाब के संदर्भ में शोध से यह तथ्य व्यापक रूप से उभरा है।

NEP 2019 के अनुसार स्कूली शिक्षा से लेकर स्नातक की पढ़ाई का पाठ्यक्रम एक जैसा होगा। विज्ञान, कला, साहित्य या वाणिज्य जैसी शाखाएं नहीं होंगी और न ही वोकेशनल और अन्य विषयों के बीच। पाठ्यक्रम का निर्धारण NCERT और SCERT करेंगी। ऐसी व्यवस्था स्पेशलाइजेशन के इस युग में मेरे नजरिये से प्रतिकूल होगा। अगर व्यापक रूप से देखें तो जहां एक तरफ़ पाठ्यक्रम को लचीला और हल्का करने का प्रस्ताव है वहीं बहु-विषयक शिक्षण प्रणाली छात्रों को किसी काबिल नहीं बनायेगी। बहु-विषयक व्यवस्था की नींव एक या दो विषयों में विशेषज्ञता हासिल करने के बाद संभव होती है। हर विद्यालय में हर तरह के विषयों की पढ़ाई सुनिश्चित करना भी कम जटिल नहीं। लिहाजा, एक अधकचरा सिस्टम उसकी जगह लेगा। उदाहरण के लिए, आज भी 45 प्रतिशत हाई स्कूलों में विज्ञान के लिए लेबोरेटरी नहीं है और स्कूलों में स्कूल बोर्ड द्वारा मनोनीत विषय नहीं उपलब्ध हैं, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में।

स्कूल कॉम्पलेक्स

ड्राफ़्ट रिपोर्ट में पैरवी की गयी है कि संसाधनों के कुशल और प्रभावशाली नियोजन तथा संचालन की दृष्टि से स्कूल काम्पलेक्स बनाये जायेंगे। स्कूल कॉम्पलेक्स का निर्माण एक सेकेंडरी स्कूल को केंद्र

मानते हुए पड़ोस के पांच से दस मील के दायरे में स्थित निचले स्टेज/ग्रेड के स्कूलों को मिलाकर किया जायेगा। अपेक्षा है कि ऐसा करने से एक तरफ़ स्कूलों का अलगाव और शिक्षकों का एकाकीपन दूर किया जा सकेगा। इन कॉम्प्लेक्सों में पाठ्यक्रम संबंधी और पाठ्येतर हर प्रकार की सुविधाएं प्रदान की जायेंगी, जिसका प्रभावशाली इस्तेमाल छात्र, शिक्षक और अन्य कर सकेंगे प्रशाशनिक, संगठनात्मक तथा संचालन के नजरिये से यह माना जा रहा है कि स्कूलों की इस तरह की संरचनात्मक व्यवस्था अधिक सुदृढ़ होगी।

इस कॉम्पलेक्स में हर विषय और विधा के विशेषज्ञ मौजूद होंगे जिनका कॉम्पलेक्स का हर विद्यालय उपयोग कर सकेगा और इससे यहां एक गुंजायमान समुदाय का निर्माण हो सकेगा, जिसका संपूर्ण लाभ विभिन्न स्तर और प्रतिभाओं के छात्रों को मिल सकेगा। रिपोर्ट के अनुसार स्कूलों का अलगाव, विशेषकर ऐसे स्कूल जहां छात्रों की संख्या बहुत कम है, सीखने-सिखाने की गतिविधिओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। ऐसे प्राथमिक स्कूलों की संख्या U&DISE के अनुसार 28% और मिडिल स्कूलों की 14% है। लगभग 1 लाख 19 हज़ार से भी ज़्यादा प्राथमिक विद्यालयों में सिर्फ़ एक शिक्षक है, क्योंकि इस स्कूलों में छात्रों की संख्या बहुत कम है।

अगर इन वजहों को मान भी लें तो ज़रा पता करें कि इस तरह के स्कूल कहां स्थित हैं? इनमें से ज़्यादातर स्कूल पहाड़ी, रेतीले, वनों के बीच दुर्गम जगहों में हैं। तो ऐसे आवासीय एकाकी ग्रामीण इलाक़ों के लिए तो स्कूल कॉम्लेक्स किसी काम का नहीं होगा! न इतने बच्चे होंगे और इसलिए इनके लिए उच्च विद्यालय भी नहीं बन पायेगा। एक और आकड़े के सहारे से स्कूलों के ग्रामीण इलाकों में वितरण को बेहतर समझा जा सकता है। भारत के सेन्सस के अनुसार देश में 500 से कम आबादी वाले गांवों का प्रतिशत 37-5% है। 1000 की आबादी वाले गांव 22% हैं। अगर 3 से 14 साल के बच्चों का औसत प्रतिशत देखें तो यह तकरीबन 24 या एक चौथाई होगा, यानी 500 में 125 बच्चे। इस बच्चों को 8 कक्षाओं में वितरित करें तो हर ग्रेड या कक्षा में पूर्ण नामांकन की अवस्था में 16 बच्चे होंगे। तो पहाड़ी या दुर्गम इलाकों में गांव कितने बड़े होंगे? उदाहरण के लिए, हिमाचल चलते हैं। यहां कुल 17882 गांव हैं। इनमें से 8873 की जनसंख्या 200 या इससे कम है। इन ग्रामीण बस्तियों में कुल कितने बच्चे होंगे? 50 या कम! तो पूरे देश में 200 से कम आबादी वाले कितने गांव होंगे, अंदाजा लगाया जा सकता है। ऊपर से हमारे देश में व्याप्त जातिगत अधिवास समूहों की स्थिति अलग ही है। और कई गांवों में एक प्राथमिक स्कूल की जगह दो भी हैं- एक बालकों और दूसरा बालिकाओं के लिए। जनजातीय क्षेत्रों में भी आवासीय वितरण अलग प्रकार के होने से स्कूल कॉम्पलेक्स का महत्व कमतर हो जाता है। अतः, मुझे यह कहते बिलकुल संकोच नहीं हो रहा है कि वित्तीय, और संसाधनों के प्रभावशाली इस्तेमाल के पीछे मंशा छोटे स्कूलों को बंद करने की है। इसका ख़ामियाजा ऐसी बस्तियों के परिवारों को भुगतना पड़ेगा जो अधिकतर राजनीतिक रूप से अधिक मायने नहीं रखते।

NEP के ड्राफ़्ट में कुल मिलाकर कोई भी ऐसा प्रस्ताव नहीं जो स्कूली शिक्षा को प्रगति की राह पर अग्रसर करे। जो प्रस्ताव लाये गये हैं, उनका ज़मीनी हक़ीक़त से तथ्यों के आधार पर कम रिश्ता नज़र आता है। स्कूली शिक्षा में व्याप्त सामाजिक और वर्गीय विभाजन को ये प्रस्ताव और जटिल और गहरा बना देंगे। ड्राफ़्ट गुणवत्ता और सामाजिक एकरूपता और समानता के नाम पर एक ऐसी शैक्षिक व्यवस्था की सिफ़ारिश की जा रही है जिससे सामाजिक और प्रादेशिक असमानता बढ़ेगी और शिक्षा सिर्फ़ कुछेक वर्गों और समुदायों का परमाधिकार बनकर रह जायेगी।

ईमेल : sachi57sinha@gmail.com

संविधान की धारा 370 में संशोधन के निहितार्थ

बद्री रैना

प्रधानमंत्री मोदी ने विपक्ष और ख़ासकर कांग्रेस को चुनौती दी है कि अगर हिम्मत है तो वे आगामी चुनावों में अपने घोषणापत्र में संविधान की धारा 370 के सारे प्रावधानों की बहाली का वादा शामिल करके दिखायें। यह एक चालाकीभरा बहसतलब मुद्दा है : मोदी जी समझते हैं कि ऐसे आश्वासन से पूरी हिंदी पट्टी में कांग्रेस को चुनावी नुक़सान उठाना पड़ सकता है, जबकि सत्ताधारी भाजपा को काफ़ी हद तक 'राष्ट्रवाद' के नाम पर मतदाताओं का ध्रुवीकरण करने में कामयाबी हासिल होगी। यह बताना ज़रूरी नहीं कि इस तरह के ध्रुवीकरण की बुनियाद साफ़ तौर पर मुस्लिमविरोधी मानसिकता तैयार करने पर टिकी है।

ऐतिहासिक तथ्य यह है कि धारा 370, कांस्टीटुएंट असेंबली में उन सरदार पटेल ने जोशोख़रोश के साथ पेश की थी जिन्हें मोदी जी और भाजपा आज अपने नायक के रूप में दिखा रहे हैं, उस समय नेहरू अमेरिका गये हुए थे जिन पर मोदी जी लगातार यह आरोप लगाते नहीं अघाते कि उन्होंने कश्मीर को 'विशिष्ट राज्य' का दर्जा देने की ग़लती की। यहां यह भी याद दिलाना ज़रूरी है कि 15-16 मई 1949 को कश्मीर से आये एक प्रतिनिधिमंडल जिसमें शेख़ अब्दुल्ला और तीन सहयोगी शामिल थे के साथ केंद्र के नेताओं से कश्मीर विलय की शर्तों पर बातचीत सरदार पटेल के आवास पर ही हुई थी जिसमें नेहरू भी मौजूद थे। उसके बाद पांच महीने तक लगातार विचार-विमर्श के नतीजतन 'गोपालस्वामी-पटेल मसौदा' तैयार हुआ, उसी मसौदे ने धारा 370 की शक्ल अख़्तियार की। उस दौर में जब नेहरू अमेरिका में थे, आयंगर ने पटेल को सुझाव दिया था कि नेहरू को यह बता दें कि शेख़ अब्दुल्ला के प्रतिनिधिमंडल के साथ बातचीत में जो समझौता हुआ, उस पर उनकी सहमति है। इसी बिना पर पटेल ने 3 नवंबर 1949 को नेहरू को लिखा कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भीतर भयंकर मुख़ालिफ़त के बावजूद वे कश्मीर के लिए 'विशिष्ट राज्य' के प्रावधान को मनवाने में कामयाब हो गये (देखें, *सरदार पटेल सिलेक्टिव करेस्पोंडेंस* 1945-50, सं. वी. शंकर)

श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने भी कोई आपत्ति दर्ज नहीं करायी।

यह भी उतना ही सच है कि इस क़दम पर अंतरिम कैबिनेट में श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने बैठक के समय कोई आपत्ति नहीं उठायी। इसी तरह यह भी सचाई है कि क़बीलाई हमलों के बाद के दौर में संयुक्तराष्ट्र संघ में कश्मीर मामले को ले जाने के प्रस्ताव के बारे में भी श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कोई असहमति नहीं जतायी। उनसे बाद में सीधे-सीधे जब यह सवाल किया गया कि वे अपनी पुरानी सहमति के विपरीत प्रोपेगंडा क्यों कर रहे हैं जब नया कश्मीर राज्य में सरकार अतिरिक्त ज़मीन का अधिग्रहण करके जोतने वालों को दे रही है और क्या उन्होंने संयुक्तराष्ट्र संघ में कश्मीर मसले को ले जाने के बारे

में अपनी सहमति नहीं जतायी थी, उन्होंने कहा, 'हां जतायी थी।' (*पार्लामेंटरी डिबेट्स,* 1952)

जहां तक जनमतसंग्रह का मसला है, यह मसला सिर्फ़ जम्मू-कश्मीर तक ही सीमित नहीं था, उन दिनों जनमतसंग्रह का काम उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत (North West Frontier Province), असम के सिलहट क्षेत्र में, और सबसे अहम बात कि सरदार पटेल के सुझाव पर जूनागढ़ रियासत में भी कराया गया था। इससे जुड़ी हुई एक और विडंबना देखिए, कश्मीर में जनमतसंग्रह की वकालत करने वाले शायद नहीं जानते होंगे कि कांग्रेस कमेटी उन दिनों मिली जुली आबादी वाली ऐसी सभी रियासतों में जहां के राजे या नवाब तब तक भारत के संघीय ढांचे में शामिल होने को तैयार नहीं हुए थे, जनमतसंग्रह कराने के पक्ष में थी, और मुहम्मद अली जिन्ना इस प्रस्ताव के ख़िलाफ़ थे, वे चाहते थे कि राजा या नवाब ही फ़ैसला लें। जिन्ना के दिमाग़ में हैदराबाद घूम रहा था जिसे वे निज़ाम की मर्ज़ी के मुताबिक़ 'आज़ाद रियासत' रहने देना चाहते थे।

इसी के साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सरदार पटेल ने लियाक़त अली ख़ां को 8 नवंबर 1947 को जूनागढ़ की बजाय हैदराबाद के बदले कश्मीर लेने की पेशकश की थी और इस पेशकश को उन्होंने 11 नवंबर को जूनागढ़ में आयोजित एक जनसभा में दोहराया था।

जो हुआ सो हुआ। मोदी जी की चुनौती इस तरह उस इतिहास और नज़रिये की याद दिलाती है जिसकी प्रक्रिया में भारत का संविधान लिखा गया और संघीय ढांचे का सिद्धांत बना जो इसके बहुलतावादी चरित्र को रेखांकित करता है। नये गणराज्य के निर्माण में राज्य के अवाम की ख़्वाहिश का आदर करना ख़ास अहमियत रखता था, यही वह तथ्य है जिसकी वजह से सही ही धारा 371ए-जे भी भारत के संविधान में शामिल की गयी जिसमें दस अन्य राज्यों के लिए भी 'विशिष्ट प्रावधान' शामिल किये गये और प्रावधान आज भी अपनी जगह हैं।

कांग्रेस अपने मूल सिंद्धांतों को अपनाये रखे

जहां मोदी जी चुनावी लाभ के लिए चालाकीभरी चुनौती कांग्रेस को दे रहे हैं कि वह धारा 370 को फिर से अपना ले, लेकिन कांग्रेस को यह मालूम होना चाहिए कि यह चुनौती कांग्रेस को अपने उन्हीं सिद्धांतों को अपनाने की है जिनके आधार पर कांग्रेस ने अवाम की जनतांत्रिक सहमति से भारतीय संघीय ढांचे का गठन किया था।

इस प्रकरण से सवाल यह उठता है कि क्या कांग्रेस को आज अपने उन सिद्धांतों का परित्याग कर देना है या फिर पूरी बहादुरी के साथ उन उसूलों की अहमियत बनाये रखना है जिनसे आज के बिखरते देश को फिर से धर्मनिरपेक्ष और जनतांत्रिक आदर्शों के आधार पर एकताबद्ध करना है।

यह देखकर दुख होता है कि कांग्रेस देश के जीवन में अपनी वही जगह बनाने की कोशिश क्यों नहीं कर पा रही। साफ़तौर पर, अपने अमल में अगर कांग्रेस सिर्फ़ अपने धूमिल सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का बखान करती रहती है या आज के कुछ मसलों पर थोड़ा बहुत प्रतिरोध जताती रहती है तो इससे चुनावी कामयाबी भी हासिल नहीं होती है, इससे उसकी विचारधारात्मक छवि ख़राब हो रही है और उसकी विश्वसनीयता भी घटी है।

मोदी जी की चुनौती इस तरह कांग्रेस को एक मौक़ा दे रही है कि वह इस चुनौती का बहादुरी से सामना करे और अपने उन्हीं उसूलों की बिना पर पार्टी का पुनर्गठन करे तथा अपना जनाधार विकसित करे जिन उसूलों से उसने भारत के स्वाधीनता संग्राम को उपनिवेशवाद के चंगुल में फंसी पूरी 'तीसरी

दुनिया' के लिए मशाल की तरह बना दिया था और पूरी दुनिया में दूर दूर तक आज़ादी के आंदोलनों को प्रेरित किया था।

धारा 370 एकताबद्ध होने में बाधा नहीं

धारा 370 का आगे चल कर क्या बनेगा, इसके लिए अभी इंतज़ार करना होगा क्योंकि इस पर सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ की राय आनी है जो संविधान की इस धारा में केंद्र सरकार द्वारा किये गये संशोधन की वैधता या अवैधता पर विचार करेगी। मगर इस वक़्त धारा 370 की उस भूमिका पर साहस और नैतिकता के साथ पुनर्विचार की मांग है जिसने कश्मीर राज्य के अवाम की ज़िंदगी पर असर डाला। मसलन, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि घाटी के आम नागरिकों या जुझारू दस्तों के बीच असंतोष धारा 370 की वजह से नहीं था, बल्कि इसे धीरे धीरे खोखला करने को लेकर था, ख़ास तौर से 1975 में शेख़-इंदिरा समझौते के बाद यह शुरू हुआ। यह ध्यान में रहे कि तब तक राज्य में कोई दहशतगर्दी नहीं थी, हुर्रियत का अलगाववादी संगठन भी बाद में सामने आया। सैयद अली शाह जिलानी जम्मू-कश्मीर विधानसभा के लिए दो बार चुने गये थे। सैयद सलाहुद्दीन जो दहशतगर्द संगठन, हिज़बुल मुजाहिदीन के सरबराह थे 1987 के चर्चित चुनाव में अपने असली नाम यूसुफ़ शाह से मुस्लिम यूनाइटिड फ्रंट के उम्मीदवार के तौर पर खड़े हुए थे।

राज्य में आयी बदअमनी और गिरावट धारा 370 को धीरे-धीरे खोखला करने की वजह से आयी, यह बात अकाट्य है। यह धारा एकताबद्धता के लिए कभी रोड़ा नहीं थी जैसा कि अपने को 'राष्ट्रवादी' कहने वाले झूठा प्रचार करते हैं। इसीलिए अगर कांग्रेस राष्ट्रनिर्माण और राष्ट्र-प्रगति के अपने उस सराहनीय बहुलतावादी नज़रिये को क़ायम रख सकती है जो दक्षिणपंथी तानाशही एकाधिकारी नज़रिये के विपरीत है, तो धारा 370 की वचनबद्धता को निभाये रखना उसकी व्यापक राजनीति के लिए केंद्रीय अहमियत रखेगा, उस नज़रिये को छोड़ देना उसके अपने लिए और हमारे गणराज्य के लिए घातक होगा।

प्रस्तुति : चंचल चौहान

अभिशप्त इतिहास, अनिश्चित भविष्य के बीच कश्मीर

अशोक कुमार पांडेय

8 नवंबर 2019 को कश्मीर में मौसम की पहली बर्फ़ गिरी। जिसने कश्मीर को देखा है, वह जानता है पहली बर्फ़ की ख़ूबसूरती। चिल्लां कलां के आने की पहली आहटें। शीन मुबारक कहकर इसका इस्तक़बाल किया जाता है। लेकिन इस बार शीन आयी तो शाम होते-होते घाटी में अंधेरा छा गया। जाड़ों में बिजली की किल्लत कोई नयी चीज़ नहीं लेकिन इस बार पहली ही बर्फ़ में बिजली की व्यवस्था चरमरा गयी और घाटी के अनेक हिस्सों में तब से अंधेरा है। अभी ख़बर आयी कि मोमबत्तियों का भी अकाल पड़ गया है। यह लेख लिखे जाने तक उत्तरी कश्मीर में अब भी समस्या बनी हुई है।

यह कश्मीर की विडंबना है। ख़ूबसूरती ही दुश्मन हो उसकी जैसे। पाकिस्तान उसे अपनी शाह रग कहता है तो हिंदुस्तान अपना अटूट अंग। लेकिन चाहे वह पाकिस्तान के क़ब्ज़े का कश्मीर हो या फिर हिंदुस्तानी कश्मीर, शांति और सुकून जैसे दुश्मन हैं दोनों के। पिछले दिनों 5 अगस्त को जब अचानक 370 हटाने और राज्य को दो हिस्सों में बांटकर एक केंद्र शासित प्रदेश का दर्जा दिये जाने के निर्णय के मद्देनज़र घाटी को पूरी तरह सेना के हवाले कर दिया गया और संचार सेवाएं ठप कर दी गयीं, तभी से दुकानें बंद हैं, स्कूल-कॉलेज खुलकर भी नहीं खुले हैं और सार्वजनिक यातायात ठप पड़ा है। पोस्टपेड मोबाइल सेवाएं शुरू की गयीं लेकिन दो दिन बाद ही एसएमएस सुविधा छीन ली गयी और इंटरनेट तो अब तक बंद है। पूरा टूरिस्ट सीज़न इन बंदिशों की भेंट चढ़ गया और पेड़ों पर लगे सेबों को उतारने/न उतारने के फ़रमानों के बीच दो लोगों के मारे जाने के बाद बाग़ान मालिकों ही नहीं, हज़ारों मज़दूरों के लिए भी अगला साल एक दुःस्वप्न बन गया। अक्टूबर के पहले हफ़्ते में मैं जब कश्मीर गया तो श्मशानी शांति के ही नहीं, गांधीवादी सविनय अवज्ञा आंदोलन के भी नये मानी समझ में आये। दुकानें अपने-आप बंद हैं, सड़कों पर निजी वाहन दिखते हैं, सुबह-शाम डेढ़-डेढ़ घंटों के लिए ज़रूरी सामानों की दुकानें खुलती हैं और ख़ामोश पड़ी डल के इर्द-गिर्द बाग़ों में कुछेक लोग खामोश पड़े रहते हैं। यहां बंदी में जो विनय है वह भय से उपजा है, भय जो अब उस स्तर पर पहुंच चुका है कि गुस्से में बदल गया है, जिससे कोई प्रीति नहीं बल्कि अलगाव का एक गहरा भाव जन्मता है। अवज्ञा केवल अपने अधिकारों की मांग के लिए नहीं बल्कि अपने अस्तित्व की उस परिभाषा से इंकार है जो दमन से निर्धारित करने की कोशिश की जा रही है। इसके पहले तक लोग आगे आ-आ कर बात करते थे, इस बार लोग बात नहीं करना चाह रहे थे। जो परिचित थे, उन्होंने स्वागत किया लेकिन बातें करते समय गुस्से और उदासी का जो गहरा भाव था, उसे बहुत साफ़ देखा जा सकता था।

370 तोड़ने नहीं जोड़ने वाला अनुच्छेद था

370 का प्रस्ताव जब संविधान सभा में पेश किया जा रहा था तो मौलाना हसरत मोहानी ने सवाल खड़ा किया था : 'कश्मीर से अलग व्यवहार क्यों?' गोपालस्वामी आयंगर ने जवाब दिया : 'यह भेदभाव कश्मीर की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण है। वह विशेष राज्य अब तक इस तरह के एकीकरण के लिए तैयार नहीं है। यहां बैठे हर व्यक्ति को यह उम्मीद है कि समय के साथ-साथ जम्मू और कश्मीर भी उस तरह के एकीकरण के लिए तैयार हो जायेगा जैसा अन्य राज्यों के साथ हुआ है ...भारत सरकार कश्मीर के लोगों के प्रति कुछ मामलों में वचनबद्ध है। उन्होंने इस अवस्थिति के प्रति वचनबद्धता प्रकट की है कि राज्य के लोगों को यह तय करने का मौक़ा दिया जायेगा कि वे गणराज्य के साथ रहना चाहते हैं या इससे बाहर जाना चाहते हैं। हम लोग इस बात के लिए भी वचनबद्ध हैं कि जनता की इच्छा जनमतसंग्रह द्वारा तय की जायेगी बशर्ते शांतिपूर्ण और सामान्य स्थितियां क़ायम हों और जनमतसंग्रह की निष्पक्षता की गारंटी दी जा सके। हम इस बात से भी सहमत हुए हैं कि राज्य की संविधान सभा के माध्यम से लोगों की इच्छा के अनुसार राज्य का संविधान स्थापित किया जायेगा और राज्य पर केंद्र का प्राधिकार तय किया जायेगा... जब तक राज्य की संविधान सभा निर्मित नहीं होती, केवल एक अंतरिम व्यवस्था ही संभव है और ऐसी व्यवस्था नहीं संभव है जैसी अन्य राज्यों के मामलों में है। अब, यदि आपको मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये विचार बिंदु याद हों तो यह एक अवश्यंभावी निष्कर्ष है कि हम केवल एक अंतरिम व्यवस्था लागू कर सकते हैं। अनुच्छेद 306 ए (370) ऐसी ही व्यवस्था स्थापित करने की एक कोशिश है।' इसमें दो बिंदु महत्त्वपूर्ण हैं। पहला तो अनुकूल परिस्थितियां होने पर जनमतसंग्रह द्वारा कश्मीर राज्य में भारतीय गणराज्य के साथ संबंध को सुनिश्चित करने का संकल्प और दूसरा यह कि अनुच्छेद 370 का भविष्य राज्य की संविधान सभा तय करेगी। इसे उस दौर में किसी समस्या की जगह भारतीय एकता की विजय के रूप में देखा जा रहा था जिसे गुलज़ारीलाल नंदा एक ऐसी सुरंग के रूप में देख रहे थे जिससे भारतीय संविधान धीमे-धीमे कश्मीर तक पहुंचेगा। श्यामा प्रसाद मुखर्जी भी उस समय नेहरू कैबिनेट के सदस्य के रूप में इसके समर्थन में थे। उन्होंने कैबिनेट से इस्तीफ़ा 370 के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि 8 अप्रैल 1950 को नेहरू-लियाक़त समझौते के ख़िलाफ़ दिया था। इसलिए 370 के अस्थाई होने का मतलब यह था कि इसका भविष्य कश्मीर की जनता के अंतिम निर्णय द्वारा तय होगा। अगर कश्मीर में जनमतसंग्रह हुआ होता और वहां की जनता ने भारत के साथ आने का स्पष्ट निर्णय दिया होता तो संभव था कि अनुच्छेद 370 का स्वरूप बदल जाता या इसकी आवश्यकता ही नहीं रहती। यहां यह याद रखना चाहिए कि उस समय कश्मीर में जो हालात थे, उनमें किसी संविधान सभा का निर्माण निकट भविष्य में संभव नहीं दिख रहा था। लेकिन इस व्यवस्था में यह अंतर्निहित था कि ऐसी कोई संविधान सभा इस अनुच्छेद को ख़त्म भी कर सकती थी, संशोधित भी और अनुसंशित भी। ऐसे में, ज़ाहिर तौर पर, जनमतसंग्रह या संविधान सभा के निर्माण के बाद 370 का स्वरूप बदल भी सकता था और यह समाप्त भी हो सकती थी। इस अनुच्छेद के अस्थाई होने का संदर्भ इन्हीं दोनों स्थितियों से था और यह एक ग़लत मान्यता होगी कि अनुच्छेद 369 की तरह संविधान में इसका अस्तित्व थोड़े दिनों के लिए मुक़र्रर किया गया था। सुप्रीम कोर्ट ने अभी हाल में संतोष गुप्ता बनाम स्टेट बैंक ऑफ़ इंडिया मामले में इसकी ताईद की थी और कहा था कि इसे राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है लेकिन इसके लिए जम्मू और कश्मीर की संविधान सभा से इसे अनुमोदित कराना होगा और चूंकि वह सभा भंग हो चुकी है, इसलिए यह किया नहीं जा सकता। अभी भी जिसे हटाना कहा जा रहा है, वह मूलतः एक संशोधन है जिसे लेकर संविधान विशेषज्ञ एकमत नहीं हैं। देखना होगा कि भविष्य में अगर यह

मामला उच्चतम न्यायालय जाता है तो न्यायालय इस पर क्या निर्णय लेता है।

आख़िर जिस अनुच्छेद की पहली ही धारा यह हो कि 'जम्मू और कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है', वह तोड़ने वाली कैसे हो सकती थी? और अलग तो थे ही हालात। हिंदुस्तान का इकलौता मुस्लिम बहुल इलाक़ा जिसका शासक हिंदू था और 15 अगस्त 1947 को जिसने हिंदुस्तान या पाकिस्तान का हिस्सा बनने की जगह आज़ाद रहने का फ़ैसला लिया था। हैदराबाद और जूनागढ़ में जनता का बाहुल्य हिंदू था तो हमने उसे अपने साथ मिला लिया, कश्मीर में जनता का फ़ैसला जनमतसंग्रह से होना था और तब तक तीन मामलों के अलावा बाक़ी सब 370 के तहत उसे खुद संभालना था। पुराना वादा था शेख़ अब्दुल्ला का भूमि सुधार का, तो सत्ता में आते ही किया भूमि सुधार। सदियों से शोषण झेल रहे किसानों को ज़मीन मिली। लेकिन ज़मीन गयी शासक वर्ग की, शासक वर्ग जिसमें बहुतायत डोगरा और कश्मीरी पंडितों की थी। जम्मू में डोगराओं की प्रजा सभा ने इसे हिंदू-मुस्लिम बनाना शुरू कर दिया। 'एक देश में दो विधान नहीं चलेगा' का नारा वे डोगरे लगा रहे थे जो कल तक स्वतंत्र डोगरिस्तान की बातें करते हुए भारत से विलय की मांग करने वालों को गिरफ़्तार करवा रहे थे। हिंदू-मुस्लिम करते हुए वे भूल गये कि जम्मू के हज़ारों दलितों को इस क़ानून से पहली बार ज़मीन का मालिकाना हक़ मिला था। तबसे अब तक 370 दक्षिणपंथी हिंदुत्ववादी ताक़तों के लिए मुद्दा बना हुआ था। हालत यह कि इसे आतंकवाद के लिए ज़िम्मेदार क़रार कर दिया गया। इस सवाल का जवाब देने की किसी को क्या ज़रूरत थी कि फिर नब्बे के पहले वहां आतंकवाद क्यों नहीं शुरू हुआ या फिर पंजाब जैसे इलाक़े में आतंकवाद कैसे शुरू हुआ जहां के अकाली दल के नेता मास्टर तारा सिंह 370 के मामले पर श्यामा प्रसाद मुखर्जी के सुर में सुर मिलाकर कह रहे थे कि कश्मीरी पाकिस्तान चले जायें लेकिन ज़मीन हमें उस पंजाब के एवज़ में चाहिए जो पाकिस्तान के पंजाब में रह गयी है?

35 ए का मामला और मज़ेदार है। 1920 के दशक में जब पंडितों ने पंजाब और दूसरे इलाक़ों से आकर नौकरियों पर कब्ज़ा करने वालों के ख़िलाफ़ आंदोलन शुरू किया और 'कश्मीर कश्मीरियों के लिए' का नारा लगाया तो महाराजा हरि सिंह ने राज्य उत्तराधिकार क़ानून के तहत कश्मीर में ज़मीन ख़रीदने और नौकरियों का अधिकार कश्मीरियों तक सीमित कर दिया। पंडितों ने सोचा भी नहीं था कि एक दिन कश्मीर का मुसलमान पढ़-लिख कर उस नौकरी में हिस्सेदारी मांगेगा। जब यह हुआ तो फिर विरोध हुए। इस विरोध के बावजूद ग्लांसी कमीशन बना और पहली बार मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों में जगह बनायी गयी। पंडितों ने तीखा विरोध किया और रोटी आंदोलन शुरू हुआ जिसमें पंडित छात्र सड़कों से लेकर दफ़्तरों तक में जाकर प्रचार करते थे। आप वह इतिहास पढ़ेंगे तो आपको शेष भारत में सवर्णों और दलितों के बीच का संघर्ष याद आयेगा। वही मेरिट के तर्क। हालांकि वह आंदोलन लंबा नहीं चल पाया लेकिन नौकरियों को लेकर जो तनातनी शुरू हुई, वह लंबी चली। आज़ादी के बाद वही अधिकार 35 ए से सुरक्षित किया गया था, ताकि कश्मीरी जनता की ज़मीन और नौकरियों को उनके लिए सुरक्षित रखा जा सके और पूंजी की लूट से बचाया जा सके। आप देखेंगे कि लगभग सभी राज्य सरकारों ने अपने लोगों के लिए नौकरी में साठ से अस्सी फ़ीसद तक आरक्षण दिया है।

370 हटाने के पीछे के तर्क और उनकी हक़ीक़त

जो सबसे बड़ा तर्क इस्तेमाल किया गया 370 और 35 ए हटाने के पीछे, वह पंडितों की वापसी का था। कश्मीरी पंडितों की वापसी को एक प्रमुख तर्क की तरह इस्तेमाल किया गया। दक्षिणपंथी ताक़तों द्वारा यह मुद्दा लंबे समय से घाटी के भीतर अलोकतांत्रिक गतिविधियों के साथ-साथ देश भर में अल्पसंख्यकों

के प्रति बढ़ती हुई दमनात्मक कार्रवाइयों को सही ठहराने के लिए ढाल की तरह इस्तेमाल होता रहा है। कश्मीरी पंडितों के एक हिस्से ने दिल्ली से लंदन तक इस क़दम पर सार्वजनिक रूप से खुशियां मनायीं और इसकी ख़बरें अख़बारों के पहले पन्नों तथा चैनलों के राष्ट्रवादी शोर-गुल में प्रमुखता से कवर की गयीं। इन सबके लिए कश्मीर का लॉक डाउन एक नज़रअंदाज़ किये जाने लायक़ बात थी, जिसको दिखाना या जिसकी चर्चा करना राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल था और चूंकि इसकी वजह से तीन दशकों से अधिक समय से विस्थापित कश्मीरी पंडितों की वापसी संभव हो रही थी, तो यह राष्ट्रहित का मामला था। इस उत्साह का सबसे खुला रूप दक्षिणपंथी समूह के साथ अपनी नज़दीक़ी के लिए जानी जाने वाली एक गायिका की डल लेक पर छठ मनाने की घोषणा में दिखायी दिया, शायद उन्हें यह दृढ़ विश्वास होगा कि कश्मीरी पंडित भी उन्हीं की तरह छठ पूजा करते होंगे। ज़ाहिर है कि वह इस बात से पूरी तरह अनजान थीं कि कश्मीर के अपने त्योहार हैं और अपनी संस्कृति, जिसमें उत्तर-भारत में मनाये जाने वाले ज़्यादातर हिंदू पर्व नहीं शामिल होते। वैसे यहां यह बता देना भी समीचीन होगा कि कश्मीर में वैसे तो दशहरे की कोई परंपरा नहीं रही है, लेकिन स्थानीय पंडितों द्वारा 2007 से दशहरे का आयोजन किया जा रहा था जिसमें दोनों धर्मों के लोग उत्साह से हिस्सा लेते थे लेकिन इस साल लॉक डाउन के कारण दशहरे का आयोजन संभव नहीं हुआ। आज जब लॉकडाउन के सौ दिन पूरे हो चुके हैं तो एक बार इन सब दावों की जांच-परख कर लेना बेहतर होगा।

अपनी कश्मीर यात्राओं के दौरान मैं कश्मीर घाटी के विभिन्न हिस्सों में रह रहे कश्मीरी पंडितों से मिला। यह कई लोगों के लिए आश्चर्यजनक तथ्य हो सकता है कि कुछ पंडितों ने कभी अपना घर नहीं छोड़ा और आज घाटी के विभिन्न भागों में लगभग 808 हिंदू परिवार रहते हैं जिनमें से अधिकतर पंडित हैं। साथ ही, घाटी में कोई 6000 सिख परिवार भी रह रहे हैं। विस्थापित पंडितों की संख्या (डेढ़ लाख से लेकर सात लाख से भी अधिक के दावे किये गये हैं) या इसमें तत्कालीन राज्यपाल जगमोहन की भूमिका के विवाद में गये बग़ैर यह कहा जा सकता है कि 1991 और उसके बाद हुआ पंडितों का विस्थापन 1947 के बाद भारत के इतिहास में घटी सबसे त्रासद घटनाओं में से एक है। यहां यह बता देना आवश्यक है कि जब 1947 में जम्मू सहित पूरे उत्तर भारत में सांप्रदायिक हत्याओं और विस्थापन का ख़ूनी खेल चल रहा था तो घाटी में पूरी तरह से शांति थी, और जो घाटी में नब्बे में हुआ उसका शेष भारत पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा, जबकि पंडितों को लगता था कि अगर उनके साथ कुछ हुआ तो देश भर के हिंदू उनके पक्ष में उठ खड़े होंगे। जम्मू से बाहर इस विस्थापन पर किसी का ध्यान नहीं गया। कारण स्पष्ट थे : देश रथ यात्राओं और बाबरी मस्जिद विध्वंस और उसके बाद देश भर में लगी दंगों की आग जैसी चुनौतियों से जूझ रहा था; लेकिन जैसा कि कश्मीर में रह रहे कश्मीरी पंडितों के संगठन 'कश्मीरी पंडित संघर्ष समिति' के नेता संजय टिक्कू कहते हैं, 'जब नब्बे हुआ तो बाक़ी देश में किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया; लेकिन अब चीज़ें बदल चुकी हैं। अगर भारत में दक्षिणपंथ मज़बूत होगा तो कश्मीर में इस्लामी चरमपंथ और प्रभावी होगा और अगर कश्मीर में लहू बहेगा तो भारत भी शांति से नहीं रह पायेगा।' बीजेपी के एक ताक़तवर और सत्ताधारी संगठन के रूप में उभरने के बाद कश्मीरी पंडितों की वापसी की बातें फिर से उठना शुरू हुईं। दुर्भाग्य से विस्थापन को दक्षिणपंथी अतिवाद की ढाल की तरह इस्तेमाल किया गया और पंडितों का एक हिस्सा दक्षिणपंथी राजनीति के इस खेल में शामिल होता गया।

देखा जाये तो जो 35 ए देश के बाक़ी हिस्से के लोगों के लिए कश्मीर में ज़मीन या संपत्ति ख़रीदने में बाधक था, उसका 1991 के बाद या उसके पहले विस्थापित कश्मीरी पंडितों पर कोई प्रभाव नहीं था।

उनके पास राज्य की नागरिकता का सर्टिफ़िकेट हमेशा से था और इस तरह उनके पास वे सारे अधिकार थे जो किसी अन्य कश्मीरी के पास थे। अगर कोई बाधा थी तो वह थी सुरक्षा और शांति न होने की। एक और बड़ी बाधा रोज़गार के अवसरों की उपलब्धता है। नब्बे के दशक में 53 दिनों तक आतंकवादियों की क़ैद में रहने के बावजूद कश्मीर न छोड़ने वाली राज्य सरकार की पूर्व मंत्री खेमलता वखलू 370 हटाने के इस क़दम का स्वागत तो करती हैं, लेकिन इसके लंबे दौर में पड़ने वाले प्रभावों को लेकर बहुत मुतमइन नहीं हैं। कश्मीरी पंडितों की वापसी के सवाल पर वे रोज़गार के अवसरों की अनुपलब्धता की बात करती हैं। विस्थापित पंडितों में से अधिकांश देश के भीतर और बाहर अच्छी तरह से बस चुके हैं। श्रीमती वखलू का अपना उदाहरण देखें तो उनके सभी बच्चे घाटी से बाहर बसे हुए हैं। यही डॉ. विमला धर के लिए भी सही है जो श्रीनगर के पॉश इलाक़े राजबाग़ में एक ख़ूबसूरत बंगले में अकेले रहती हैं। डॉ. धर के पति डॉ. एस एन धर का भी उस दौर में अपहरण हुआ था। असल में, ज़्यादातर संपन्न कश्मीरी परिवार अपने बच्चों को शिक्षा के लिए कश्मीर से बाहर भेज रहे हैं और चाहते हैं कि वे शांत जगहों पर अच्छी नौकरियां पाकर बस जायें।

पांच अगस्त के बाद एक और दावा जो बार-बार किया गया, वह यह कि इससे तेज़ी से औद्योगीकरण होगा और घाटी में रोज़गार के नये अवसर उपलब्ध होंगे। हालांकि यह अक्सर नहीं बताया जाता है कि व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए वहां ज़मीन हमेशा से उपलब्ध थी। अपने उस प्रसिद्ध भाषण में, जिसके बाद उन्हें महबूबा मुफ़्ती ने मंत्रिमंडल से हटा दिया था, कश्मीर के तत्कालीन वित्त मंत्री हसीब द्राबू ने कहा था कि कश्मीर एक 'सोल्ड आउट डेस्टिनेशन' है और कश्मीर की समस्या मूलतः एक सामाजिक समस्या है, मतलब यह कि शांति का न होना कश्मीर में निवेश न हो पाने की इकलौती वजह है। आप साठ के दशक के अंतिम वर्षों की वह घटना याद कर सकते हैं जब वहां के तत्कालीन प्रधानमंत्री गुलाम मोहम्मद सादिक़ ने इंदिरा जी से कहा था कि 'अगर मैं आपसे सी आर पी एफ़ की एक और बटालियन मांगूं तो आप अगले ही दिन भेज देंगी लेकिन अगर एक उद्योग मांग लूं तो वर्षों तक उस पर कोई कार्रवाई नहीं होगी।' तबसे अब तक हालात और बदतर ही हुए हैं। नब्बे के दौर में शहीद हुए प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और मानवाधिकार कार्यकर्ता हृदयनाथ वांचू के पौत्र और एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता डॉ. अमित वांचू एक और महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं : 'घाटी में आप कैसे निवेश की उम्मीद करते हैं? यहां कोई भारी उद्योग नहीं लग सकता। आप पर्यटन को और विकसित कर सकते हैं या इसे एक शैक्षणिक ''हब'' बना सकते हैं या फिर 'हर्बल फ़ार्मिंग' कर सकते हैं। इन सबके लिए अच्छी गवर्नेंस और शांति की ज़रूरत है।'

और उस शांति की कोई संभावना फ़िलहाल नहीं दिखायी देती। संजय टिक्कू लगभग गुस्से में कहते हैं, 'विस्थापित पंडितों के सेलीब्रेशन ने हमारी ज़िंदगी यहां मुश्किल में डाल दी है। अनुच्छेद 370 पर जो क़दम उठाया गया है, उसने इस समस्या को और सौ वर्षों के लिए उलझा दिया है, सांप्रदायिक विभाजन को तीखा कर दिया है और सहिष्णुता घटा दी है।' यह 5 अगस्त से ही जारी सविनय अवज्ञा से एकदम स्पष्ट है और घाटी में घूमते हुए कोई भी लोगों के गुस्से और पूर्ण मोहभंग को महसूस कर सकता है। टिक्कू आगे कहते हैं, 'मेट्रो शहरों में शांतिपूर्ण जीवन जी रहा और शानदार पैसे कमा रहा कोई कश्मीरी पंडित घाटी में क्यों लौटना चाहेगा? असल सवाल यह है कि क्या वे लौटना चाहते हैं? अगर हां, तो अब तक उन्हें क्या रोक रहा था और अब क्या बदल गया है?' हरि सिंह स्ट्रीट पर मेडिकल सामानों की दुकान चलाने वाले रूप कृष्ण कौल और दक्षिण कश्मीर के वलरहामा गांव के रतनलाल तलाशी भी यही दुहराते हैं।

उद्योगों के विकास की छोड़िए, इस क़दम ने इस साल तो वहां के दो सबसे बड़े रोज़गारों, पर्यटन और सेब के व्यापार को पूरी तरह नष्ट कर दिया। मैं अपनी यात्रा के दौरान कई ऐसे लोगों से मिला जिन्होंने इस साल टूरिस्ट सीज़न के पहले बैंकों से क़र्ज़ लेकर अपने होटलों और हाउसबोटों में नवीकरण करवाया था, टूरिस्ट न आने से उनके व्यापार की कमर ही टूट गयी है। बैंकों की क़िस्तें चुका पाना असंभव है उनके लिए और कई लोगों ने आरोप लगाये कि ऐसा जानबूझकर किया गया ताकि 35 ए ख़त्म होने के बाद के हालात में बाहर के व्यापारी इन्हें आसानी से ख़रीद सकें। ऐसे ही क़रीब ढाई लाख प्रवासी मज़दूरों के लौट जाने से कश्मीर का विनिर्माण उद्योग ही नहीं, वहां की खेती पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। सेब व्यापारियों के ट्रक चालकों और मज़दूरों की हाल में हुई हत्याओं के बाद अब उनके लौटने की संभावनाएं और धूमिल हो गयी हैं।

इसलिए घाटी के बाहर के पंडितों का यह उत्साह उनके ऊपर जीत के भाव से अधिक बाहर आया है जिन्हें वे अपने विस्थापन के लिए ज़िम्मेदार मानते हैं और इसमें लौटने की संभावना की ख़ुशी बहुत कम है। पंडितों और मुसलमानों की वर्तमान पीढ़ियों के बीच की शत्रुता अब और कटु तथा वाचाल हो गयी है, क्योंकि अपने दादाओं से उलट उन्हें एक-दूसरे के साथ रहने और उस सहकार का कोई अनुभव नहीं और वे एक तरफ़ विस्थापन तो दूसरी तरफ़ सेना के दमन की कहानियां सुनते बड़े हुए हैं। जमात-ए-इस्लामी, कश्मीर का कश्मीरी मुस्लिम मानस पर गहरा असर है तो विस्थापित पंडितों के बड़े हिस्से के मानस को उभरते हुए हिंदुत्ववादी दक्षिणपंथ ने एक ताक़त का एहसास कराया है और उन्होंने व्यापक हिंदू पहचान के भीतर अपनी स्थानीय कश्मीरी पहचान को लगभग पूरी तरह तिरोहित कर दिया है। अभी हाल में सरकार ने जम्मू और कश्मीर में पचास हज़ार मंदिरों के पुनरुद्धार की घोषणा की है। इस बारे में सवाल पूछने पर घाटी में रह रहे कुमार वांचू हंसते हैं : 'घाटी में किसी भी समय मंदिरों की संख्या हद से हद डेढ़ सौ रही है। इतने मंदिरों की ज़रूरत क्या है? इनमें पूजा कौन करेगा?' लेकिन संजय टिक्कू इसे महज़ प्रोपेगेंडा नहीं मानते। वे बताते हैं, 'आरएसएस बहुत पहले से इसकी योजना बना रहा था। यह योजना घाटी में लगभग बीस हज़ार मंदिरों में बाहरी पुजारियों के सहारे यहां एक लाख बाहरी ब्राह्मणों को बसाना है; लेकिन यह काग़ज़ पर जितना आसान लगता है, उतना है नहीं। मंदिर दूर-दराज़ के इलाक़ों में होंगे या गांवों में और ऐसे में माहौल ख़राब होता है तो वे सबसे आसान निशाना बनेंगे। नतीजा केवल कश्मीर को नहीं पूरे देश को भुगतना पड़ेगा। कश्मीरी पंडित संघर्ष मंदिर समिति ने घाटी में मंदिरों का सर्वे किया था और पाया कि वहां कुल 184 मंदिर हैं।' यहां संजय श्रीनगर के कुछ मंदिरों में दूसरे प्रदेशों से आये पुजारियों द्वारा राजस्व विभाग के साथ सांठ-गांठ कर मंदिर की संपत्तियां बेचने का भी ज़िक्र करते हैं। इसे लेकर उन्होंने लंबा अभियान चलाया था और मंदिरों की देखरेख तथा प्रबंधन की ज़िम्मेदारी स्थानीय पंडितों को देने की मांग की थी। लेकिन यहां एक और पेंच है : जम्मू और कश्मीर के अधिकतर मंदिर धर्मार्थ ट्रस्ट के अधीन हैं और इस पर नियंत्रण है डोगरा वंश के राजकुमार कर्ण सिंह का! कर्ण सिंह यह क़ब्ज़ा छोड़ने को तैयार नहीं।

जम्मू और लद्दाख की ख़ुशी के मानी और भविष्य की धुंधली तस्वीर

शुरुआती ख़बरों में जम्मू और लद्दाख में ख़ुशी मनाते लोगों को देखकर यह लगना स्वाभाविक था कि इस अनुच्छेद के हटने से केवल घाटी के लोग दुखी हैं। असल में लद्दाख तो काफ़ी समय से लगातार अपनी उपेक्षा की शिकायत कर भी रहा था। केंद्र शासित प्रदेश बनने से वहां यह भाव आना स्वाभाविक था कि अब विकास बेहतर तरीक़े से हो सकेगा। देखें तो बलराज पुरी जैसे अनेक लोग लगातार राज्य

को तीन स्वायत्त हिस्सों में बांटने की मांग कर रहे थे। इसकी जड़ भी इतिहास में ही है। 1846 में जब सिख साम्राज्य को धोखा देकर गुलाब सिंह डोगरा ने 75 लाख रुपयों के बदले जम्मू, कश्मीर घाटी, लद्दाख, गिलगिट, बाल्टिस्तान और पुंछ का इलाक़ा हासिल किया था तो इतिहास में पहली बार ये सभी राज्य एक राजनीतिक सत्ता के हिस्सा बने थे। 1950 में कश्मीर विवाद के हल के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा नियुक्त किये गये मध्यस्थ ओवन निक्सन ने राज्य की संरचना पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, 'जम्मू और कश्मीर राज्य वास्तव में न तो भौगोलिक रूप से, न ही जनसंख्या की दृष्टि से, न ही आर्थिक रूप से एक इकाई है। यह एक महाराजा की राजनीतिक आधिपत्य में आये भूभागों का एक जमावड़ा है। यही बस एकता है इसमें।' अब तक घाटी इन सबमें सबसे प्रभावी राज्य रहा था जो मज़बूत होने पर लद्दाख, गिलगिट, बाल्टिस्तान और पुंछ इलाक़ों पर वर्चस्व स्थापित कर लेता था। जम्मू इतिहास में लंबे समय तक स्वतंत्र राज्य रहा लेकिन इसके शासक घाटी के शासक से कमतर स्थिति पर रहे और नज़राना देते रहे, जबकि घाटी के शासन के कमज़ोर होने पर बाक़ी इलाक़े आज़ाद हो जाया करते थे। यह बताना समीचीन होगा कि इन सभी इलाक़ों की भाषा-बोली-पहनावा-संस्कृति सब अलग है। जम्मू में डोगरी बोली जाती है, घाटी में कश्मीरी, पुंछ में पुंछी भाषा है तो लद्दाख में लद्दाखी। गूजर गोजरी बोलते हैं और गिलगिट-बाल्टिस्तान-हुंजा-नागर जैसे क़बीलों की अपनी भाषाएं हैं।

डोगरा शासन के बाद जब जम्मू सबसे प्रभावी होकर उभरा तो ज़ाहिर तौर पर एक असंतोष पनपा बाक़ी इलाक़ों में। गिलगिट-बाल्टिस्तान जैसे दुर्गम इलाक़ों पर क़ब्ज़ा बनाये रखने के लिए हथियारों और रसद भेजने का काम घाटी के ग़रीब मुसलमानों द्वारा बेगार से कराया गया, टैक्स की दरें बढ़ा दी गयीं, ऊंची नौकरियों पर डोगरों और पंजाबियों का कब्ज़ा हुआ तो निचली नौकरी पंडितों के ख़ाते में गयी और गोहत्या विरोधी क़ानून बनाकर इसे हिंदू राज्य बताने की कोशिश की गयी जबकि मुसलमानों की कुल आबादी 76 प्रतिशत के आसपास थी और घाटी में देखें तो लगभग 95 फ़ीसद। उस लंबे इतिहास में जाना तो इस लेख में संभव न होगा जिसने डोगरा राज्य के तहत दोनों धर्मों और विभिन्न इलाक़ों के बीच वे अंतर्विरोध पैदा किये जिसका असर आज भी दीखता है; लेकिन यह याद कर लेना ज़रूरी है कि जब शेख़ अब्दुल्ला जम्मू और कश्मीर की गद्दी पर बैठे तो जम्मू के, ख़ासतौर पर महाराजा के सजातीय डोगरों के लिए यह वर्चस्व का पलटना था, जिसकी आहटें उस प्रजा सभा की तत्कालीन गतिविधियों में सुनी जा सकती हैं जो बाद में जनसंघ और फिर भाजपा का हिस्सा बनीं। यही नहीं, जम्मू से लगभग चार लाख मुसलमानों को भगाकर (जिनमें से एक लाख मारे गये) उसे मुस्लिम बहुल से हिंदू बहुल क्षेत्र में बदलने की गतिविधि इसी प्रतिक्रिया और भविष्य सुरक्षित करने की कोशिश का हिस्सा थी। इन सब में लद्दाख अपनी दूरस्थता के कारण लगातार पिछड़ता रहा तो घाटी के नेतृत्व के कारण जम्मू से लगातार उपेक्षा के आरोप सामने आते रहे।

इसलिए विधानसभाओं के डिलिमिटेशन के फ़ैसले से जम्मू में अपने वर्चस्व की उम्मीद जगी तो स्वतंत्र केंद्र शासित प्रदेश बनने से लद्दाख में अपने विकास की। लेकिन शुरुआती उत्साह के बाद शंकाएं उभरने लगी हैं। लद्दाख को 35 ए के तहत मिली सुरक्षाएं खो जाने पर वहां की ज़मीनों और प्राकृतिक संसाधनों पर पूंजीपतियों और बाहरी लोगों के क़ब्ज़े की चिंता सताने लगी है। हाल ही में वहां के जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता सोनम द्राबू ने एक वीडियो जारी करके जल्दी से जल्दी आदिवासी क्षेत्र की मान्यता देने की मांग की है। इस मांग को लेकर कई प्रदर्शन और प्रेस कांफ्रेंस भी हो चुके हैं। वहीं लद्दाख से साथ जोड़े गये कारगिल क्षेत्र में कई लंबे जुलूस निकल चुके हैं। उनकी चिंता प्रतिनिधित्व ख़त्म हो जाने की है। जम्मू में हाल में ही सिख समुदाय ने नयी भाषा नीति के लिए गठित समिति में गोजरी, पंजाबी

और उर्दू के विशेषज्ञ शामिल न किये जाने को लेकर विरोध दर्ज किया है तो कई ऐसी मांगें भी सामने आ रही हैं जिनमें 35 ए जैसा संरक्षण दिये जाने की मांग है। आख़िर ज़मीनों, संसाधनों और नौकरियों के सबके लिए खुल जाने के स्पष्ट ख़तरे उनके सामने भी हैं। इसके अलावा इंटरनेट बंदी को लेकर वहां के छात्रों में भी भारी असंतोष है।

ऐसे में आने वाला समय भ्रमों के टूटने और नये अंतर्विरोधों के उभरने का होगा। सौ से अधिक दिन बीत जाने के बाद भी घाटी से प्रतिबंध न हटाये जाने से स्पष्ट है कि बलप्रयोग के अलावा नये हालात से निपटने या लोगों को भरोसे में लेने की कोई दीर्घकालीन नीति नहीं बनायी गयी थी। बाक़ी देश में 370 को एक नयी आज़ादी की तरह पेश कर एक भावुक उत्तेजना तो पैदा कर दी गयी है, लेकिन इसके चलते जम्मू, कश्मीर और लद्दाख में पैदा हुए हालात सूचना नियंत्रण से छिपाने के या फिर यूरोपीय यूनियन के कुछ सांसदों के पर्यटन जैसे हास्यास्पद क़दमों के अलावा अभी कुछ भी ऐसा सामने नहीं आया है जिससे भविष्य की किसी नीति का अंदाज़ा लगाया जा सके। ऐसे में जिस तरह का गुस्सा और असंतोष वहां पल रहा है और वह जिस अनिष्ट की ओर इशारा करता है, उसका असर पूरे देश पर पड़ेगा। जैसा कि संजय टिक्कू कहते हैं : 'नब्बे में जो कुछ हुआ, वह केवल कश्मीर में हुआ; लेकिन अब अगर यहां कुछ हुआ तो उसका असर पूरे देश पर होगा। इस बार कश्मीर जला तो पूरा देश जलेगा।'

अशोक कुमार पांडेय चर्चित पुस्तक, *कश्मीरनामा : इतिहास और समकाल* के लेखक हैं और उनकी अगली किताब, *कश्मीर और कश्मीरी पंडित* प्रेस में है। संपर्क : 8375072473

स्त्रीविरोधी वातावरण के निर्माण में भाजपा सरकार की भूमिका

किरन सिंह

एक शब्द के दो अर्थ होते हैं : पहला, जो भाषा वैज्ञानिकों या वैयाकरणों ने शब्दकोश में लिखा है; दूसरा, जो अर्थ समाज गढ़ता है, प्रचारित करता है, प्रयोग में लाता है। भाषा के इस्तेमाल और शब्दों से ध्वनित होने वाले अर्थ के माध्यम से हम उस समाज की मानसिकता को आसानी से पढ़ सकते हैं। इस तरह लिंग के साथ जुड़ने पर शब्द, एक समाजशास्त्रीय अर्थ पहन लेते हैं। उदाहरण के लिए, एक शब्द लेते हैं, 'चरित्र।' पुलिंग के लिए इस्तेमाल होने पर इसका अर्थ होगा, ज़िम्मेदार व्यक्तित्व, प्रेमी स्वभाव इत्यादि। स्त्री के लिए प्रयुक्त होने पर, इसका सिर्फ़ एक अर्थ होगा - स्त्री की योनि-शुचिता यानी कई मर्दों से संबंध रखने वाली है या पति के प्रति एकनिष्ठ है। स्त्री के लिए प्रयुक्त होने पर 'चरित्र' अपना अर्थ बदल कर व्यक्तित्व से योनि तक सीमित हो जाता है। जिस अर्थ तक हमें सीमित किया जाता है, ज़रूरी है कि सबसे पहले हम स्वयं को उस अर्थ से मुक्त करें; क्योंकि समाज के दिये हुए अर्थ हमारी स्वयं की मानसिकता को भी जकड़ लेते हैं और उसी पर हम स्वयं को कसने लगते हैं। यही कारण है कि बलात्कार के बाद लड़कियों की ज़िंदगी बच भी जाये तो वे खुद चूहा मारने वाली दवा रोडेन्टीसाइड, कीटनाशक एल्युमिनियम फ़ास्फ़ाइड या मच्छर मारने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली डीडीटी पीकर जान दे देती हैं।

फ्रेडरिक एंगेल्स अपनी प्रसिद्ध किताब, *परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति* में बताते हैं कि स्त्री शरीर को घर में क़ैद रखने और यौन-शुचिता का मसला, एक आर्थिक मसला है। इसकी शुरुआत इस तरह हुई कि पुरुष द्वारा अर्जित संपत्ति उसी के पुत्र को जाये इसलिए स्त्री शरीर को घर में क़ैद रखना ज़रूरी हो गया। भूमि के साथ स्त्री भी व्यक्तिगत संपत्ति बनती गयी। यह फ़ासीवादी समय उसी अतीत में हमें ले जाना चाहता है जिसकी तर्ज़ है- 'वीरभोग्या वसुंधरा।' धरती और स्त्री, वीरों के भोग के लिए ही बनी हैं। मोदी सरकार, मुस्लिमविरोधी, स्त्रीविरोधी और दलितविरोधी मानसिकता को तुष्ट करके और उसे उभार कर ही विजयी हुई है। इसी तरह के भाषण देकर 'तथाकथित माननीय' आदित्यनाथ मुख्यमंत्री बने हैं कि 'वे' हमारी एक लड़की ले जाते हैं तो उनकी सौ लड़कियां ले आओ।' मॉब लिंचिंग की नींव ही भारतीय संस्कृति की रक्षा के नाम पर वेलेंटाइन डे के दिन गुंडे बजरंगियों द्वारा लड़के-लड़की को उट्ठक-बैठक लगवाने और उन्हें दौड़ा कर, बाल खींच कर मारने-पीटने से हुई। 'लव जेहाद' और 'वैलेंटाइन डे' का विरोध मूल रूप से स्त्री के प्रेम करने, घूमने-फिरने, लड़कों से बात करने और अपनी पसंद के अनुसार चुनाव करने की स्वतंत्रता का निषेध करना था। उन्हें सार्वजनिक रूप से सबक़ सिखाना था। भाजपा का एजेंडा हमेशा से यही रहा है कि ऐसी युक्ति निकाली जाये जो स्पष्ट रूप से मुस्लिम

विरोधी और प्रछन्न रूप से स्त्री विरोधी हो। यही 'कन्या रक्षक' नौनिहाल आगे चलकर 'गो रक्षक' बने। लड़कियों को यही सबक़ सिखाना, बलात्कार में बदल गया; जिसके लिए वे स्वयं वातावरण बना रहे हैं उन बलात्कारियों को उनके नेता, उनकी जानकारी में, जन्मदिन का मुबारकबाद देकर उन्हें और लंबी उम्र, किस काम के लिए अपने भगवान से दिलवाना चाहते हैं?

स्त्रीविरोधी वातावरण के निर्माण में दूसरी अहम भूमिका बीजेपी के आईटी सेल की है। स्वाति चतुर्वेदी की किताब, *आइ एम ए ट्रोल* में विस्तार से बताया गया है कि भाजपा का आईटी सेल अपने विरोधी का मनोबल तोड़ने के लिए उन्हें मां-बहन-बेटी के जननांगों से जुड़ी गंदी से गंदी, वीभत्स और डरावनी क़िस्म की गालियां देता है। वहां विरोधियों की बेटियां उठवा ले जाने, उनके साथ बलात्कार करने की धमकी खुलेआम दी जाती है। फ़िल्मकार अनुराग कश्यप की बेटी को बलात्कार और उनके माता-पिता की हत्या कर दिये जाने की धमकियां जब लगातार और मां-बाप, बेटी को फ़ोन करके दी जाने लगीं तब अनुराग कश्यप ने ट्विटर अकाउंट यह कहते हुए छोड़ दिया, 'नया भारत आपको मुबारक हो !' इन लोकप्रिय कलाकारों का ट्विटर या फ़ेसबुक अकाउंट बहुत सारे लोग पढ़ते हैं। इन्हें अपना अकाउंट बंद करने को मजबूर करके मौजूदा केंद्र सरकार भीड़ को सहयोग करने का संदेश देती है, बलात्कार की धमकी के बावजूद कोई कार्रवाई न करके यह संकेत देती है बेटियों से बलात्कार की धमकी, उनकी नज़र में किसी तरह के अपराध की श्रेणी में नहीं आता है। यह संदेश समाज में अपना काम करता है। यह संदेश भीड़ के रुझान को दिशा देता है। इन धमकी देने वालों में से कई को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी स्वयं फ़ालो करते हैं। ये आईटी सेल के वेतनयाफ़्ता साइबर अपराधी प्रधानमंत्री या बीजेपी के अन्य मंत्रियों के साथ अपनी तस्वीरें गर्व से साझा करते हैं। प्रधानमंत्री कार्यालय इस तरह की टुच्चई पर उतरा है कि शर्मआती है और इसके परिणाम पर दुख होता है।

निवेदिता मेनन अपने भाषण में बताती हैं कि नयी शिक्षा नीति, जिसका मसौदा विश्वविद्यालयों में पहुंच चुका है, चौथी औद्योगिक क्रांति के मद्देनज़र बनायी गयी है; जिसमें नौकरी के विकल्प ए, विकल्प बी अथवा विकल्प सी के लिए भी विद्यार्थियों को तैयार किया जायेगा। शिक्षण संस्थानों में विद्यार्थियों को विकल्प ए, बी, सी के लिए यह तैयारी अध्यापक या अध्यापिकाएं करायेंगी। इसके लिए शिक्षकों के नाम और आवेदन मांगे जाने लगे हैं। इन विकल्पों की तैयारी के साथ निकले विद्यार्थी एक अनिश्चित भविष्य के साथ निकलेंगे। वे दिमाग़ में इस सवाल के साथ निकलेंगे कि जिस विषय की रुचि और दक्षता के साथ उन्होंने पढ़ाई की है, उसी विषय से जुड़े क्षेत्र में उसे रोज़गार भी मिलेगा? इस तरह औद्योगिक इकाइयों और प्राइवेट कंपनियों को उन्हें असुरक्षित रखने, स्टेपनी की तरह इस्तेमाल करने, अमानवीय तरीक़े से प्रतिभाओं को शिफ़्ट करने में सुविधा रहेगी। जेएनयू में 55 प्रतिशत लडकियां पढ़ती हैं। दलित, आदिवासी, पिछड़ा वर्ग और दूरदराज के इलाक़ों के प्रतिभागियों को प्रवेश के समय आरक्षण मिलता है। भारतीय समाज में वैसे ही लड़कियों की शिक्षा पर लड़कों की तुलना में कम ख़र्च किया जाता है। जिस शिक्षण संस्थान में 55 प्रतिशत लड़कियां पढ़ती हों, आधुनिक और विचारवान बनती हों, वहां की फ़ीस बढ़ाने से किस तबक़े का सबसे अधिक नुक़सान होगा, यह समझा जा सकता है। यह प्रचारित करके कि वहां कंडोम पाए जाते हैं, वहां की लड़कियां सेक्स रैकेट में. शमिल रहती हैं, लड़कियों की यौन-शुचिता को विवाह करने के लिए पहली शर्त रखने वाले भारतीय समाज में, अभिभावाकों को हिंदुत्ववादी यह समझा रहे हैं कि अपनी लड़कियों को जेएनयू पढ़ने मत भेजो। जेएनयू को रोकना 55 प्रतिशत लड़कियों को विचारवान बनने से रोकने की तरह है।

आर एस एस की रहनुमाई में यह सरकार, अपने एजेंडे के तहत स्त्री को घरों में वापस भेजने की मंशा से काम कर रही है जिससे शास्त्रों में वर्णित भारत के निर्माण का स्वप्न पूरा हो सके! वह शास्त्रसम्मत भारत जहां के धर्मग्रंथ, स्त्रियों के साथ व्यभिचार और यौन शोषण की कथाओं से भरे पड़े हैं, जहां नामी ऋषि-मुनि बच्चियों को बलात्कार की धमकी देते हैं :

देशस्य रमणीयत्वात् पुलस्त्य यत्र स द्विजः।
गायन्तो वादयन्तश्च लासयन्त्यस्तथैव च।
मुनेस्तपस्विनस्तस्य विघ्नं चक्रुरनिन्दितः।
अथ रुष्टो महातेजा व्याजहार महामुनिः।
या मे दर्शनमागच्छेत् सा गर्भं धारयिश्यति।।

—*वाल्मीकि रामायण*, पृ. 667, श्लोक संख्या 11-12 (गीताप्रेस संस्करण)

(जहां ब्रह्मर्षि पुलस्त्स्य रहते थे, वह स्थान तो और भी रमणीय था। इसलिए, सती-साध्वी कन्याएं प्रतिदिन वहां आकर गाती, बजाती तथा नाचती थीं। इस प्रकार उन तपस्वी मुनि के तप में विघ्न डाला करती थीं। इससे वे महा तेजस्वी महामुनि पुलस्त्य कुछ रुष्ट हो गये और बोले- 'कल से जो लड़की यहां मेरे दृष्टिपथ में आयेगी, वह निश्चय ही गर्भ धारण कर लेगी।')

एसोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ार्म्स (एडीआर) ने दिनांक 11 दिसंबर 2019 को जारी किये अपने अध्ययन में यह तथ्य रखा है कि भाजपा में महिलाओं के विरुद्ध अपराध से घिरे सर्वाधिक 21 सांसद हैं। एडीआर और नेशनल इलेक्शन वॉच ने बताया कि पिछले चुनाव की तुलना में, महिलाओं के ख़िलाफ़ अपराध के मामलों वाले लोकसभा चुनाव उम्मीदवारों की संख्या 38 से बढ़ कर 126 हो गयी है यानी ऐसे उम्मीदवार 231 फ़ीसद बढ़ गये हैं। स्त्रियों और बच्चों के अपराधी तमाम बाबाओं की भाजपा के नेताओं के साथ की तस्वीरें हैं। राम-रहीम, आसाराम, चिन्मयानंद, नित्यानंद और जाने कितने राम और नंद नंदन। हमारे यूपी में तो दशा इतनी चिंताजनक है कि चिन्मयानंद के विरुद्ध मामला दायर करने वाली लड़की को ही गुनहगार बना कर जेल भेज दिया गया। बलात्कार करते हुए और अब तो जलते हुए अंगों के साथ भागती हुई लड़की का वीडियो बनाया जाता है, कई-कई बार देखने के लिए। इस तरह के अपराधी यह मान कर चलते हैं कि वे अपने बनाये वीडियो देखने के लिए बड़े आराम से अपने घरों में रहने वाले हैं। उनके मोबाइल छीन कर उन्हें जल्द से जल्द जेल में पहुंचा दिया जायेगा, इस बात पर अपराधियों का यक़ीन नहीं है। उन्हें इस बात पर यक़ीन ज़रूर है कि उनके अपलोड किये गये वीडियो देखने के लिए दो मिनट में ही कई लाख हाथ सर्च करने लगेंगे। बलात्कार के वीडियो खोजने की यह गिनती कंम्प्ययूटर की बतायी हुई है।

फ़ासीवाद, संस्कृति के कंधे पर चढ़ कर और कट्टरपंथ, धर्म की किताबें हाथ में लिये आता है। भाजपा, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद लाने से आगे की राह पर है। वास्तव में वह तानाशाही धार्मिक राष्ट्र बनाने के मार्ग पर चल रही है। इस कर्मकांडी और तांत्रिक भारत के तिलक के लिए, उसकी ज़मीन को उर्वर बनाने के लिए जो भस्म छिड़का जायेगा, वह स्त्रियों की जली हुई लाशों से लिया जायेगा। देश के अख़बारों में, हैदराबाद कांड से पहले की बलात्कार की रिर्पोटिग और हैडिंग देख कर बड़ी आसानी से औरतें समझ जाती हैं कि ये बलात्कार की ख़बरें मर्दों को मज़ा देने के लिए लगायी गयी हैं। स्त्री-शोषण पर समाचार माध्यम अपने जो शीर्षक लगाते हैं, उसे ग़ौर से पढ़ें तो उनकी स्त्री-शोषण की ख़बर को बेचने वाली और विकृत मानसिकता का आभास मिल जायेगा। देवताओं और मुनियों की व्याभिचार कथाओं से भरे हिंदू

धर्म की किताबों पर आधारित हिंदुत्ववादी भारत में स्त्री के लिए क्या जगह है? यही कि उसका शरीर, 'सेक्सुअली एडवेंचरस एंड थ्रिलर ट्रिप' की क्रूर मानसिकता वालों का चारागाह बने।

मेरे दिमाग़ में कभी-कभी इस तरह की कल्पना घूमती है कि कोई मुझे घेर लेगा तो मैं क्या करूंगी? मैं यही सोचती हूं कि उसके विरोध का थोड़ा बहुत नाटक करूंगी (क्योंकि वे चाहते हैं कि ऐसा हो। विरोध करने, रोने-गिड़गिड़ाने से बलात्कारी की उत्तेजना बढ़ती है। सामान्य बलात्कार करना होता तो घर की, रिश्तेदारी की लड़कियां तो हैं ही।) जब उसे मेरे डरने का विश्वास हो जाये और वह मेरी ओर पैंट खोल कर बढ़े तो उसका शिश्न काट लूं। लहराते हुए बाहर निकलूं और अस्पताल में फ़ोन करूं। (थाने में नहीं। देवरिया में एफ़आईआर दर्ज कराने पहुंची पकी उम्र की स्त्री से थानेदार ने कहा, 'जा भाग! तेरे साथ कौन बलात्कार करेगा।' और युवा लड़कियों के मां-बाप से थानेदार कहते हैं, 'दो-चार दिन में लौट आयेगी। यार के साथ भाग गयी होगी।') लेकिन तुरंत उसी के आगे मैं यह भी सोचती हूं अगर कई बलात्कारी एक साथ हुए तो? तो मैं उनका सामना कैसे करूंगी? एक भारतीय स्त्री/लड़की के चिंतन में यह आ चुका है कि वह दिन में कई-कई बार सोचे और इसके लिए अपने को तैयार करे कि कभी भी उसे चार लोग घेर लेंगे, तब वह अपने बचने के लिए क्या-क्या करेगी? पल-पल के डर ने हमें अपने पुरुष साथियों के प्रति शंकालु बना दिया है। हम उनकी बातों में मर्दवाद ढूढ़ती रहती हैं (जो अक्सर होता भी है।) पुलिस-राज्य-समाज, अपनी जवाबदेही तय करने की बजाय लड़की/स्त्री को नसीहतें देता है, उसे खुद की सुरक्षा कैसे करें, इसी के उपाय बताता रहता है। जिस समाज में स्त्री की आधी आबादी, स्वयं को और समाज को आगे बढ़ाने के लिए चिंतन करने की बजाय, अपने को बचाने के उपाय सोचने में ही अपनी क़ीमती ऊर्जा ख़र्च करती रहेगी, उस समाज का क्या भविष्य और क्या वर्तमान होगा!

जनाब लफ़्फ़ाज़ अपनी पत्नी का नाम भी नहीं लेते और माता जी के चरणों में झुकी तस्वीरों का प्रचार करने के लिए फ़ोटोग्राफ़र लेकर पहुंचते हैं। इस प्रचार के पीछे वही पितृसत्ता पर आधारित हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद है जिसमें स्त्री का अस्तित्व सिर्फ़ एक माता के रूप में स्वीकार्य है। मर्द की वासना बुझाते हुए वह हरदम गर्भवती रहे और इनके हिंदू राष्ट्र को बनाने के लिए बेटे जन्माये। वनवास मिलने के पश्चात राम, सीता को अपने साथ वन में चलने के लिए मना करते हैं और सीता से भरत के अनुकूल हो कर महल में रहने के लिए कहते हैं। इस पर सीता राम को फटकारते हुए जवाब देती हैं कि यदि मेरे पिता जानते कि आप ऐसे ही कापुरुष हैं तो मेरा विवाह आपके साथ न करते। सीता आगे कहती हैं, *वाल्मीकि रामायण,* अयोध्या कांड, खंड-एक (गीता प्रेस संस्करण) के पृष्ठ 318 पर सीता का यह रूप देखें :

> स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्ययुषितां सतीम्।
> शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ।। 8
>
> ('श्रीराम! जिसका कुमारावस्था में ही आपके साथ विवाह हुआ है जो चिरकाल तक आपके साथ रह चुकी है उसी मुझ सती साध्वी पत्नी को आप औरत की कमाई खाने वाले नट की भांति दूसरे के हाथ में सौंपना चाहते हैं?)

जिस रामराज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा है वहां सीताएं अपने मुंह में ज़बान नहीं रखती हैं। वे सिर झुकाये हर अन्याय को प्रभु इच्छा मान कर स्वीकार किये खड़ी रहती हैं जैसाकि, *वाल्मीकि रामायण* की सीता के चरित्र को, मनमाने तरीक़े से तुलसी ने अपने *रामचरित मानस* में बदल दिया।

2016 में पत्रकार नेहा दीक्षित की एक खोजी रिपोर्ट, 'ऑपरेान बेबी लिफ़्ट' नाम से *आउटलुक* पत्रिका में प्रकाशित हुई। हिंदी में जिसे 'ऑपरेशन बेटी उठाओ' नाम दिया गया। 11350 शब्दों की उस रिपोर्ट में, ज़िम्मेदार और गंभीर पत्रकार नेहा दीक्षित, तस्वीरों और साक्षात्कार के ज़रिये यह तथ्य सामने लायी हैं कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़े लोग (बाल अधिकार और मानवाधिकारों का हनन करते हुए) 31 आदिवासी लड़कियों को आसाम से, गुजरात और पंजाब ले गये हैं। उन बच्चियों का हिंदूकरण किया जा रहा है। मां-बाप को बताया गया है कि बच्चियों को सरस्वती शिशुमंदिरों में शिक्षा दी जा रही है। सरस्वती शिशु मंदिर, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की नर्सरी हैं। आदिवासी क्षेत्रों में सक्रिय आरएसएस के कार्यकर्ता के माध्यम से यह काम हुआ जिसके लिए उसे पैसे दिये गये। अधा हंसदा और मंगल ने नेहा दीक्षित को बताया कि उनकी बेटियां श्रीमुक्ति और रानी, गुजरात के किसी स्कूल में हैं। उन बच्चियों के माता-पिता को बताया गया है कि अगले चार साल तक वे अपने घर नहीं लौट सकती हैं। 'यह कौन सा स्कूल है जहां लड़कियां अपने मां-बाप से नहीं मिल सकती हैं?' अपनी बेटियों को भेजने वाले आदिवासी पिता मंगल, नेहा दीक्षित से पूछते हैं। फूलमनी बताती हैं कि वे उम्मीद लगाये हैं कि उनकी बेटियां एक दिन वापस आ जायेंगी। आसाम बाल अधिकार कमीशन ने इसे 'चाइल्ड ट्रैफ़िकिंग' कहते हुए एडीजीपी सीआईडी, आसाम को पत्र लिखा और आवश्यक कार्यवाही करते हुए उन बच्चियों को वापस लाने की मांग की। यह पत्र आगे बाल अधिकारों के लिए काम करनेवाली नेशनल कमेटी को अग्रसारित किया गया लेकिन नेशनल कमेटी ने इस संबंध में आगे कोई एक्शन नहीं लिया। नेहा दीक्षित टिप्पणी करती हैं : 'क्योंकि बाल अधिकारों के लिए काम करने वाली नेशनल कमेटी केंद्र की बीजेपी सरकार के अधीन काम करती है।' इस रिपोर्ट के बाद नेहा दीक्षित पर संघी हमलावर हो गये थे। 'सेवा भारती' और 'राष्ट्र सेविका समिति', बच्चियों को ले जाने के लिए इन दो संस्थाओं का नाम सामने आया है। बच्चियों के पिता का कहना है है कि यह किस तरह की पढ़ाई के लिए ले गये हैं कि मां-बाप अपनी बच्चियों से मिलने के लिए मर रहे हैं और उनके उन्हें अपने बच्चों से मिलने नहीं दिया जा रहा है।

दीपा मेहता की 'नेटफ़्लिक्स' पर हाल ही में जारी की गयी नयी वेब सीरीज़, *लैला* में इसी से मिलती-जुलती कहानी को फ़िल्माया गया है, जो 2017 में प्रयाग अकबर के इसी नाम के उपन्यास पर आधारित है। इसमें भी यही दिखाया गया है कि स्त्रियों और ख़ास तौर पर बच्चियों के दिमाग़ को कैसे अंधराष्ट्रवाद के लिए तैयार किया जा रहा है।

लड़कियों को लक्षित करके केंद्र की भाजपा सरकार और इसकी सहयोगी/अनुषंगी संस्थाएं गुप्त मिशन पर हैं, जिसके भयानक परिणाम हर रोज़ वीभत्स तरीक़े से होने वाली हत्याओं में दिखायी देने लगा है। हम आने वाले अंधेरे युग के मुहाने पर हैं।

ऐसे में हम क्या करें? हम लिखें, बोलें और सड़क पर सामूहिक रूप से उतरें; जो हम लगातार कर रहे हैं। भले हमारा मन चिड़चिड़ाया हुआ है पर हम अपने को एकत्र कर रहे हैं। जेएनयू आदर्श भारत का छोटा मॉडल है। वहां से हम सीखें कि संघर्ष को लेकर और लड़ाकू, और जुझारू कैसे हुआ जाये।

मो. : 9415800397

संघर्षों से जूझता आदिवासी जीवन

कमल नयन चौबे

भारत में आदिवासियों का जीवन विभिन्न त्रासदियों का शिकार रहा है, और हाल के वर्षों में इनकी स्थिति काफ़ी ख़राब हुई है क्योंकि केंद्र सरकार और विभिन्न राज्य सरकारों ने इनके अधिकारों से संवैधानिक प्रावधानों और विभिन्न क़ानूनों की बड़े पैमाने पर अवहेलना की है। इसके कारण आदिवासी समुदायों पर विकास का एक ऐसा मॉडल थोपा गया है जो संसाधनों के दोहन पर आधारित है, और मुख्य रूप से उत्पादन में बढ़ोतरी करने और निजी कंपनियों को मुनाफ़ा पहुंचाने को प्राथमिकता देता है। इस मॉडल में आदिवासियों के संस्कृति, परंपरा, जीवन पद्धति और परिवेश से जुड़े मूल हितों का उल्लंघन किया गया है। इसके कारण, आदिवासियों को कई स्थानों पर विस्थापन का सामना करना पड़ा है, और जहां उनका विस्थापन नहीं हुआ है, वहां भी उनका परिवेश, उनके आसपास का पर्यावरण संसाधनों के लगातार दोहन के कारण प्रदूषण का शिकार हो गया है। ऐसे में, कुछ बुनियादी प्रश्न सामने आते हैं : क्या मौजूदा समय में आदिवासी अपने लिए बने विशेष संवैधानिक प्रावधानों का लाभ उठा पा रहे हैं, विशेष रूप से नरेंद्र मोदी की सरकार बनने के बाद इस दिशा में किस प्रकार का परिवर्तन आया है? क्या आदिवासियों ने राज्य द्वारा प्रस्तावित 'विकास' के मॉडल के स्वीकार कर लिया है, यदि नहीं तो हाल के वर्षों में उनके प्रतिरोध किन रूपों में सामने आये हैं?उनके प्रतिरोधों के संदर्भ में सरकार ने किस प्रकार की नीति अख़्तियार की है?

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए कई महत्त्वपूर्ण प्रावधान किये गये हैं। संविधान में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी को मान्यता दी गयी है और इस श्रेणी में सम्मिलित आदिवासी समूहों के लिए विशेष प्रावधान किये गये हैं। मसलन, उनके लिए लोकसभा में सीटों को आरक्षित किया गया है। विभिन्न राज्यों की जनसंख्या में उनकी हिस्सेदारी के अनुरूप विधानसभाओं में उनके लिए सीटों को आरक्षित किया गया है। सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं में भी आदिवासियों की जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण का प्रावधान किया गया है। संविधान में उत्तर-पूर्व के राज्यों के आदिवासी बहुल क्षेत्रों को छठी अनुसूची में सम्मिलित कर उनके लिए विशेष प्रावधान किये गये हैं। इसके अलावा, देश के अन्य आदिवासी बहुल क्षेत्रों को पांचवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। छठी अनुसूची में सम्मिलित क्षेत्रों के लिए स्वायत्त ज़िला परिषदों की व्यवस्था की गयी है। वहीं, पांचवी अनुसूची के क्षेत्रों के लिए स्वायत्तता जीवनशैली को सुनिश्चित करने संबंधी प्रावधान किये गये हैं। मसलन, जिन राज्यों के क्षेत्रों को पांचवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है, वहां के राज्यपालों को यह अधिकार है कि वे उस राज्य की विधानसभा या देश के संसद द्वारा पारित किसी भी क़ानून को इन क्षेत्रों में लागू होने से इस आधार पर मना कर दें कि इससे यहां के लोगों के जीवन और उनकी परंपराओं पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

आज़ादी के बाद के दौर से ही आदिवासी क्षेत्रों, विशेष रूप से पांचवीं अनुसूची के क्षेत्रों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों का उल्लंघन किया गया। पांचवीं अनुसूची के प्रावधान जहां आदिवासियों के स्वायत्त जीवन की परिकल्पना पर आधारित हैं, वहीं, वास्तविक व्यवहार में इन्हें लागू नहीं किया गया। इसका बुनियादी कारण यह रहा है कि इन प्रावधानों और 'राष्ट्रीय विकास' के लक्ष्य में टकराव रहा है। राष्ट्रीय विकास का लक्ष्य हांसिल करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना आवश्यक था, और इसके लिए यह अनिवार्य था कि उन संवैधानिक प्रावधानों की अवहेलना की जाये, जो आदिवासियों को उनकी जल, जंगल और ज़मीन के अधिकार से वंचित करते हैं। इसीलिए हमें पांचवीं अनुसूची के प्रावधानों को गंभीरतापूर्वक लागू करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। आदिवासी क्षेत्रों में काम करने वाले भारत जन आंदोलन के नेता ने इसीलिए इन प्रावधानों को 'वादाख़िलाफ़ी के अटूट इतिहास' की संज्ञा दी थी।

वैसे तो आदिवासी क्षेत्रों, विशेष रूप से वन क्षेत्रों और राष्ट्रीय उद्यानों के लिए कई अलग-अलग तरह के क़ानून हैं जो आदिवासियों के अधिकारों को सीमित करते हैं। लेकिन नब्बे के दशक में और उसके बाद आदिवासी संगठनों ने अपने निरंतर प्रयासों के माध्यम से दो ऐसे क़ानून पारित करवाने में सफलता हासिल की, जो आदिवासी समूहों को उनके वन और वन संसाधनों पर अधिकार प्रदान करते हैं। पहला क़ानून पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम या पेसा है। इसे 1996 में संसद द्वारा पारित किया गया था। यह पांचवीं अनुसूची के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातियों को अपना स्वायत्त जीवन जीने और संसाधनों के प्रबंधन का अधिकार देता है। दूसरा, क़ानून वन अधिकार अधिनियम है, जिसे संसद द्वारा 2006 में पारित किया गया। इसमें अनुसूचित जनजातियों और अन्य पारंपरिक वन निवासियों को जंगल के उनकी ज़मीन पर निजी संपत्ति का सुनिश्चित अधिकार देने का प्रावधान किया गया है, और साथ ही उन्हें वन संसाधनों के प्रबंधन सहित अन्य सामुदायिक अधिकार भी दिये गये हैं। यहां यह समझ लेना ज़रूरी है कि किस तरह जो आदिवासी समुदाय अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का हिस्सा नहीं हैं, वे बहिष्करण और अन्याय का शिकार होते हैं। पेसा क़ानून सिर्फ़ अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों की बात करता है। वन अधिकार अधिनियम में जो समूह अनुसूचित जनजाति श्रेणी का भाग नहीं हैं, उन्हें वन भूमि पर अपने अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए यह साबित करने की आवश्यकता है कि वे 1-3-2005 से 75 साल (और 3 पीढ़ी) पहले से उसी स्थान पर रह रहे हैं। निश्चित रूप से, ऐसा साबित करना किसी भी समुदाय के लिए कठिन, या तक़रीबन नामुमकिन है।

मोदी सरकार और आदिवासी : वादाख़िलाफ़ी और दमन की कहानी

नरेंद्र मोदी गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में अपनी चुनावी प्रचार के दौरान इस बात पर ज़ोर देते थे कि गुजरात में वन अधिकार क़ानून को सही तरीक़े से लागू किया गया है। प्रधानमंत्री के बनने के बाद भी कई अवसरों पर उन्होंने आदिवासियों के अधिकारों के प्रति अपनी वचनबद्धता जतायी। लेकिन वास्तविक व्यवहार में मोदी सरकार ने आदिवासियों के लिए कोई ठोस काम नहीं किया। केंद्र सरकार के स्तर पर वन अधिकार क़ानून या पेसा को सही तरीक़े से लागू करवाने की पहल करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। ग़ौरतलब है कि अधिकांश राज्यों में वन अधिकार क़ानून के तहत दिये गये सामुदायिक अधिकारों को लागू नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि ये प्रावधान स्थानीय समुदायों को वनों और वन संसाधनों के संरक्षण का अधिकार देते हैं। इनमें यह प्रावधान भी सम्मिलित है कि सरकार ग्राम सभा की अनुमति के बग़ैर वन क्षेत्रों का ग़ैर-वनीय उपयोग के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकती है। निश्चित रूप से, ये अधिकार सरकार की शक्तियों को सीमित करते हैं। इसलिए अधिकांश स्थानों पर इसे लागू करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। इसी तरह, पेसा क़ानून के बेहतर क्रियान्वयन के संदर्भ में भी

कोई पहल नहीं की गयी। इस बात में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि यदि कोई सरकार वन अधिकार क़ानून और पेसा जैसे क़ानूनों को बेहतर तरीक़े से लागू करने की पहल करती है, तो आदिवासी अधिकारों की हिमायती है, और वह इन समुदायों के हांथों में ज़्यादा से ज़्यादा शक्ति देना चाहती है; लेकिन यदि वह सरकार ऐसा नहीं करती है, या इसका उल्टा करती है तो निश्चित रूप से वह आदिवासियों को उनके जल जंगल और ज़मीन के अधिकारों से वंचित रखना चाहती है। मोदी सरकार ने न सिर्फ़ वन अधिकार क़ानून और पेसा के क्रियान्वयन को रोका बल्कि इसने शक्तियों के ज़्यादा केंद्रीकरण और संसाधनों के ज़्यादा से ज़्यादा दोहन पर भी बल दिया।

इस संदर्भ में यह याद रखने की आवश्यकता है कि नव-उदारवादी नीतियों के संदर्भ में भाजपा और कांग्रेस के बीच एक तरह की आमसहमति है। मुख्य अंतर इस बात को लेकर है कि कौन ज़्यादा आक्रामक गति से या तेज़ी से इन नीतियों को लागू करता है। इन नीतियों को तेज़ी से लागू करने का अर्थ है कि पूंजीपतियों और व्यावसायिक घरानों/निगमों के लिए रास्ता ज़्यादा आसान किया जाये, क़ानूनी रुकावटों को दूर किया जाये तथा इन्हें संसाधनों के दोहन और मज़दूरों के रखने-निकालने आदि जैसे मामलों में ज़्यादा से ज़्यादा सहूलियत दी जाये। मोदी सरकार के मंत्रियों ने इस बात को अपनी उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया है कि उनके शासन काल में निजी उद्यमियों को बहुत सारी रुकावटों का सामना नहीं करना पड़ा। अपने 2019 के चुनावी घोषणापत्र में भाजपा ने इसे अपनी एक उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया कि उसने ज़्यादा बड़ी संख्या में उद्यमियों को पर्यावरणीय अनुमति (एनवायरमेंटल क्लीयरेंस) प्रदान की है।

वन अधिकारों के लिए संघर्ष

इस दौर में ज़मीन स्तर पर कई तरह के प्रतिरोध आंदोलन उभर कर सामने आये हैं। बहुत सारे क्षेत्रों में आदिवासी समूह संविधान और संसद द्वारा पारित क़ानूनों के माध्यम से मिले अधिकारों को लागू करवाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। मसलन, वन अधिकार क़ानून के तहत मिले अधिकारों को हासिल करने के लिए कई स्थानों पर आदिवासी समूह अन्य वन निवासी समूह अभी भी लगातार संघर्ष कर रहे हैं। इन समुदायों के लिए यह संघर्ष सिर्फ़ क़ानून के माध्यम से अधिकार पाने का ही संघर्ष नहीं है, बल्कि जंगल और इसके आसपास के क्षेत्रों में अपने अस्तित्व को क़ायम रखने का संघर्ष भी है। इस संदर्भ में राष्ट्रीय उद्यानों या अभयारण्यों के भीतर रहने वाले समुदायों की स्थिति विशेष रूप से कठिन है। अधिकांश मामलों में इनके पास अपनी ज़मीन का पट्टा नहीं होंता है। ज़मीन का पट्टा होने पर भी इन्हें अपने रोज़-ब-रोज़ के जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जंगल में जाना पड़ता है, जहां उनका सामना वन विभाग के कर्मचारियों से होता है। अक्सर इन पर कई तरह का जुर्माना लगा दिया जाता है, और यदि वे प्रतिरोध करने की कोशिश करते हैं तो वन विभाग के कर्मचारी इन पर वन्य जीव (संरक्षण) क़ानून 1972 के तहत 'जानवरों का शिकार करने' आदि के मुक़दमे दायर कर देते हैं। बहुत से राष्ट्रीय उद्यानों में स्थानीय समुदाय अपने अधिकारों के लिए लगातार संघर्ष कर रहे हैं। मिसाल के तौर पर, उत्तर प्रदेश के दुधवा नैशनल पार्क में था : जनजाति के लोगों के संघर्ष को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इन्होंने कई वर्ष पूर्व वन अधिकार क़ानून के तहत सामुदायिक अधिकारों के लिए अपना दावा-पत्र दाख़िल किया था, किंतु अभी तक इनके अधिकारों को मान्यता नहीं दी गयी है। इसलिए इन्हें अपने रोज़-ब-रोज़ के जीवन में विविध प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है।

ऐसे बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहां आदिवासी समुदाय वन संसाधनों पर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं, और सरकार के अधिकारी संविधान और संसद के क़ानूनों द्वारा तय अधिकारों

को सुनिश्तिच रूप से इन्हें देने के बजाय या तो अपने एकाधिकार को स्थापित करने की कोशिश में लगे हैं, या फिर वे निजी उद्यमियों की सहायता कर रहे हैं। मोदी सरकार ने वन निवासियों को क़ानून द्वारा प्रदत्त अधिकारों को उन्हें देने के काम को अपने एजेंडे से बाहर ही कर दिया। इस संदर्भ में दो प्रमुख तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है। पहला, मोदी सरकार ने औपनिवेशिक भारतीय वन अधिनियम 1927 में ऐसे संशोधन करने की पहल की, जिससे वन विभाग की शक्ति ज़्यादा मज़बूत होती और स्थानीय समुदायों के अधिकार कमज़ोर होते। हालांकि स्थानीय स्तर पर बहुत से आदिवासी संगठनों ने इसका विरोध किया। आख़िरकार, झारखंड विधानसभा चुनावों के पहले पर्यावरण, वन और जलवायु परिवर्तन मंत्री प्रकाश जावडेकर ने यह घोषणा की कि सरकार का भारतीय वन अधिनियम में संशोधन करने का कोई प्रस्ताव नहीं है।

दूसरा, इसने सर्वोच्च न्यायालय में वन अधिकार क़ानून से संबंधित मुक़दमे में भारत सरकार ने अपना पक्ष सही तरीक़े से नहीं रखा, इसके कारण 13 फ़रवरी 2019 को सर्वोच्च न्यायालय ने उन लोगों को वनों से बेदख़ल करने का आदेश दिया, जो वन अधिकार क़ानून के तहत अपना दावा साबित नहीं कर पाये हैं। निश्चित रूप से, अदालत का यह आदेश सरकार की उदासीनता का ही परिणाम था क्योंकि अगर वह इस क़ानून के क्रियान्वयन के बारे में स्थिति को साफ़ तरीक़े से रखती, तो अदालत द्वारा इस तरह का आदेश जारी नहीं किया जाता। इस निर्णय के कारण तक़रबीन 20 लाख वन-निवासियों के सामने जंगल की ज़मीन से बेदख़ल होने की स्थिति आ गयी। बहरहाल, बाद में अदालत ने खुद ही अपने आदेश को रोक दिया, लेकिन अभी भी यह मामला चल रहां है, और बहुत से वन-निवासी समूहों पर बेदख़ली की तलवार लटक रही है।

पत्थलगढ़ी आंदोलन

हाल के वर्षों में छत्तीसगढ़ और झारखंड के बहुत से क्षेत्रों में पत्थलगढ़ी आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा। यह आंदोलन भारतीय राज्य द्वारा आदिवासियों और उनके संसाधनों के लगातार दोहन के ख़िलाफ़ शांतिपूर्ण किंतु सशक्त प्रतिरोध माना जा सकता है। आदिवासी समाजों में पत्थलगढ़ी की परंपरा काफ़ी पुरानी रही है। पेसा क़ानून के क्रियान्वयन के दौरान बी. डी. शर्मा के संगठन, 'भारत जन आंदोलन' ने भी पांचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में आने वाले गांवों में लोगों पेसा के बारे में बताने के लिए पत्थलगढ़ी कार्यक्रम को बढ़ावा दिया। इसमें पत्थर पर पेसा के प्रमुख प्रावधानों को लिखा जाता था, और गांव वालों से यह आह्वान किया जाता था कि वे अपने सामुदायिक जीवन को संसद द्वारा पारित इस क़ानून के प्रावधानों के अनुरूप संगठित करें। लेकिन 2017-18 में जो पत्थलगढ़ी आंदोलन शुरू हुआ, उसकी ख़ास बात यह थी कि इसमें यह कहा कि आदिवासी 'केंद्र और राज्य सरकारों को मान्यता नहीं देते हैं'। आंदोलन से संबंधित लोगों ने अपने गांव के बाहर पत्थलगढ़ी करके बाहर के अधिकारियों के गांव में आने पर पाबंदी लगा दी। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वे मूल निवासी के रूप में अपने जल, जंगल और ज़मीन के हक़दार हैं, तथा वे बाहरी पूंजीपतियों/उद्यमियों और सरकार को इनका दोहन नहीं करने देंगे।

पत्थलगढ़ी आंदोलन की मूल भावना यह थी कि स्थानीय समुदायों को ही अपने संसाधनों के प्रबंधन का अधिकार होना चाहिए और उन्हें अपने सांस्कृतिक मूल्यों के साथ अपना जीवन-यापन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। असल में, यह कोई अनोखी मांग नहीं है। भारतीय संविधान की पांचवीं अनुसूची और पेसा क़ानून में आदिवासी समुदायों के इन अधिकारों को स्वीकार किया गया है। लेकिन आदिवासियों की भावना को समझने और उनसे संवाद करने की जगह अधिकांश स्थानों पर सरकारों ने इस आंदोलन

के ख़िलाफ़ दमनकारी रवैया ही अपनाया। मसलन, झारखंड के खूंटी ज़िले में भाजपा के नेतृत्व वाली रघुवर दास सरकार ने 10,000 से भी ज़्यादा लोगों पर राजद्रोह का मुक़दमा दायर कर दिया। ये उन क्षेत्रों के लोग थे, जहां पत्थलगढ़ी आंदोलन ज़ोर-शोर से उभरकर सामने आया था। साफ़ तौर पर, यह राज्य के उदार चेहरे के बजाय उसके दमनकारी चेहरे को ही दिखाता है।

माओवादी आंदोलन के बहाने आदिवासियों का दमन

छत्तीसगढ़, झारखंड, ओडिशा, आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों के कई आदिवासी बहुल इलाक़ों में माओवादी सक्रिय हैं। इनके द्वारा भारतीय राज्य के प्रशासनिक संयंत्र को लगातार चुनौती दी जाती रहती है। कई स्थानों पर इनका ज़बर्दस्त वर्चस्व है। इनके दमन के नाम पर अक्सर आदिवासियों को प्रताड़ित किया जाता है। कई मामलों में आदिवासी माओवादियों और राज्य के बीच पिस जाते हैं। सन् 2005 में छत्तीसगढ़ की भाजपा सरकार द्वारा दांतेवाड़ा क्षेत्र में माओवादियों के प्रतिरोध के लिए सलवा जुडूम आंदोलन की शुरुआत की गयी। कांग्रेस नेता महेंद्र कर्मा ने इसमें नेतृत्वकारी भूमिका अदा की। इसके कारण सैकड़ों गांवों से लोगों को अपने गांव छोड़कर कैंपों में रहने के लिए मजबूर किया गया। कई गांवों को जला दिया गया, और सैकड़ों लोगों की हत्या की गयी। यद्यपि अदालत के आदेश के बाद 2011 में इस अभियान पर रोक लगा दी गयी, किंतु उसके बाद के वर्षों में ही यह छोटे-मोटे रूप में प्रायोजित किया जाता रहा।

पुलिस के लिए यह बहुत ही आसान है कि वह किसी भी आदिवासी को 'माओवादी', 'नक्सल' या 'नक्सल समथर्क' क़रार देकर जेल में बंद कर दे। इन क्षेत्रों में बड़ी संख्या में आदिवासी पुरुषों और महिलाओं को 'नक्सल' या 'माओवादी' होने के नाम पर गिरफ़्तार कर लिया जाता है। ऐसे हज़ारों आदिवासी पुरुष और महिलाएं विचाराधीन क़ैदी के रूप में बंद हैं। अक्सर इन्हें कोई क़ानूनी सहायता नहीं मिलती है। कई मामलों में इन क़ैदियों, विशेष रूप से महिला क़ैदियों के साथ अमानवीय और क्रूर व्यवहार किया जाता है। सोनी सोरी के साथ जेल में हुई हिंसा इसका गवाह है। आम आदिवासियों के अतिरिक्त आदिवासियों के लिए काम करने वाले बहुत से नागरिक अधिकार कार्यकर्त्ता भी इस दौर में राज्य के दमन का शिकार हुए हैं। मिसाल के तौर पर, छत्तीसगढ मुक्ति मोर्चा की नेता और पीपॅल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज़ (पीयूसीएल) की महासचिव सुधा भारद्वाज को 26 अगस्त, 2018 को भीमा कोरेगांव घटना और माओवादियों से संपर्क के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया। वे लेख लिखे जाने तक जेल में क़ैद हैं। सुधा भारद्वाज जेल में क़ैद आदिवासियों के मुक़दमे लड़ने और इनके हक़ के लिए संघर्ष करती रही हैं। ऐसे में, इनकी गिरफ़्तारी इनके जैसे अन्य कार्यकर्ताओं को डराने की कोशिश है। इससे पहले सलवा जुडूम के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने के कारण विनायक सेन पर भी राजद्रोह का आरोप लगाया जा चुका है, और इसके कारण उन्हें लंबे समय तक जेल में रहना पड़ा। इन दोनों ही मामलों में बहुत ही धुंधले और फ़र्ज़ी क़िस्म के सबूतों के आधार पर पुलिस द्वारा यह दावा किया गया कि इनका माओवादियों के साथ संपर्क है। इसी तरह, सलवा जुडूम और आदिवासियों के ख़िलाफ़ राज्य प्रायोजित हिंसा का विरोध करने वाली नंदिनी सुंदर के ख़िलाफ़ छत्तीसगढ़ की भाजपा सरकार ने यह आरोप लगाया कि उन्होंने माओवादियों की वर्दी में आकर आदिवासी की हत्या की है। बाद में, वहां कांग्रेस की सरकार बन जाने के बाद इस मुक़दमे को ख़त्म किया गया। छत्तीसगढ़ में भाजपा के शासन के दौरान ही दांतेवाड़ा में आदिवासियों के बीच काम करने वाले हिमांशु कुमार को दांतेवाड़ा छोड़ने के लिए मजबूर किया गया। इसी तरह, झारखंड में आदिवासियों के बीच काम करने वाले ज्यां द्रेज को भी राज्य द्वारा उत्पीड़न का सामना करना पड़ा।

कुल मिलाकर अगर आदिवासी समूह राज्य से प्राप्त होने वाली 'सहायता' (मसलन, सस्ते अनाज आदि के रूप में) को स्वीकार करते हैं, और राज्य द्वारा प्रायोजित 'विकास' मॉडल या संवैधानिक प्रावधानों को लागू न करने का प्रश्न खड़ा नहीं करते हैं, तो वे सुरक्षित हैं। लेकिन हर उस स्थान पर जहां आदिवासी समूह अपने हक़ के लिए आवाज़ उठा रहे हैं, वहां उन्हें अलग-अलग तरह के दमन का सामना करना पड़ रहा है। राष्ट्रीय उद्यानों में उनके ख़िलाफ़ वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम के तहत मुक़दमे दर्ज कर दिये जाते हैं, कई स्थानों पर उन पर 'राजद्रोह' के मुक़दमे लगा दिये जाते हैं, और कई अन्य स्थानों पर 'नक्सल' या 'नक्सल-समर्थक' घोषित कर उन्हें बिना किसी प्राथमिकी या क़ानूनी प्रक्रिया के जेल में डाल दिया जाता है, और कई बार फ़र्ज़ी मुठभेड़ में उनकी हत्या भी कर दी जाती है।

निष्कर्ष

हमें यह याद रखने की आवश्यकता है कि दो मुख्य दलों भाजपा और कांग्रेस की आर्थिक नीतियों में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं है। दोनों का ही प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर आधारित विकास के मॉडल में गहरी आस्था है। इस बात के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे कि कॉरपोरेट घरानों को लाभ पहुंचाने या 'विकास' कार्य को आगे बढ़ाने के लिए इन दोनों दलों की सरकारों ने अलग-अलग समय आदिवासियों से संबंधित संवैधानिक और क़ानूनी प्रावधानों का उल्लंघन किया है। सलवा जुडूम को दोनों ही दलों ने समर्थन प्रदान किया। शायद एक महीन अंतर यह है कि कांग्रेस के भीतर इस संदर्भ में 'भिन्न' आवाज़ों की भी मौजूदगी है, लेकिन अक्सर वे आवाज़ें हाशिये पर ही रहती हैं। अगर हम संसदीय राजनीति में इन दलों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में उठाये जाने वाले मुद्दों पर ध्यान दें तो यह बात सामने आती है कि ये किसी स्तर पर उन नव-उदारवादी नीतियों को चुनौती देने की बात नहीं करते हैं, जिनके कारण संसाधनों का अत्यधिक दोहन होता है और आदिवासियों का शोषण होता है। कभी-कभार कांग्रेस और उससे भी ज़्यादा वाम दल संवैधानिक प्रावधानों को सही तरीक़े से लागू करने पर ज़ोर देते हैं। विशेष रूप से, वाम दलों ने न सिर्फ़ वन अधिकार क़ानून जैसे प्रगतिशील क़ानूनों को सही तरीक़े से लागू करने के लिए संघर्ष किया है, बल्कि उन्होंने माओवाद-विरोधी अभियान के नाम पर आदिवासियों के साथ होने वाले अन्यायों के ख़िलाफ़ भी लगातार आवाज़ उठायी है। हालांकि पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे के शासन के दौरान सिंगूर और नंदीग्राम के मसले के सामने आने पर यह स्पष्ट हुआ कि विकास की दिशा और स्थानीय समुदायों के अपने भूमि के अधिकार के संदर्भ में मोर्चे के भीतर अलग-अलग तरह की आवाज़ें और अंतर्विरोध मौजूद थे।

यह स्पष्ट है कि मौजूदा केंद्र सरकार और भाजपा शासित राज्यों की सरकारें आदिवासियों के संवैधानिक अधिकारों को लागू करने के लिए गंभीर नहीं हैं। एक ओर, अपने अधिकारों की मांग करने वाले आदिवासियों का लगातार दमन किया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर, संसद द्वारा पारित वन अधिकार क़ानून जैसे प्रगतिशील क़ानूनों के प्रावधानों को अप्रभावी करने के भी कई प्रयास किये जा रहे हैं।

ई-मेल : kamalnayanchoubey@gmail.com

'स्वच्छता अभियान' : एक पर्दा

बेजवाड़ा विल्सन से प्रवीर पुरकायस्थ की बातचीत

प्रवीर पुरकायस्थ : बेजवाड़ा विल्सन, चलिए इस परेशानी पर बात करते है, जो हमने ही पैदा की है। हमारे सीवर और सेप्टिक टैंक की सफ़ाई करते हुए हर साल लोग मर रहे हैं। इसे लेकर हमारे पास किस तरह के आंकड़े मौजूद हैं?

बेजवाड़ा विल्सन : देखिए, हमारे पास आंकड़े हैं, लेकिन ये कुछ क़स्बों से हैं और मुक़म्मल तौर पर भी नहीं है, ज़्यादा से ज़्यादा नमूने या सैम्पल की तरह हैं। हाथ से मैला ढोने के ख़िलाफ़ 27 मार्च, 2014 के सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के बाद, सरकार को यह ज़िम्मेदारी सौंपी गयी थी कि वह सफ़ाई के दौरान होने वाली मौतों और दुर्घटनाओं की गिनती करे, आंकड़े इकट्ठा करे और मुआवज़े के तौर पर 10 लाख रुपये दे। लेकिन जब हमने 'सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन (SKA) के तहत, सरकार और सरकार के कई विभागों और मंत्रालयों तक जाना शुरू किया तो हम हैरान थे कि सिवाय एक समेकित सूची यानी कंसोलिडेटेड लिस्ट के किसी के पास भी इस पर कोई आंकड़े नहीं थे। हमने आंकड़ों को इकट्ठा करना शुरू किया। हमारी लिस्ट के अनुसार 1370 मौतें हुई हैं। लेकिन यह फ़ाइनल आंकड़ा नहीं है। ये पिछले दो साल के आंकड़े हैं, जब से हमने आंकड़ों को इकट्ठा करना शुरू किया है। यह वह संख्या है जो हमने मंत्रालय को दी है, लेकिन ये समग्र आंकड़े नहीं है।

प्रवीर पुरकायस्थ : हां, सही आंकड़े इससे कहीं अधिक होंगे। इन मज़दूरों में से कई नगर निगमों या नगर पालिकाओं के स्थायी कर्मचारी नहीं होते हैं। कई ठेके पर काम करते हैं, कई को संयोग से मज़दूरी मिल जाती है तो कई मज़दूरों का कोई अता-पता नहीं होता या यह कह लीजिए कि कोई लिखित ब्योरा नहीं होता।

बेजवाड़ा विल्सन : महानगरों के सीवेज सिस्टम के साथ आपको ऐसे मज़दूर मिलते हैं जो निगमों के पूर्णकालिक कर्मचारी हैं। सेप्टिक टैंक क्लीनर भी हैं, जिनमें से अधिकांश ठेके वाले मज़दूर हैं, या ऐसे मज़दूर हैं जो मकान मालिकों के लिए प्राइवेट तौर पर काम करते हैं। पहले से ही, नगर पालिकाओं और निगमों में पे-रोल पर काम करने वाले कर्मचारी यों भी कम संख्या में नहीं हैं। मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, अहमदाबाद और भी बहुत सारे शहरों में स्थायी कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या है।

प्रवीर पुरकायस्थ : केवल सरकार ही नहीं बल्कि लोग भी इन मज़दूरों के प्रति संवदेनहीन नहीं हैं? आपको क्या लगता है कि क्या यह इस वजह से है कि इन मज़दूरों का संबंध उन जातियों और समुदायों से है जिनके प्रति लोगों में संवेदनशीलता की कमी है?

बेजवाड़ा विल्सन : हमारे देश में सफ़ाई करने वाले लोगों को जाति के आधार पर काम सौंपा गया है। इसे साफ़ तौर पर देखा जा सकता है और यही वह पहली बात है जो सफ़ाई कर्मचारियों के बारें में किसी भी व्यक्ति को समझनी चाहिए। इन मज़दूरों में भारी संख्या अछूत समझे जाने वाले लोगों की है। ऐसे

माहौल में देहात से लेकर शहरी लोग सभी सोचते हैं कि अगर कोई मेहतर उनके पीछे सफ़ाई कर रहा है, तो इसमें ग़लत क्या है? इसी काम के लिए वे बने होते हैं और वे अपना काम कर रहे हैं। यहां तक इस समुदाय से जुड़े लोग भी ऐसा ही सोचते हैं। चूंकि मैं भी इस समुदाय से जुड़ा हूं तो जानता हूं कि हमारे लोग भी सोचते हैं कि इसके सिवाय वे और क्या कर सकते हैं? आख़िरकार, हम इस जाति में पैदा हुए हैं। हम कोई दूसरा काम नहीं कर सकते हैं।

इसके अलावा, अपने पेशे को बदलना बहुत मुश्किल होता है। यह काम हमें आसान लगता है, इस तरह से हम वही करते रहते हैं जो हम करते आ रहे हैं। ऐसे में बाहरी प्रतिरोध का सामना भी बहुत कम करना पड़ता है। इसलिए यह पूरा काम दो नज़रियों पर चलता है लेकिन सरकार इन सब पर नहीं सोचती है कि क्या चल रहा है?

प्रवीर पुरकायस्थ : क्या आपको लगता है कि जिस कारण से हम इस बारे में नहीं सोचते हैं, उसका एक हिस्सा यह है कि जाति का दृष्टिकोण उन लोगों द्वारा बनाया गया है जो शहरों का निर्माण करते हैं, जो शहरों का विकास करते हैं, जो शहरों के लिए योजनाएं बनाते हैं? आख़िरकार केवल भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया के हर शहर में सीवर और सेप्टिक टैंक हैं, लेकिन यह परेशानी विशेष तौर पर भारत में ही क्यों है? क्या यह हमारी जाति-अंधता का हिस्सा है, कि हम इस परेशानी को देखना नहीं चाहते हैं?

बेजवाड़ा विल्सन : हम इसे देखना नहीं चाहते हैं और हम इस देश में कुछ लोगों के जीवन की परवाह नहीं करते हैं। संविधान का अनुच्छेद 21 कहता है कि हमारे पास जीवन का अधिकार है, लेकिन किसके जीवन का अधिकार? कौन-सा समूह, कौन-सा वर्ग, कौन-सी जाति है, जिसे जीवन का अधिकार है? यह साफ़ है कि कुछ लोगों का जीवन दूसरे की तुलना में अधिक मायने रखता है। आम जनता के बीच वे हमेशा कहते हैं कि सभी बराबर हैं; लेकिन यह साफ़ है कि कुछ लोग दूसरे के बराबर नहीं है। जब सीवर सफ़ाई के दौरान मौतें होती हैं, तो सबसे पहले पैसा फेंककर इसे सुलटाने की कोशिश की जाती है। इसलिए कोई मर गया तो इसमें बड़ी बात क्या है? सब कुछ निपटाने के लिए जितना पैसा लगेगा उतना दे दिया जायेगा। कोई नहीं पूछेगा कि यह व्यक्ति कैसे मर गया? सभी तरह के विज्ञान और प्रौद्योगिकी होने के बावजूद भी हम ऐसा क्यों कर रहे हैं कि किसी को सीवर में इस तरह उतरना पड़ रहा है कि उसकी मौत हो जाती है।

एक और प्रतिक्रिया यह आती है कि ये लोग गये और मर गये तो इसमें मैं क्या कर सकता हूं? मेरा सेप्टिक टैंक है, मेरी सीवर लाइन है और मैंने इन मज़दूरों को लगाया है। यहां मज़दूर और प्रबंधन के बीच ज़िम्मेदारी वाली अवधारणा भी लागू नहीं होती है। मेहतर आसानी से उपलब्ध हैं। अगर वे सफ़ाई करते समय ग़लती से मर जाते हैं, तो इससे मेरा कोई लेना-देना नहीं है। इसी कारण सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन का कहना है कि सीवर सफ़ाई के दौरान होने वाली मौतें कोई दुर्घटना नहीं है। इन्हें जानबूझकर सीवर लाइनों और सेप्टिक टैंकों में मारा जा रहा है, क्योंकि यह जानने के बाद भी कि इस काम के दौरान लोगों की मौत हो जाती है फिर भी इस काम का मशीनीकरण नहीं किया जा रहा है।

इस बिंदु पर ज़ोर देना हमारे लिए ज़रूरी है, आपने ही इन मौतों के लिए परिस्थितियों का निर्माण किया है। इसलिए, जब हम मर जाते हैं तो अपनी सहानुभूति दिखाने के लिए नहीं मत आइए, क्योंकि आप इसके लिए ज़िम्मेदार हैं, और हम इसका राजनीतिक समाधान चाहते हैं।

प्रवीर पुरकायस्थ : मतलब यह कि यह न्याय का मसला है न कि दया का।

बेजवाड़ा विल्सन : इस मसले पर मैं दया पर भरोसा नहीं करता और मैं ऐसा सोचता हूँ कि यह समय

है कि सरकार इस पर फ़ैसला ले। सरकार इसे बार बार समाज की परेशानी बताकर समाज में वापस नहीं फेंक सकती। नहीं, जाति कोई सामाजिक परेशानी नहीं है। इसका जन्म भले ही समाज से हुआ हो लेकिन इसका समाधान राजनीति के क्षेत्र से ही आना चाहिए।

प्रवीर पुरकायस्थ : स्वच्छ भारत के मुद्दे पर वापस आते हैं। जहां सरकार ने कुछ दस करोड़ नये शौचालयों की घोषणा की है। सरकार पैसे वग़ैरह दे रही है, लेकिन क्या शौचालय या पानी के कनेक्शन के लिए उचित सीवेज देने पर कोई विचार किया गया है? अगर यह नहीं होगा तो हम हाथ से मैला सफ़ाई करने पर ही वापस लौट आयेंगे। आप इस संदर्भ में स्वच्छ भारत कार्यक्रम को कैसे देखते हैं?

बेजवाड़ा विल्सन : 2 अक्टूबर, 2014 को प्रधानमंत्री ने इंडिया गेट से स्वच्छ भारत की घोषणा की। इसके तुरंत बाद इस तरह की धारणा बनती दिखी कि अब से भारत में हर कोई अपने आप को साफ़ कर लेगा। यह जाति-आधारित, पितृसत्तात्मक या ऐसा कुछ भी नहीं रहेगा। यहां तक कि प्रधानमंत्री भी सफ़ाई करेंगे। हमने महसूस किया कि हमारे सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन को कुछ पैंतीस साल पीछे ले जाया जा रहा था, दुनिया भर में कई लोगों की आंखें खोलने के लिए हमने जो काम किया था, वह रद्द हो रहा था। और मोदी ने परेशानी का एक भी हल निकाले बिना ऐसा कर दिया।

इस देश में शौचालयों का निर्माण कोई बड़ी बात नहीं है, यह लंबे समय से होता आ रहा है। लेकिन वे अब इसे बहुत बड़ी बात बता रहे हैं, उनका कहना है कि 2019 तक बारह करोड़ नये शौचालय बन जायेंगे। मौजूदा शौचालय अच्छी तरह से काम नहीं कर रहे हैं या वे अच्छी तरह से मलत्याग का निपटान नहीं करते हैं और पर्याप्त मात्रा में सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट भी नहीं हैं। बहुत सारे सीवेज मज़दूरों की मौतें इन्हीं कारणों से हुई हैं। यहां हम और बारह करोड़ शौचालय जोड़ने जा रहे हैं। इसका मतलब है कि और बारह करोड़ सेप्टिक टैंक बनाये जायेंगे क्योंकि स्वच्छ भारत अभियान के कई स्थानों पर कोई भूमिगत जल निकासी प्रणाली नहीं बनायी जा रही है। सरकार का तर्क है कि वह एक ही जगह पर दो गड्ढे बनाने जा रही है। जबकि अक्सर यह देखने को मिलता है कि एक भी गड्ढे के लिए जगह नहीं होती है। एक बर्तन तक रखने के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिल पाती है, एक ही जगह पर दो गड्ढे खोदने की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए। ये खोखले तर्क हैं।

सरकार ने बहुत अधिक संख्या में छोटे सेप्टिक टैंक बनाये हैं, जिन्हें भविष्य में हाथ से साफ़ करना होगा। इसका मतलब यह है कि जितनी संख्या में छोटे सेप्टिक टैंक होंगे उतने ही ज़्यादा सफ़ाई करने वालों की ज़िंदगी का जोख़िम बढ़ेगा। इस पर उन्होंने विचार भी नहीं किया है। और पानी का क्या? वे शौचालयों का निर्माण करते समय यह भी नहीं सोचते हैं कि उस जगह पानी की आपूर्ति कैसे होगी, जिस जगह पानी नहीं है।

सरकार लोगों पर एक तरह का बंधा हुआ विचार थोप रही है। लोगों को कई चीज़ों की ज़रूरत है, लेकिन सरकार ने केवल एक ज़रूरत पूरा करने का फ़ैसला किया है, जो है शौचालय। खाने के लिए भोजन नहीं है, लेकिन शौचालय का उपयोग करना चाहिए। अगर मैं केवल अपने ही लोगों की बात करूं तो ये शौचालय उनकी समस्याओं को बढ़ाने वाले हैं। यहां मौत के अधिक जाल हैं। मुझे गहरे तौर पर लगता है कि सरकार अब तक हमें मारती आ रही है, और भविष्य में भी हमें मारने का प्रावधान कर दिया है।

स्वच्छ भारत नाम ही मुझे परेशान करता है। स्वच्छ भारत एक शुद्ध, प्रदूषण मुक्त भारत का सुझाव देता है, लेकिन यह सफ़ाई करने वालों को प्रदूषण से मुक्ति या स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता है। उनके योगदान को कभी मान्यता नहीं मिलती है। यहां तक कि योजना की घोषणा होने पर भी उन्हें मान्यता नहीं मिली। चार हज़ार वर्षों से एक विशेष समुदाय इस देश में सफ़ाई का काम कर रहा है और आप

उनसे या उनके लिए एक भी शब्द नहीं बोलते हैं। वे इस पेशे को छोड़ना चाहते हैं, ख़ासकर इस पेशे में लगी हुई महिलाएं। उन्होंने बाहर आकर सार्वजनिक तौर पर विरोध किया, उन्होंने अपनी टोकरियाँ जला दीं। ऐसे लोग सरकार से पुनर्वास पाने के योग्य हैं, लेकिन सरकार के पास उन्हें देने के लिए कुछ भी नहीं है। सरकार उनके पुनर्वास के लिए तैयार नहीं है। पहले साल 2012-13 में हाथ से मैला ढोने वालों के पुनर्वास के लिए बजटीय आवंटन 570 करोड़ रुपये था। इस साल यानी 2016 में यह 10 करोड़ रुपये है। 2016 के बजट में स्वच्छ भारत के लिए 9000 करोड़ रुपये की घोषणा की गयी। यह सब पैसा शौचालय बनाने के लिए है। हाथ से मैला ढोने वालों के पुनर्वास के लिए नहीं है और उनकी मुक्ति के लिए कुछ भी नहीं है।

प्रवीर पुरकायस्थ : सरकार नहीं चाहती कि वे अपना व्यवसाय छोड़ें क्योंकि सरकार द्वारा उठाये गये क़दमों से पनपने वाली समस्याओं से लड़ने के लिए सरकार को इनकी ज़रूरत पड़ेगी?

बेजवाड़ा विल्सन : हां, यह आने वाली पीढ़ी को जाल में फंसाने जैसा है। यदि कोई मां हाथ से मैला ढोना छोड़ती है, तो उसकी बेटी और बहू भी इस पेशे को जारी नहीं रखेंगे। एक महिला अपनी टोकरी को जला देती है, यह कोई छोटा इशारा नहीं है। यह चार हज़ार वर्षों से चली आ रही जाति के जकड़न को तोड़ने जैसा है, जिसने लोगों को एक ज़ंजीर की तरह जकड़ लिया है, जो लोगों को जन्म से जाति और जाति से पेशे तक जोड़ता चला आ रहा है। इस तरह से एक महिला जब खुद की टोकरी जला देती है तो यह कोई छोटी बात नहीं है, सरकार को आगे बढ़ना चाहिए और ऐसी महिलाओं का सम्मान करना चाहिए, उनसे कहना चाहिए कि हम आपके लिए यहां हैं, हमें बतायें कि आप क्या चाहती हैं?

प्रवीर पुरकायस्थ : बुरी तरह से मारा जाने वाला दूसरा समुदाय उन लोगों का है जो मृत जानवरों को निकालते हैं। अब हम ऊना और दूसरे जगहों पर देख रहे हैं कि लोगों ने विरोध करना शुरू कर दिया है और कहने लगे हैं कि हम इस पेशे को नहीं अपनायेंगे क्योंकि हमें सताया जा रहा है, गायों की हत्या का आरोपी बनाया जा रहा है। गुजरात में वे कह रहे हैं, आपने हमें इस व्यवसाय से जोड़ दिया है। हमें एक वैकल्पिक व्यवसाय की ज़रूरत है। हमें ज़मीन दो। आप अपनी गाय रख सकते हैं, जिसे आप इतना शुद्ध मानते हैं। क्या आपको लगता है कि इस तरह के पेशे में मजबूरी में लगे लोगों के बीच एक बड़ा गठबंधन होने की गुंजाइश है? क्या आपको लगता है कि ये कुछ ऐसी मांगें हैं जिनके बारे में हमें सोचना चाहिए?

बेजवाड़ा विल्सन : यह बहुत आसान है। ऊना में, प्रदर्शनकारी कह सकते थे कि हमने चार हज़ार साल से ऐसा किया है, अब तुम्हारी बारी है। अब यह काम आप लोग अगले चालीस साल तक कीजिए। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं कहा। वे कह सकते थे, हम आपके मृत पशुओं के साथ पिछले चार हज़ार साल से काम करते आ रहे हैं। यह समय है कि आप हमारा एहसान वापस कीजिए और हमारे मृत जानवरों के शवों को साफ़ कीजिए। लेकिन उन्होंने यह भी नहीं कहा। वे असामनता को बदले की भावना से देख कर उन पर नहीं थोपना चाहते, जिन्होंने उनके लिए असमानता वाली व्यवस्था बनायी है। यानी वे जाति जैसी असमानता मूलक व्यवस्था को अपने से हटाकर दूसरे पर लागू कर बरक़रार नहीं रखना चाहते हैं। वे जो कह रहे हैं वह यह कि हमने यह काम लंबे समय तक किया है, हम इसे और नहीं करना चाहते, हम इसका विरोध कर रहे हैं। यह सही बात है। लेकिन जातिवादी समूह इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे ज़मीन छोड़ना नहीं चाहते हैं, न ही पेशे को बदलने की अनुमति देते हैं। हम सौदा नहीं करना चाहते कि अदला बदली की जाये। हमारी स्थिति यह है कि आप हमें बदले में कुछ दें या न दें, हम इस तरह से आगे बढ़ने को तैयार नहीं हैं और अब बस हम यह काम नहीं करेंगे।

प्रवीर पुरकायस्थ : क्या आपको गाय के रूप में गौमाता और जाति व्यवस्था के बीच कोई लिंक दिखता है?

बेजवाड़ा विल्सन : बहुत साफ़ तौर से। आप एक तर्कहीनता पैदा करते हैं, इसे हर किसी पर हावी करते हैं और हर किसी को स्वीकार करने के मजबूर करते हैं। आप हमारे जीवन के तर्कसंगत आधार को भी दूर कर रहे हैं। मेरा मतलब इससे है कि इस देश में कितने लोगों को स्वतंत्रता है, कितने लोग यह सोचने की स्थिति में हैं कि हम सभी बराबर हैं।

प्रवीर पुरकायस्थ : क्या यह लोगों पर ब्राह्मणवादी व्यवस्था को फिर से थोपने का एक तरीक़ा है।

बेजवाड़ा विल्सन : हां, जाति व्यवस्था।

प्रवीर पुरकायस्थ : और गाय इसके लिए एक साधन के तौर पर काम कर रही है।

बेजवाड़ा विल्सन : हां, अन्यथा गाय क्या है? कुछ भी तो नहीं है। वे ऐसी बातें कह सकते हैं कि गाय मेरी मां है। लेकिन जब आपकी मां की मृत्यु हो जाती है, तो आप उसकी लाश मुझ पर क्यों फेंकते हैं और मुझे इसे निपटाने के लिए क्यों कहते हैं? अगर गाय आपकी मां है, तो उसे अपने पास रखिए, मरने के बाद जो कर्मकांड किये जाते हैं, उसे कीजिए। फिर मैं यह मान सकता हूं कि आप गाय के साथ एक भावनात्मक संबंध रखते हैं, और मैं इस पर विचार करूंगा कि यह आपका निजी मामला है। कोई बात नहीं। लेकिन आप मुझे भरोसा नहीं दिला सकते कि आप क्या करते हैं। यह मजबूरी सचमुच मुझे परेशान करती है। इसका मेरे अछूत होने से कोई लेना-देना नहीं है। मैं यह नहीं चाहता कि देश की अगली पीढ़ी भी इन सब तर्कहीन बातों पर भरोसा करे या उसे ऐसे तर्कहीन बातों पर भरोसा करने के लिए मजबूर किया जाये।

***(न्यूज़क्लिक* पर 15 अक्टूबर, 2016 के एक वीडियो से संपादित पाठ)**

कितनी आज़ाद है ग्रामीण पत्रकारों की कलम?

पी. साइनाथ

(पराड़कर स्मृति सभागार, वाराणसी में पी. साइनाथ का संबोधन, 29 नवंबर, 2019)

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का लोकसभा क्षेत्र वाराणसी पिछले शुक्रवार एक ऐतिहासिक आयोजन का गवाह बना, जब *दि हिंदू* के पूर्व संपादक (ग्रामीण मामले) और प्रसिद्ध पत्रकार पी. साइनाथ ने काशी पत्रकार संघ के पराड़कर स्मृति भवन में ग्रामीण पत्रकारों की आज़ादी के विषय पर एक झकझोरने वाला व्याख्यान दिया। यह कार्यक्रम पत्रकारों पर हमलों के विरुद्ध समिति (काज) ने आयोजित किया था। मौक़ा था अभिषेक श्रीवास्तव की पुस्तक, *देसगांव* के लोकार्पण का, जिससे साइनाथ ने अपनी बात शुरू की। CAAJ की राज्य इकाई ने क़रीब आधा दर्जन पत्रकार संगठनों, पीवीसीएचआर जैसे मानवाधिकार संगठन और साझा संस्कृति मंच जैसे नागरिक समूह के साथ मिलकर पूर्वी उत्तर प्रदेश के नौ राज्यों से ग्रामीण पत्रकारों को जुटाने में अहम भूमिका अदा की। तीन घंटे चले इस आयोजन के दौरान सभागार पूरा भरा रहा, जो कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान बनारस में देखने में नहीं आया था। बनारस और पूर्वी उत्तर प्रदेश में साइनाथ का यह पहला सार्वजनिक व्याख्यान था जिसके आयोजन में कई स्थानीय क्षेत्रीय पत्रकार संगठनों ने हाथ मिलाया। इतना ही नहीं, आम तौर से अंग्रेज़ी में बोलने वाले साइनाथ ने लगातार एक घंटे से ज़्यादा समय तक हिंदी में संबोधन किया जिसे सुनने के लिए दो सौ से ज़्यादा पत्रकार और श्रोता लगातार मौजूद रहे। हिंदी में दिया गया पूरा व्याख्यान अपने मूल रूप में प्रस्तुत है।

—संपादक, *मीडिया विजिल*

मैं पांच भाषाओं में बराबर ख़राब बोल सकता हूं। यहां मैं मुंबइया हिंदी में बोलूंगा। आप लोगों ने सम्मान दिया, किताब रिलीज़ करने को बुलाया, यह मेरे लिए सम्मान की बात है क्योंकि ग्रामीण भारत के बारे में बहुत कम छपता है। इस किताब में दस राज्यों से रिपोर्टें हैं। ये वे दस राज्य हैं जहां देश की आधी आबादी, क़रीब साठ.सत्तर करोड़ लोग रहते हैं। इसलिए यह बहुत अहम है। इसकी अहमियत समझने के लिए आप ये आंकड़े देखिए।

हिंदुस्तान के नेशनल अख़बारों में ग्रामीण ख़बरें कितना छपती हैं, इसके लिए इनके फ्रंट पेज लीजिए। दिल्ली में एक संस्था है सेंटर फ़ॉर मीडिया स्टडीज़। एन. भास्कर राव की। वो तीस साल से रिसर्च कर रहे हैं मीडिया के ऊपर। अभी उनका ऑपरेशन कमती हो रहा है क्योंकि मीडिया में रिसर्च को लेकर इंटरेस्ट नहीं रह गया है। अब मीडिया वाले मार्केट रिसर्च एजेंसी के पास जाते हैं, इनके पास नहीं जाते। सीएमएस की स्टडी में ग्रामीण ख़बरों पर एक रिसर्च निकला था। यह नेशनल डेली का पांच साल का डेटा है। नेशनल डेली का मतलब वे अख़बार जिनका एक एडिशन दिल्ली से निकलता हो। हो सकता है कि एक ही एडिशन निकलता हो कुल दिल्ली से, लेकिन वो भी नेशनल डेली है। बाक़ी सब एंटी-नेशनल डेली हैं। तो नेशनल डेली के फ्रंट पेज पर पांच साल का एवरेज ग्रामीण ख़बर का स्पेस है 0.67 परसेंट। ग्रामीण इलाक़े में जनसंख्या क्या है? 69 परसेंट, 2011 के सेंसस में। 69 परसेंट आबादी को आप देते हैं 0.67 परसेंट जगह। अगर जनसंख्या के 69 परसेंट को आप 0.67 परसेंट जगह अख़बार के फ्रंट पेज पर देते हैं तो बाक़ी पेज किस पर जाते हैं? फ्रंट पेज का 67 परसेंट नयी दिल्ली को जाता

है। और यह 0.67 परसेंट भी एग्जैग्ज़रेशन (अतिरेक) है। ऐसा क्यों दिखा रहा है? क्योंकि पांच साल का यह एवरेज है। इसमें एक साल चुनाव का साल है। अगर चुनाव का साल निकाल दें, तो डेटा 0.20 परसेंट आता है।

एक पत्रकार जो काम करता है, बिना इनसेंटिव के करता है। अपने आदर्शवाद के चलते करता है। आपको ग्रामीण पत्रकारिता से कोई प्रमोशन नहीं मिलने वाला है। कोई रिकग्नीशन नहीं मिलने वाला है। मैंने जब, *एवरीवन लव्ज़ अ गुड ड्रॉट* किताब लिखी, तब ज़माना बदल रहा था। तब मुझे थोड़ा रिकग्नीशन मिला। इस किताब का नाम मैंने नहीं दिया। एक छोटे से किसान ने मुझे यह नाम दिया था। वो मेरे साथ गया था पलामू, डालटनगंज। लातेहार में हम पहुंचे एक दिन। मैंने सोचा सर्किल ऑफ़िस में जायेंगे। किसान का नाम था रामलखन। वो मेरे साथ गया। सरकारी आफ़िस में एक आदमी नहीं बैठा था। सर्किल अफ़सर नहीं, बीडीओ नहीं, कुछ नहीं था। वहां बीडीओ को बीटीडीओ कहते हैं। ब्लॉक द डेलपमेंट अफ़सर। मैंने पूछा, रामलखन, ये लोग कहां गया यार। उसने बोला, सब तीसरी फ़सल लेने के लिए गया है। आइ फ़ेल्ट अ लिटिल स्टुपिड...ये तीसरी फ़सल क्या चीज़ है। मैंने बोला, मैं जानता हूं रबी, ख़रीफ़। डेढ़ सौ साल पहले एक तीसरी फ़सल थी जायद। ये तीसरी फ़सल क्या है मैं नहीं समझ पा रहा। उसने बोला, ये तीसरी फ़सल है ड्रॉट रिलीफ़ (सूखा राहत)। उसने कहा, यहां बड़े लोग इस तीसरी फ़सल को बहुत पसंद करते हैं। ये लोग अकाल को बहुत पसंद करते हैं। इस तरह मेरी किताब का नाम पड़ा।

अभी जो समकालीन पत्रकार हैं, पिछले 20 साल में उन्होंने किस विषय पर किताबें लिखी हैं? तीन दर्जन किताबें हैं मार्केट इकनॉमी के बारे में। भारत कैसे बदल रहा है, इसके ऊपर। ग्रामीण भारत पर कितनी किताब निक़ली आख़िर? मैं एक का नाम ले सकता हूं. जयदीप हार्डिकर की, *चेज़्ड बाइ डेपलवमेंट*। इसलिए बहुत ज़रूरी है कि ग्रामीण भारत पर लिखा जाये।

'कितनी आज़ाद है ग्रामीण पत्रकारों की क़लम', यह जो आज का विषय है, उस पर देखें तो पिछले दिनों तीन चार रिपोर्ट आयी है। कमेटी टु प्रोटेक्ट जर्नलिस्ट्स (सीपीजे) की एक रिपोर्ट निक़ली जिसका इंट्रोक्डक्शन मैंने लिखा है। अलग-अलग कसौटी होती है इन रिपोर्टों की, कि पत्रकार कौन है, स्ट्रिंगर कौन है। हर रिपोर्ट में एक कॉमन फ़ैक्टर आप देख सकते हैं। आज से तीन साल पहले तक की स्थिति यह है कि जितने भी पत्रकार मरे हैं, सौ परसेंट क़स्बाई और ग्रामीण पत्रकार हैं। बड़े शहर से एलीट पत्रकारों में एक भी नहीं था 2013-2014 तक। इससे पहले 100 फ़ीसदी जानलेवा हमले ग्रामीण पत्रकारों पर ही हुए। इन्हें कुछ होता है तो दिल्ली के मालिकान इन्हें डिसओन कर देते हैं।

पत्रकारिता और मीडिया में पिछले बीस साल में बहुत बदलाव आया है। एक तो बहुत लोग भूल गये कि हिंदुस्तान की पत्रकारिता की परंपरा क्या है। अभी तीन साल के बाद पहली भारतीय पत्रिका को 200 साल पूरा होने वाला है। मैं अगस्टस हिक्की विक्की को काउंट नहीं करता। वो अख़बार राजा राममोहन राय का *मिरातुल* अख़बार था। वो पहला अख़बार बंगाली में नहीं, फ़ारसी में था। उस वक़्त मुग़ल कोर्ट की भाषा थी फ़ारसी। राजा राममोहन राय से लेकर 170 साल की परंपरा थी मानवीय पत्रकारिता की। पहले ही दिन से *मिरातुल* अख़बार सती प्रथा, विधवा ब्याह, कन्या भ्रूण हत्या, लड़कियों की शिक्षा आदि मुद्दे लेकर निकला था। दुनिया में कितने पत्रकार हैं जिनके संग्रहीत काम के सौ अंक प्रकाशित हैं? एक थे गांधी और दूसरे आंबेडकर। इनके सौ संकलन छपे हैं काम के। हम भूल जाते हैं कि ये लोग पत्रकार थे। पिछले साल मैं पंजाब में गया तो मुझे बहुत निराशा हुई कि वहां सब लोग जानते हैं कि भगत सिंह शहीद थे, राजनीतिक एक्टिविस्ट थे। वे भूल जाते हैं कि भगत सिंह एक पेशेवर पत्रकार

थे। उसने बारह से ज़्यादा पत्रिकाओं में लिखा। चार में नियमित लिखा और चार भाषाओं में लिखा– पंजाबी, उर्दू, हिंदी और अंग्रेज़ी। उसने पहले लिखा *अकाली पत्रिका* में पंजाबी में, फिर *अर्जुन* में लिखा, *प्रताप* में लिखा। उन्होंने राजनीतिक लेखन *कीर्ति* में किया। एक नौजवान ने चार भाषाओं में सैकड़ों लेख लिखे, जब तक कि 23 साल की उम्र में उसे फांसी दे दी गयी। मैं बार बार सोचता हूं कि मैंने तो 23 साल में पत्रकारिता शुरू की थी। यह थी आपकी परंपरा।

पिछले तीस साल में बदला क्या है? पारिवारिक, निजी, ट्रस्ट के मालिकाने से कॉरपोरेट मालिकाने में मीडिया चला गया। सबसे बड़ा मीडिया मालिक है मुकेश अंबानी। सबसे अमीर आदमी भी वही है। आप लोग जो ईटीवी देखते हैं, उसमें केवल तेलुगु को छोड़ के बाक़ी 19 चैनल मुकेश अंबानी की प्रॉपर्टी हैं। एक ट्रस्ट बना के उन्होंने इन्हें ख़रीदा। दिलचस्प है कि उसका नाम है इंडिपेंडेंट मीडिया ट्रस्ट। उससे ख़रीद के उन्होंने धंधा शुरू किया। मीडिया में कॉरपोरेटाइज़ेशन (निगमीकरण) 1985 से आया। तब से ही ग्रामीण पत्रकारों की दिक्क़त शुरू हुई। दो बड़ी गतिविधियां शुरू हुईं 1985 में। पहला, कॉरपोरेटाइज़ेशन लाने के लिए यूनियन को हटाना, संगठन ख़त्म करना। इसकी शुरुआत समीर जैन ने टाइम्स आफ़ इंडिया से की। फिर सबने अपनाया। कैसे ख़त्म करना है संगठन, इसका पहला मास्टरस्ट्रोक था रोज़गार से ठेके पर पत्रकारों को लाना। आप 11 महीने के ठेके पर हैं। मैं आपका एडिटर हूं। आठवें महीने में मैं आपको बुलाकर कहता हूं कि आप शरद पवार की सराहना में लिखो, इसको उसको गाली दे दो। जो कुछ मैं कहता हूं आप करने वाले हैं क्योंकि आपका नब्बे दिन का काट्रैक्ट बचा है रिन्यू होने से पहले।

जब मैंने पेड न्यूज़ की स्टोरी ब्रेक की अशोक चव्हाण की...एंड आइ एम वेरी प्राउड ऑफ़ इट... जिस दिन वो स्टोरी आयी, एक सीनियर पत्रकार ने मुझे फ़ोन किया। मुझसे भी सीनियर। उसने बताया कि उसके अख़बार में एक फ्रंट पेज आ रहा है एक सीनियर कैबिनेट मंत्री के बारे में, और उसके नाम से आ रहा है। उसने कहा कि वो सौ परसेंट पेड न्यूज़ है और उनके नाम से छप रहा है। मैंने पूछा, क्या हुआ बड़े भाई? आपके नाम पर पेड न्यूज़ आ रहा है? उसने कहा, देख यार, तीस साल पहले हम सब वर्किंग जर्नलिस्ट एक्ट के नीचे थे। आप आज भी (*दि हिंदू* में) उसके अंडर में हैं लेकिन मेरे अख़बार में 11 महीने का काट्रैक्ट है। कल मुझको संपादक ने बुलाया था केबिन में। वहां ब्रांड मैनेजर, सीएफ़ओ और सीईओ बैठे थे। उसने बोला, एक बड़ा चीज़ आया है मेरे पास। एक बड़ा कैबिनेट मंत्री है। तो एक बड़े पत्रकार का नाम भी होना चाहिए उस पर। मैंने पूछा. साब, ये कहां से आया। संपादक ने कहा, वो पीआर एजेंसी से आया है, आप उसको थोड़ा सुधार करो।

मैंने पूछा, फिर क्या कहा आपने। उसने कहा, साइनाथ, मैं क्या बोलूं। 11 महीने के काट्रैक्ट पर हूं। अभी आठ महीना हो गया है। मेरा एक बेटा कालेज छोड़ के नौकरी ढूंढ़ रहा है। मेरी माताजी अस्पताल के आइसीयू में हैं। दो बच्चे स्कूल छोड़ के निजी कॉलेज में जा रहे हैं। घर का तीस हज़ार ईएमआइ जा रहा है हर महीने। तो क्या मैं हीरो बन जाऊं?

मैं क्या बोलता उससे? मैं उससे नौकरी छोड़ के हीरो बनने को नहीं कह सकता था। कभी-कभी आदमी ये भी करता है कि सब छोड़ के हीरो बन जाता है और घर बैठ जाता है बेरोज़गारी में।

तो कॉरपोरेटाइज़ेशन में मीडिया पूरा बदल गया। पत्रकारिता की समझ, उसका दर्शन और कॉरपोरेट का दर्शन एकदम अलग है। पत्रकार देखता है कि ख़बर क्या है, उसका सबूत क्या है। ये पत्रकार की मानसिकता है। कॉरपोरेट के लिए रेवेन्यू और प्राफ़िट असल चीज़ है। उनकी दिलचस्पी नहीं है कि पत्रकार ने बढ़िया स्टोरी किया, वो यह देखते हैं कि स्टोरी से रेवेन्यू मिलेगा या नहीं। कॉरपोरेट सोचता है कि मैं इस स्टोरी को तब कवर करूंगा जब मुझे कहानी से पैसा आयेगा। उस कैबिनेट मंत्री से एक

करोड़ की डील हुई थी तीन-चार हज़ार शब्दों के लिए, वो भी चुनाव के टाइम में।

तो कॉरपोरेट और पत्रकार की मानसिकता अलग है। मैं कहता हूं कि 1990 से मीडिया और पत्रकारिता दो अलग-अलग चीज़ें बन गयी हैं। जर्नलिज़्म हम करते हैं, मीडिया धंधा करता है, मुनाफ़ा कमाता है। उसका मूल उद्देश्य यही है। पत्रकारिता को रेवेन्यू स्ट्रीम तक लाकर छोड़ दिया गया है। समीर जैन ने मुझको कहा, साइनाथ जी, पत्रकारिता किसी भी धंधे की तरह एक धंधा है। मैं इस बात को नहीं मानता। यह किसी और उत्पाद की तरह उत्पाद नहीं है। आप टूथपेस्ट को छह महीना बेच सकते हैं। कल का अख़बार आप आज बेच सकते हैं क्या? मीडिया एक धंधा है, कारोबार है। टीवी एक कारोबार है, अख़बार एक धंधा है, पत्रकारिता एक आह्वान है, पुकार है। पत्रकारिता हम अपने दिल से करते हैं।

अब पत्रकारों पर हमले की बात। सौ परसेंट हमले 2013 तक ग्रामीण पत्रकारों पर हुए। जितना बड़ा जानलेवा हमला पत्रकारों पर हुआ, उसमें एक भी अंग्रेज़ी का नहीं है। सारा हमला हिंदुस्तानी भाषाओं के पत्रकारों पर हुआ। यह भी एक क्लास हाइरार्की (वर्गीय भेद) है। बीते 15 साल में कुल 27 मौतें। सीपीजे की रिपोर्ट का परिचय लिखने के दौरान मैंने एक-एक सूची देखी। एक भी अंग्रेज़ी वाला पत्रकार नहीं था। एक था जो अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों में रिपोर्ट किया था, डीडी श्रीनगर का रिपोर्टर।

क्यों बढ़ गये हमले? इस देश में कारपोरेट जगत की ताक़त है माइनिंग, सेज़ (एसईजेड), भूमि अधिग्रहण। ये सब कौन कवर करता है? ग्रामीण पत्रकार। जब कोई बड़ा एक्सप्लोज़न हो जाता है पास्को में, तब शहरी पत्रकार आते हैं, फ़ोटो और कोट लेते हैं और भाग जाते हैं। ऐसे ही कवर हुआ पास्को। आज तक कोई भी बड़ा अख़बार यह ख़बर नहीं किया कि पास्को में जो दो गांव प्रतिरोध किये, वे संघर्ष में जीत गये। उन्होंने पास्को को उड़ीसा से बाहर फेंक दिया। अभी वहां जिंदल आ गया है। जिंदल भी पास्को या एनरान की तरह बड़ा विज्ञापनदाता है। कौन उसके ख़िलाफ़ लिखेगा? तो सबसे पहली अहम बात, कारपोरेटाइज़ेशन में ख़बर ही रेवेन्यू का माध्यम बन गयी।

दूसरा बड़ा बदलाव 2013 में आया जब शहरी और एलीट पत्रकार भी हमले की चपेट में आ गये। पहला कौन था? नरेंद्र दाभोलकर। पांच साल के बाद भी इस क्राइम का मामला हल नहीं हुआ है। सब जानते हैं कि दाभोलकर सिर्फ़ अंधविश्वास विरोधी एक्टिविस्ट नहीं थे। पचीस साल उन्होंने एक पत्रिका चलायी थी। पुलिस ने उनका केस कमज़ोर कर दिया क्योंकि उस समय संघ परिवार की सरकार आ चुकी थी। एक नौजवान पुलिस अफ़सर जांच में अच्छा काम कर रहा था, उसे हटा दिया गया। उनका परिवार लगातार कहता रहा कि इसी अफ़सर को रखा जाये, उसकी नहीं सुनी गयी।

दूसरा गोविंद पानसारे। वे सीपीआइ के लीडर थे। ट्रेड यूनयन लीडर, लेकिन इतिहासकार और कालमिस्ट भी थे। तीस साल से वे कालम लिख रहे थे। सुना है नाम? उनका सबसे मशहूर काम क्या था? एक किताब—*शिवाजी कौन थे?* यह रैशनल अप्रोच से लिखी किताब थी। इसमें उन्होंने दिखाया था कि छत्रपति शिवाजी महाराज एक सेकुलर राजा था। उसका पर्सनल बाडीगार्ड था एक अफ़गान पठान। मुग़ल साम्राज्य के ख़िलाफ़ शिवाजी की लड़ाई सत्ता के लिए की गयी राजनीतिक जंग थी। शिवाजी महराज ने पंद्रह पत्र लिखे हैं अपने अफ़सरों को यह कहते हुए कि किसानों को नहीं लूटा जाना चाहिए क्योंकि वे हमारे समाज का आधार हैं। पानसारे ने 2005 से ज़्यादा हमला कट्टरपंथियों पर किया। जहां भी उन्होंने लिखा या भाषण दिया, कट्टरपंथियो पर हमला किया। उनको उनके घर के सामने मार दिया गया। इसके बाद एम एम कलबुर्गी। वे पत्रकार थे। अकादमिक थे। विद्वान थे। कालम लिखते थे। उनको भी मार दिया गया। इन लोगों के बीच समान क्या था? तार्किक विचार। चौथी हत्या थी हाइ प्रोफ़ाइल पत्रकार गौरी लंकेश की।

इन चारों के बीच समान बात यह है कि चारों ही भारतीय भाषाओं में लिख रहे थे। भारतीय भाषा में लिखने वाले पत्रकारों पर सबसे ज़्यादा हमले हुए हैं। उनका क्लास अलग होता है। उनका एलीट स्टेटस नहीं होता है। पहले हालत यह थी कि आप अपर कास्ट, अपर क्लास (उच्च वर्ण, उच्च वर्ग) से आते हैं तो उसका एक इंश्योरेंस होता था। पिछले पांच साल में उस इंश्योरेंस का प्रीमियम डबल हो गया। अब वे सबको मार रहे हैं। सबको...।

मैं यह भी कहता हूं कि पिछले तीन साल में सबसे बड़ा इवेंट जो हुआ—नोटबंदी और जीएसटी—उसका ज़्यादा असर ग्रामीण भारत में पड़ा। कारपोरेट मीडिया में आप देखिए कि नोटबंदी के असर पर कितना आर्टिकल छपा है। अभी पवन जायसवाल जी यहां बैठे हैं जिनके ऊपर एफ़आइआर हुआ मिड डे मील की स्टोरी पर, आपको बधाई, आइ सल्यूट यू। आप सब जानते हैं नमक रोटी कांड के बारे में। नोटबंदी के बाद आपने कितनी स्टोरी देखी कि मिड डे मील पर उसका क्या असर पड़ा? महाराष्ट्र सबसे अमीर राज्य है। वहां एक-दो महीने के लिए पूरा मिड डे मील ख़त्म हो गया। मिड डे मील में गेहूं चावल को छोड़ दें तो बाक़ी सब कुछ रोज़ाना नक़दी में ख़रीदते हैं। वो सब ख़त्म हो गया। इस देश के करोड़ों बच्चों ने मिड डे मील में बैठकर क्या खाया? चावल और पीले रंग का एक द्रव्य जिसको सांभर कहते हैं, जो नाली में बहायी गयी दाल जैसा दिखता है। इसकी रिपोर्टिंग कौन किया? सिर्फ़ ग्रामीण और क़स्बाई पत्रकार।

आप ताली बजा रहे हैं, लेकिन मैं आपको कहना चाहता हूं कि आपके ऊपर तनाव बढ़ने वाला है, हमले बढ़ने वाले हैं। यह भी डिस्कस करना है कि उसके बारे में क्या किया जा सकता है। उस पर भी आता हूं।

देखिए, अभी यूपी में इतना इशू बन गया गाय का। छुट्टा गाय। मुझको समझ में नहीं आता कि जो गाय का भजन गाते हैं वो गाय और देसी गाय के बारे में कुछ नहीं जानते। कुछ भी नहीं जानते। महाराष्ट्र में एंटी काउ स्लॉटर (गोकशी विरोधी क़ानून) को 2015 में एक्सटेंड कर दिया गया। क्या हुआ? बंबई के बायकुला में सबसे बड़ा चिड़ियाघर है बॉम्बे जू। उसमें बाघ और शेर को चिकन दिया जा रहा था खाने को। पता नहीं इस पर हंसना चाहिए या रोना। शेरों को मुर्गी खिलायी जा रही थी। आप जानते हैं कि एक शेर को भर पेट मीट देना हो तो कितने चिकेन को मारना पड़ेगा? यह तो चिकेन का जेनोसाइड बन जाता है। बीबीसी ने वहां इस पर जब स्टोरी किया तो यह बड़ा मुद्दा बन गया। फिर सरकार ने रात को चुपके से शेरों को बीफ़ दिया। शेरों का वज़न काफ़ी तेज़ी से घट रहा था इसलिए रात को चोरी से उन्हें बीफ़ दिया गया। यह तो शहर में था, इसलिए टीवी क्रू आ गया। गांव में क्या हुआ?

आप सब जानते हैं कि हर दो-तीन गांवों पर एक मवेशी बाज़ार होता है। जब आप आइएएस ट्रेनिंग में जाते हैं तो आपको एक सबक़ सिखाया जाता है। सबक़ यह है कि जब कैटल मार्केट का दाम 30 परसेंट गिर जाता है तो इसका मतलब आपके ज़िले में कृषि संकट है। ग्रामीण संकट है। नोटबंदी के बाद मवेशी के दाम 30 नहीं, 80 परसेंट गिरे। मैं ग्रामीण इलाक़ों में काम करता हूं और शहरों में रहता हूं, तो दो तरफ़ से गाय पर फ़ोकस करता हूं। जो महाशय कैलकुलेशन किया गोकशी को बंद करने का, उसकी विचार प्रक्रिया यह थी कि इसके बहाने मुसलमानों को नुक़सान पहुंचायेंगे। वो ये नहीं जानते कि ग्रामीण इकनॉमी में गाय की भूमिका क्या है। मवेशी के दाम जब बाज़ार में 80 परसेंट गिर गये तो उससे क़ुरैशी, क़साई को नुक़सान हुआ। अहा, तालियां...आप उनको ही तो ख़त्म करना चाहते थे। वो ख़त्म हुआ। लेकिन मवेशी बाज़ार का दलाल सब ओबीसी है। उसका भी धंधा साथ में ख़त्म हो गया। अब आप मवेशी को न बेच सकते हैं, न ख़रीद सकते हैं। ख़रीदने के लिए पैसा नहीं है, बेचने के लिए

हिम्मत नहीं है।

और कौन-कौन 'सफ़र' किया? किसान। किसान कौन सी जात है? मराठा। पहले मुसलमान, फिर ओबीसी, फिर मराठा किसान और अंत में सबसे नीचे वाले क्षेत्र पर बुरा असर पड़ा। आप 'मेक इन इंडिया' की बात करते हैं। महाराष्ट्र में सौ साल पहले एक 'मेक इन इंडिया' ब्रांड था. कोल्हापुरी चप्पल। वो कौन बनाते हैं? दलित। चप्पल तो दलित ही बनाते हैं, और कौन? वो दिवालिया हो गया। आपने मुसलमान को दंडित करने के लिए जो किया, उससे आपने ओबीसी, मराठा, सारे उच्च वर्ण के किसानों को भी पनिश कर दिया जिनके पास चार पांच मवेशी थे। टाइम्स ऑफ़ इंडिया में एक रिपोर्ट आयी। एक आदमी के पास दस गायें थीं। वो मराठा किसान था। अकाल पड़ रहा था पांच साल से। उसने कहा, मैं अपने परिवार को खाना नहीं दे सकता हूं, दस गायों को कैसे दूं। रिपोर्टर ने उससे पूछा, आप इसे मार्केट में क्यों नहीं ले जा रहे? उसने कहा, हाइवे पर बजरंग दल, वीएचपी के लोग मुझे ख़त्म कर देंगे। तो आप क्या करेंगे? उसने कहा, मैं अपनी गायों को अपनी आंखों के सामने मरता देखूंगा। उधर उत्तराखंड में लोगों ने अपने मवेशियों को ले जाकर जंगल में छोड़ दया। बाघों और तेंदुओं को इस तरह मुफ़्त मीट आप दे रहे थे, इधर लोग भूखे मर रहे थे।

इस देश में गणना कैसे की जाती है, इसे देखिए। हर पांच साल पर देशव्यापी मवेशी गणना की जाती है। 2017 की मवेशी गणना अब तक नहीं की गयी है, जिसे 2016 में ही शुरू हो जाना था। 2018 की जनवरी में मैंने मंत्रालय से पूछा कि आपकी गणना अब तक शुरू भी नहीं हुई। मालूम है क्या जवाब दिया? साब, इस साल हम लिख के नहीं कर रहे, टैबलेट पर कर रहे हैं। तो हज़ारों सरकारी कमर्चारियों को टैबलेट के इस्तेमाल करने की ट्रेनिंग अभी चल रही है। अब तक 2017 की गणना नहीं हुई। इस तरह से तीन साल की देरी को जस्टिफ़ाई किया गया।

मैं 1990 के दशक से इस गणना को देख रहा हूं। 2003 के सेंसस से मैं देख रहा हूं कि हर पांच साल पर उन मवेशियों की संख्या घट रही है जिन्हें ग़रीब पालते हैं, जैसे ऊंट, सुअर, बकरी, भेड़। सबसे बड़ी गिरावट किसकी आयी है? देसी गाय। भारतीय नस्ल वाली मज़बूत प्रजाति की गाय। यह इसलिए, क्योंकि आपका वैज्ञानिक और कृषि प्रतिष्ठान, पशुपालन प्रतिष्ठान, सब संकर नस्ल की सर्विस ब्राउन जर्सी को प्रमोट कर रहा है। इंडिया में एक और प्रजाति आयी है। करनाल में आप जायेंगे तो आपको लोग बतायेंगे—आधा जर्सी। यह क्या चीज़ है? यह किस चिड़िया का नाम है? आधा जर्सी मतलब देसी गाय को जर्सी गाय के वीर्य से गाभिन बनाना। मेरी किताब में पहली कहानी इसी पर है।

मैं 2006-07 का अपना पर्सनल अनुभव बता रहा हूं। मनमोहन सिंह जी ने मुझसे दो-तीन बार बात किया कि क्या करना है। मैंने कहा, प्रधानमंत्री जी, हर किसान मवेशी पालक नहीं है। पशुपालक एक अलग श्रेणी होती है। उसके लिए ट्रेनिंग चाहिए। 2004 से 2006 तक विदर्भ का कृषि संकट चरम पर रहा। मैंने जितने भी पत्र लिखे सरकार को, उनके बावजूद राज्य और केंद्र सरकार ने सैकड़ों भैंस और विदेशी गायें बांट दीं। मैंने जितना भी कहा, मनमोहन सिंह ने उलटे गाय भैंस का वितरण किया क्योंकि विलासराव देशमुख कह रहे थे कि साइनाथ तो पत्रकार है, मैं किसान हूं। यह अलग बात है कि वो कॉरपोरेट किसान थे। इनके लाभार्थी पूरी तरह दिवालिया हो गये। उस गाय को पालने के लिए 300 रुपया प्रतिदिन चाहिए कम से कम और हर हफ़्ते में दो बार पशु चिकित्सक को भी बुलाना होता था। इस नस्ल की पैदाइश योरप के तापमान में हुई है, यहां यवतमाल में 47 डिग्री में आप इसे रखेंगे तो क्या होगा? पहले छह महीने में ही 37 में से 20 गायें मर गयीं। परिवार दिवालिया हो गये।

एक महिला थी कमलाबाई गुणे। विधवा थी। उसके पति ने ख़ुदकुशी कर ली थी कृषि संकट के

कारण। मैंने तीन दिन देखा कि वर्धा में वह बूढ़ी औरत करनाल वाली बड़ी भैंस लेकर लगातार सड़कों पर घूम रही है। मैंने पूछा, कमलाबाई, आप क्या कर रही हैं भैंस के साथ। उसने कहा, साब, देख रही हूं कोई लेने वाला मिल जाये तो। मैंने कहा, इतनी बड़ी और अच्छी भैंस है, इसे आप किसी को क्यों दे रही हैं। वो बोली, साहेब, ये भैंस नहीं है भूत है। मेरे पूरे परिवार से ज़्यादा खाती है। अगर आप किसान को 250 रुपया रोज़ देते हैं तो कृषि संकट ही ख़त्म समझिए, जबकि उस गाय या भैंस की न्यूनतम लागत ही रोज़ाना 250 रुपये है, दो बार हफ्ते में पशु चिकित्सक को दिखाना भी है अलग से।

मेरा सबसे बड़ा अनुभव बताता हूं। एक रात मैं आठ बजे एक गांव में घूम रहा था। एक आदमी आया बड़ी सी भैंस लेकर। वह एक पढ़ा-लिखा किसान था, बीएससी साइंस। वो बहुत पी के आया मेरे सामने। वो बोला, आप कौन हैं मेरे गांव में? मैं बोला, पत्रकार हूं, आपके डिमांड और हितों के बारे में लिखने आया हूं। वो बोला, मैं डिस्काउंट पर देता हूं, यह भैंस ख़रीद लो। मैंने बोला, मैं पत्रकार हूं, भैंस का क्या करूंगा। उसने कहा, देखो, समझो, यह साधारण भैंस नहीं है, प्रधानमंत्री की भैंस है। स्पेशल है। फिर मैंने कहा, देखो यार, मैं शहर का रहवासी हूं, क्या करूंगा ले जाकर। उसने कहा, आप पत्रकार लोग एकदम बेकार हैं। आप नोटबुक निकालो, मेरी मांग लिखो। उसी समय छठवां वेतन आयोग आया था। उसने मुझे लिखवाया, 'अब अगला पे कमीशन आयेगा, तो जितना बाबू लोग को आपने इंक्रीमेंट दिया, सबको एक एक गाय भैंस दे देना, इंक्रीमेंट हम किसान लोग को दे देना। उनको एक एकड़ ज़मीन भी दे दो उसको पालने के लिए, लेकिन नक़दी हमको दे दो।' बढ़िया डिमांड था।

गांवों में जो नुक़सान हुआ है वह क़ुदरती नहीं, हमारी आर्थिक नीतियों से हुआ है। यह जान-बूझकर हुआ है। मानवरचित है। उसके साथ देश में असमानता बढ़ गयी है। असमानता सबसे ज़्यादा गांवों में बढ़ी। आपको मैं दो आंकड़े देता हूं। 1991 में नयी आर्थिक नीति से पहले इस देश में एक भी डॉलर अरबपति नहीं था। फिर *फोर्ब्स मैगज़ीन*—जो ग्लोबल पूंजीवाद की पुजारी है, उसका 2000 में जो अंक आया, उसमें बताया गया कि डॉलर अरबपति भारत में 8 हो गये। फिर 2012 में 53 डॉलर अरबपति हो गये। 2018 में 121 डॉलर अरबपति इस देश में हो गये। आपकी जनसंख्या 130 करोड़ से ज़्यादा है, इसमें 121 आदमी (तीन चार महिला भी है उसमें) की धन-दौलत का वैल्यू हिंदुस्तान की जीडीपी का 22 परसेंट है। दुनिया में कोई भी समाज ऐसी असमानता पर टिका नहीं रह सकता।

2011 की जनगणना में पता चला कि सबसे बड़ा पलायन हुआ है इस देश के इतिहास में। विभाजन के बाद भी इतना बड़ा पलायन नहीं दिखा था। कोई नौकरी तो कोई छिटपुट काम के लिए गांव छोड़कर भाग रहा है जबकि शहर में काम है नहीं। आपने एक रोज़गार नहीं क्रिएट किया। जो किसान बनारस छोड़ कर जाते हैं उनको लखनऊ में इंफ़ोसिस में काम मिलेगा क्या? हां, मिल भी सकता है, लेकिन उसकी कैंटीन में चाय बांटने का काम। 1991 और 2011 सेंसस में देखिए, किसानों की आबादी 150 लाख गिर गयी। कहां गये ये किसान? सेंसस में एक और कॉलम में आप देख सकते हैं कि खेत मज़दूरों की संख्या बढ़ रही है। मतलब जितनी ज़मीन गयी, जितने लोग खेती छोड़ गये, वे सब मज़दूर बन गये। इसकी रिपोर्टिंग किसने की? उन ग्रामीण पत्रकारों ने, जो मेरे साथ घूमते हैं। वे ही दिखा सकते हैं आपको कि देश में दरअसल क्या हो रहा।

थोड़ा सा आपकी संसद के बारे में भी बात करना चाहता हूं। 2004 में आप नया हलफ़नामा ले आये जिसमें हर प्रत्याशी को खुद अपनी धन दौलत के बारे में उद्घाटन करना था। हमारा विधायक सब कितना ईमानदार है, कोई आइटी रिटर्न उससे नहीं लेगा, जो खुद बताये वो ही चलेगा। इस हलफ़नामे के मुताबिक़ 2004 में निर्वाचित लोकसभा प्रत्याशियों में 32 परसेंट करोड़पति निकले। ख़ुद उन्होंने

स्वीकार किया। 2009 में यह बढ़कर 53 परसेंट हो गया। 2014 में 82 परसेंट करोड़पति लोकसभा में पहुंचे। तब मैंने सोचा कि इस बार 2019 में 100 परसेंट क्रॉस करना ही पड़ेगा, लेकिन इतनी मॉडेस्टी है हमारे नेताओं में कि यह आंकड़ा 88 परसेंट पर ही रह गया। इस बार सेल्फ़ डिक्लेयर्ड 88 परसेंट करोड़पति लोकसभा में हैं। यह एडीआर (असोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ॉर्म्स) का आंकड़ा है। वो हर साल इसे जारी करता है। एक तरफ़ यह हो रहा है। दूसरी तरफ़ अरबपति बढ़ रहे हैं। और एक तरफ़ नरेगा को देखिए, कि वहां क्या हो रहा है।

मैंने अरबपति और नरेगा मज़दूरों की तुलना की है। कुल 121 अरबपतियों में नंबर वन कौन है? जिसके पास इतना पैसा है कि दो और तीन नंबर वाले को मिलाकर भी उससे कम पड़ता है? उसका नाम है मुकेश भाई। मुकेश भाई ने 2017 में एक साल में 16.9 अरब डॉलर पैसा कमाया। रुपये में उस समय यह एक लाख पांच हज़ार करोड़ था। मैंने सोचा कि अगर मैं नरेगा मज़दूर हूं तो मैं भी एक लाख पांच हज़ार करोड़ रुपया कमा सकता हूं। हां, लेकिन थोड़ा टाइम लगेगा इसमें। एक लाख 87 हज़ार साल लगेगा इतना पैसा कमाने में। या कहें, 187 लाख नरेगा मज़दूर लगेंगे इतना पैसा एक साल में कमाने में।

यह संकट जितना बढ़ रहा है गांव में, उतना ही धन का संकेंद्रण बढ़ रहा है राजधानी में, मुंबई में। मुंबई हिंदुस्तान का सबसे अमीर शहर है। वहां से नब्बे किलोमीटर दूर ठाणे में भुखमरी से 17000 आदिवासी की मौत हर साल होती है, 2017 में बाम्बे हाइकोर्ट के एक फ़ैसले में यह सामने आया था। ये कुपोषण से जुड़ी मौतें थीं, सरकार ने माना था। जैसे जैसे यह असमानता बढ़ रही है, गांवों की जीवनशैली ख़राब हो रही है। इसकी रिपोर्टिंग एक बड़ी चुनौती है जिसे ग्रामीण पत्रकार ही पूरा कर सकते हैं। जब आप इस तरह की चीज़ें रिपोर्ट करेंगे तो एक तो प्लेटफ़ार्म की दिक़्क़त है कि इसे कौन छापेगा, दूसरा हमले की आशंका। हमला केवल शारीरिक नहीं है, दूसरे क़िस्म का भी हो सकता है। जैसे दिल्ली में परंजय गुहा ठाकुरता ने जब *गैस वार्स* नाम की किताब लिखी थी रिलायंस पर। रिलायंस ने उनको सौ करोड़ का नोटिस थमा दिया था। जब रिलायंस 100 करोड़ का नोटिस परंजय को देता है तो वह जानता है कि उसकी जेब में सौ रुपया भी शायद होगा, लेकिन रिलायंस को पैसा नहीं चाहिए। यह तो चेतावनी है बाक़ी पत्रकारों को, कि आप भी अगर ऐसा लिखेंगे तो आपको ख़त्म कर दिया जायेगा।।

एक के बाद एक रैकेट है यहां। फ़सल बीमा योजना को लें...मैं बार-बार कह रहा हूं कि यह राफ़ेल घोटाले से भी बड़ा घोटाला है। राफ़ेल का कितना है? 58000 करोड़। फ़सल बीमा में अब तक की कुल पब्लिक मनी है 86 हज़ार करोड़ और यह पैसा किसान को नहीं, बीमा कंपनियों को जा रहा है। चंडीगढ़ के *ट्रिब्यून* अख़बार ने आरटीआइ लगाया था इस पर। उसमें सामने आया कि पहले 24 महीने में जब 42000 करोड़ सेंटर और स्टेट का ख़र्च हुआ, तो 13 बीमा कंपनियों ने मिलकर 15,995 करोड़ रुपये का मुनाफ़ा बनाया यानी हर दिन का मुनाफ़ा 21 करोड़ रुपये। यह फ़सल बीमा योजना कितनी ख़राब स्कीम है, इससे अंदाज़ा लगायें कि कौन से राज्य ने सबसे पहले केंद्र से कहा कि हमको यह नहीं चाहिए. मोदी जी का गुजरात। उसने केंद्र से कहा कि हमें अपनी योजना चाहिए, केंद्र की नहीं। अगर मोदी जी का गृहराज्य कह रहा है कि हमें यह योजना नहीं चाहिए, तो बाक़ी का हाल समझो क्या होगा।

जो बड़े बुद्धिजीवी हैं, वे सब कॉरपोरेट के लिए लिखते हैं। आप देखिए, 2014 में जब यह सरकार आयी तो इसने स्वामिनाथन कमीशन के हिसाब से एमएसपी (न्यूनतम समर्थन मूल्य) देने का वादा किया यानी उत्पादन लागत प्लस पचास परसेंट। साल भर के भीतर सुप्रीम कोर्ट में सरकार ने हलफ़नामा दे दिया कि वह यह नहीं कर सकती क्योंकि इससे बाज़ार मूल्य बिगड़ जायेगा। 2016 में राधामोहन सिंह,

तत्कालीन कृषि मंत्री, ने बोला कि हमने ऐसा वादा कभी किया ही नहीं था। 2017 में इन्होंने कहा कि स्वामिनाथन छोड़ो, शिवराज चौहान का एमपी वाला मॉडल देखो। एक बड़े बुद्धिजीवी और अर्थशास्त्री ने इस पर एक किताब लिखी। जिस दिन दिल्ली के आइआइसी में उसका लोकार्पण हो रहा था, उसी दिन मंदसौर में पांच किसानों को गोली मार दिया गया। यह था एमपी मॉडल। जब आपने मुझे पब्लिक इंटेलेक्चुअल कहा तो मैंने सोचा कि बाक़ी सब प्राइवेट इंटेलेक्चुअल हो गये हैं क्या! सच यही है कि एलीट बुद्धिजीवी सब कॉरपोरेट के लिए लिख रहे हैं।

पत्रकारिता में अभी दो स्कूल हैं। एक है पत्रकारिता, दूसरा स्टेनोग्राफ़ी। अभी अख़बार और चैनल में स्टेनोग्राफ़ी कर रहे हैं सब। जो मालिक बोलता है, वे लिखते हैं। मैं *पीपुल्स आर्काइव ऑफ़ रूरल इंडिया* (परी) नाम की वेबसाइट तेरह भाषाओं में चला रहा हूं। बड़े-बड़े पत्रकार छद्म नाम से हमको लेख और फ़िल्में दे रहे हैं क्योंकि उनके यहां वह छपने वाला नहीं है। मेरी सीनियरिटी के लोग मुझे लिख कर दे रहे हैं। वे भी एक ज़माने में पत्रकारिता में अच्छा काम करने के लिए आये थे, समाज में सुधार करने के लिए आये थे। गांधी, आंबेडकर, भगत सिंह, सब इसी आदर्शवाद और समाज सुधार को लेकर पत्रकारिता में आये थे।

जिसे हम कृषि संकट कहते हैं, वह दरअसल समाज का संकट है। मिस्त्री, दर्जी, मोची, सारे संबद्ध पेशे कोलैप्स कर रहे हैं। मैं कहता हूं कि यह समाज का संकट भी नहीं है, यह सभ्यता का संकट है। हमारी सभ्यता छोटे किसान, छोटे मज़दूर पर आधारित है। इसलिए यह सभ्यता का संकट है। मैं आख़िर में यह भी कहता हूं कि जो आग कृषि में लगी है वो मध्यवर्ग तक पहुंच चुकी है तब भी हम आवाज़ नहीं उठाते हैं। तीन लाख 20 हज़ार किसान ख़ुदकुशी कर चुके हैं और हम चुपचाप बैठे हैं। क्या समाज है जो चुपचाप इसे स्वीकार कर रहा है? इसलिए मैं कह रहा हूं कि यह हमारी इंसानियत का संकट है।

इस संकट के बीच आख़िर ग्रामीण पत्रकार कैसे अपना काम करे? मैं क्या सलाह दूं आपको? आप ख़ुद ही अनुभव कर रहे हैं। यह संकट आपका है। दिक़्क़त यह है कि डिबेट नहीं हो रही है, संवाद नहीं हो रहा है। यह दरअसल क्लाइमेंट चेंज का मुद्दा है, लेकिन अख़बारों में रिपोर्टिंग के नाम पर कुल मिलाकर अमेज़ोन या आस्ट्रेलिया के जंगलों की आग या फिर अंटार्कटिका की बर्फ़ पिघलने की ख़बरें हैं। मैंने मराठी ग्रामीण पत्रकार संघ को भी यही कहा, कि मैं इसे मौसम का महासंकट मानता हूं। मैं 'परी' में देशव्यापी रिपोर्टिंग प्रोजेक्ट कर रहा हूं। अरुणाचल से महाराष्ट्र और तमिलनाडु तक हम क्लाइमेंट चेंज पर अलग तरीक़े से रिपोर्टिंग कर रहे हैं। आम लोगों के अनुभवों के हिसाब से क्लाइमेंट चेंज की रिपोर्टिंग। मुझको आश्चर्य लगता है कि जब हम एक्सपर्ट से बात करते हैं तो वे एक्सपर्ट भी आम लोगों के अनुभवों की ही पुष्टि कर रहे होते हैं। ग़रीब आदमी उनकी तरह शब्द भले इस्तेमाल नहीं कर सके लेकिन गांव के लोग तापमान, मौसम आदि के बदलने का बेहतर अनुभव करते हैं। मछुआरे बेहतर जानते हैं कि तापमान, मौसम और जलवायु के बीच क्या अंतर है। दक्षिण एशिया में बुरी तरह मौसम का महासंकट आ रहा है। मोदी जी जाते हैं पेरिस में, वैसे तो वे घूमते ही रहते हैं, वहां वे कुछ भी कह देते हैं क्लाइमेट के बारे में और अख़बार छाप देते हैं। आप देखिए, हिमालय के बंजारे, तमिलनाडु के मछुआरे, ये सब इसका विकल्प अपने स्तर पर खोज रहे हैं। तमिलनाडु के मछुआरों ने एक सामुदायिक रेडियो निकाला है 'साउंड आफ द वेव्स'। इससे वे अपने समुदाय को क्लाइमेट चेंज के बारे में शिक्षित कर रहे हैं। केरल सबसे पहला राज्य है जो समुद्र का जलस्तर बढ़ने से प्रभावित होगा। वहां रह रहे ग्रामीण लोग अपने अनुभवों से जानते हैं कि क्लाइमेट चेंज में क्या हो रहा है। इसे केवल ग्रामीण पत्रकार ही रिपोर्ट कर सकता है, शहरी पत्रकार नहीं। नगरी पत्रकार तो बहुत मुश्किल से गाय और भैंस या गेहूं

और चावल के बीच फ़र्क़ बता सकता है। दिक्क़त यह है कि अभी तो हमारा हाल बुरा है, आगे और बुरा होने वाला है। हम लोग क्या करें ऐसे में...?

मेरी समझ में एक प्लेटफ़ॉर्म होना चाहिए, और एक नेटवर्क होना चाहिए। अभी एक बात देखें। यह क्राइसिस इतनी दूर रह गयी है कि अगले साल दो लाख आइटी वर्कर बेरोज़गार हो जायेंगे। 2018 में 70000 लोग आइटी सेक्टर से बेरोज़गार हुए थे। मैं चाहता हूं कि आप लोग वो करें जो हमने किया है। आप लोग सहकारी मॉडल पर वेबसाइट बनाइए। हम आपकी मदद करेंगे। 'परी' आपकी मदद करेगा। एक ज़िले में आठ दस लोग मिल कर सहकारी वेबसाइट बनाओ। कंपनी नहीं बनाना है। ट्रस्ट या सोसायटी बनाओ। कोशिश करो एक बड़ी वेबसाइट बनाने का, जो यूपी के सभी ज़िलों को कवर करे। प्लेटफ़ार्म तो मिलेगा। आप विज्ञापन भी ले सकते हैं। वेबसाइट चलाना अख़बार से ज़्यादा सस्ता है। अख़बार में 70 परसेंट न्यूज़प्रिंट की ही लागत आ जाती है। आइटी सेक्टर में बहुत से आदर्शवादी बच्चे हैं, नौजवान हैं, जो इसको सेटअप करने में आपकी मदद करेंगे।

दूसरा, सुरक्षा के लिए पत्रकारों का एक नेटवर्क। उसको सपोर्ट कर के संगठन बनाओ। यूनियन को रिवाइव करो। अगर कुछ होगा, जैसा पवन जायसवाल के साथ हुआ, तो देश के हर पत्रकार को 24 घंटे में उसका पता चलना चाहिए। वहां प्रोफ़ेसर विजय प्रसाद के साथ मिलकर मैं भी सोच रहा हूं कि पत्रकार सुरक्षा पर एक साइट बनायी जाये, नेटवर्क खड़ा किया जाये। इसमें समाधान तो नहीं होगा, लेकिन उसकी तरफ़ हम पहला क़दम ज़रूर उठा सकते हैं। इतना ही मैं आपसे कहना चाहता था।

मेरे लिए ग्रामीण पत्रकार बहुत अहम हैं। इसीलिए मैं एडिटरशिप छोड़कर ग्रामीण पत्रकारिता में आया। अभी यह काम करते मुझे पूरा 26 साल हुआ। कल मैं रीयूनियन कर रहा हूं यूएनआइ दिल्ली में। एक आख़िरी कहानी बताकर ख़त्म करूंगा, कि कैसे एक छोटे से क़स्बे के एक पत्रकार ने मुझको इनवेस्टिगेशन का एक सबक़ सिखाया।

उस वक्त मैं यूएनआइ ज्वाइन नहीं किया था। बाग़पत में एक रेप केस हुआ था...बहुत फ़ेमस। पीटीआइ में स्टोरी आयी। छोटी सी स्टोरी। हमारा यूएनआइ का एडिटर आ कर रोया ऑफ़िस में, कि पीटीआइ की स्टोरी आ गयी, लेकिन हमको नहीं मिली, क्या करें। हमने बाग़पत, मेरठ के एक स्ट्रिंगर को फ़ोन किया। उसने कहा कि चिंता मत करिए साहब, मैं दस मिनट में स्टोरी दिलवा देता हूं। और दस मिनट में स्टोरी आ गयी। इधर दिल्ली आफ़िस में सब सोच रहे थे कि स्टोरी जेनुइन है या नहीं। कोई भी इंसान दस पंद्रह मिनट में इतनी बड़ी स्टोरी नहीं ला सकता है। हमने उसे कैरी किया। स्टोरी सही थी। उसके बाद मैंने बीस साल तक उसको परेशान किया पूछ कर, यार बड़े भाई, आप मुझको बताओ, कैसे मिली ये स्टोरी दस मिनट में। बीस साल के बाद एक दिन हलके मूड में उसने मुझे बताया कि उनका एक दोस्त था जिसका छोटा सा ऑफ़िस थाने के उस पार पहली मंज़िल पर था। इसने यहां से एसएचओ को फ़ोन कर के कहा. 'आपका एक मिनट जान बचा है, मैं डीआइजी वेस्टर्न रेंज बात कर रहा हूं, एक मिनट के अंदर बताओ क्या क्या हुआ है।' उसने सब सही सही बता दिया।

बीस साल के बाद उसने यह सब मुझे बताया। मैंने उससे पूछा बीस साल तक मुझे यह क्यों नहीं बताया। उसने कहा—यार ये मेरठ है, बाग़पत है। अगर मेरा नाम पता लग गया होता तो एक और रेप केस हो जाता।

धन्यवाद

-पी. साइनाथ की अनुमति से, *मीडिया विजिल* वेबसाइट से साभार

इसे ख़बरों का मृत्यु-लेख ही समझिए

राकेश तिवारी

यह जो यहां लिखा जा रहा है, ख़बरों का या कहिए कि पत्रकारिता का मृत्यु-लेख है। बेशक अख़बार पृष्ठ संख्या के लिहाज से मोटे हुए हैं, ख़बरिया चैनलों की संख्या और बकबक लगातार बढ़ रही है, सोशल मीडिया प्लेटफ़ार्म और डिज़िटल मीडिया सहित समूचे मीडिया का बहुत तेज़ी से विस्तार हुआ है, इसके बावजूद इसे पत्रकारिता का सबसे शर्मनाक दौर माना जा रहा है। मुख्यधारा के मीडिया को लेकर आम लोगों में अविश्वास के साथ-साथ आक्रोश भी है। इसकी कुछ जायज़ वजह निश्चित तौर पर है। पर यह भी देखना होगा कि आलोचना को लेकर राजनीतिक हलक़ों से लेकर आम लोगों तक में असहिष्णुता बढ़ी है। हर किसी के लिए मीडिया की निष्पक्षता का मतलब उनके बारे में सकारात्मक और विरोधियों के बारे में नकारात्मक रिपोर्ट देना है। पत्रकारों को साधने के लिए लोभ, लालच, दबाव और डराने-धमकाने जैसे हथकंडे हमेशा से अपनाये जाते रहे हैं। बड़ी संख्या में पत्रकारों की हत्याएं भी होती रही हैं। लेकिन इधर के वर्षों में नौकरी की असुरक्षा से अलावा एक अलग तरह के भय का वातावरण बना है, जिससे मीडिया एक अभूतपूर्व दबाव महसूस कर रहा है।

मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के एक गांव के मामले को ही लें, जहां के प्राइमरी स्कूल में दोपहर के भोजन में नमक के साथ रोटी परोसी गयी। स्थानीय पत्रकार पवन जायसवाल ने इसका वीडियो बनाया। हंगामा मचा तो बच्चों की दाल-सब्जी खा जाने वालों की जगह पत्रकार के ख़िलाफ़ ही साज़िश करने, गलत साक्ष्य बना कर वीडियो वायरल करने और सरकार की छवि ख़राब करने को लेकर आईपीसी की कई धाराओं के तहत मुक़दमा दर्ज़ कर लिया गया। उसका साथ देने वाला ग्राम प्रधान भी मुक़दमे की चपेट में आया। ह्वट्सएप जैसी सुरक्षित बतायी जाने वाली मैसेजिंग सर्विस पर पत्रकारों की कथित जासूसी हाल की घटना है, जिसे भय की व्याप्ति के अलावा लोकतंत्रात्रिक अधिकारों और ख़ास कर निजता पर ख़तरे की तरह देखा गया है।

ग़ौर करने की बात है कि अख़बार और विशेषकर चैनल जो परोस रहे हैं उसमें बाकी सारा मसाला तो है लेकिन निष्पक्ष और पूर्वाग्रह रहित ख़बर नदारद है। एक तरह से ख़बरों की जगह ख़बरों का छद्म है। लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रहरी की तरह पाठकों-श्रोताओं तक ख़बरें पहुंचाने की अपनी ज़िम्मेदारी से पत्रकारों ने मुंह क्यों मोड़ लिया? क्या पत्रकारिता को इस अंजाम तक योजनाबद्ध तरीक़े से पहुंचाया गया है?

यों पत्रकारिता के पतन की शुरुआत भूमंडलीकरण की पहली खेप के साथ हो गयी थी, जब पत्रकारिता में व्यावसायिक हित जनहित से ऊपर होने लगे थे। लेकिन इधर के वर्षों में जो हुआ वह अकल्पनीय है। कोई सोच नहीं सकता कि दुनिया के इस सबसे बड़े लोकतंत्र में अख़बार और ख़बरिया

चैनल अपने पाठकों व दर्शक-श्रोताओं को केवल ख़बरें देने में असफल नहीं हुए हैं, बल्कि ऐसा लगता है उन्हें छुपाने के लिए कहीं ज़्यादा मशक़्क़त कर रहे हैं। क्या लोकतंत्र के चौथे स्तंभ का मतलब सत्ता पक्ष का चौथा स्तंभ होता है?

असल में मीडिया की विश्वसनीयता में गिरावट तो दुनिया भर में आयी है। जिस अमेरिका में अख़बारों और उनके पत्रकारों को पिछले कई दशकों से बहुत ही सम्मान के साथ देखा जाता रहा है, वहां आज उन पर आम जनता का भरोसा काफ़ी कम हुआ है। एक अध्ययन में अमेरिका में मीडिया की विश्वसनीयता कम होने का कारण ज़्यादातर लोगों ने दूसरी बातों के अलावा रिपोर्टों का यथार्थ से परे होना, पूर्वाग्रहग्रस्त होना और फ़ेक न्यूज़ को माना। यह हमारे देश के मीडिया पर भी लागू होता है। फ़र्ज़ी ख़बरें तो हर दौर में छपती रही हैं और प्लांट भी होती रही हैं। लेकिन ऐसा कभी-कभार ही होता था। रपटों और विश्लेषणों में पूर्वाग्रह भी देखा जाता रहा है। पर इधर जन-सरोकारों से जुड़ी ख़बरें, जनांदोलनों, ट्रेड यूनियन गतिविधियों, मज़दूरों, किसानों, दलितों, आदीवासियों और आम ग़रीबों के हितों से जुड़ी ख़बरें पूरे परिदृश्य से लगभग ग़ायब हैं।

कभी प्याज महंगा होने पर दिल्ली में सरकार बदल गयी थी और आज प्याज़ जब सौ रुपये किलो बिक रहा है तो कोई हलचल नहीं है। आसामान छूती महंगाई, भयंकर बेरोज़गारी व आर्थिक मंदी कोई मुद्दा नहीं बन पा रहा है। इस साल के शुरू में लोकसभा चुनाव से पहले बिजनेस स्टेंडर्ड में बेरोज़गारी पर सरकारी रिपोर्ट के लीक हुए नतीज़े छपते हैं। उसी ख़बर के हवाले से दी न्यूयार्क टाइम्स में ख़बर छपती है कि मोदी सरकार पर नेशनल इंप्लायमेंट रेट पर सरकारी रिपोर्ट को दबाने का आरोप लगा है। एन.एस.एस.ओ की रिपोर्ट के हवाले से जो ख़बर छपी थी वह यह थी कि देश में 2017-18 में बेरोज़गारी दर 45 साल के सबसे ऊंचे स्तर पर पहुंच कर 6.1 फ़ीसद हो गयी है। पर यह मीडिया के एक बड़े वर्ग की चिंता का विषय नहीं बना।

कोबरा पोस्ट ने 2018 में मीडिया संस्थानों पर एक स्टिंग ऑपरेशन किया था। जिसका लब्बोलुआब यह था कि कई मीडियाकर्मी और पत्रकार धन लेकर भाजपा के राजनीतिक एजंडा को आगे बढ़ाने के लिए तैयार दिखे। इसे लेकर बीबीसी के दक्षिण एशिया संवाददाता जस्टिन रौलेट ने मई 2018 में लिखा था कि 'कोबरा पोस्ट का ऑपरेशन 136 एक ऐसा स्कैंडल है जो भारतीय लोकतंत्र के एक अहम स्तंभ 'प्रेस की आज़ादी' पर ज़ोरदार हमले का दावा करता है। इसके बावजूद भारतीय न्यूज़ चैनलों और अख़बारों में इससे जुड़ी ख़बरें नज़र नहीं आयीं।'

अख़बार या चैनल कभी-कभार शहरी मध्यवर्ग की बात ज़रूर कर लेते हैं, अन्यथा ज़्यादातर अवसरों पर पक्षकार बन कर दिन-रात राजनीतिक प्रोपेगेंडा को आगे बढ़ाते हुए ही दिखायी दे रहे हैं। कुछ अख़बारों ने तो राजनीतिक लेख छापने भी बंद कर दिये। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।

पेड न्यूज़ के अलावा फ़ेक न्यूज़ इधर पत्रकारिता में एक बड़े संकट के रूप में सामने आयी है। इन दिनों फेक या प्लांटेड न्यूज़ के तमाम उदाहरण हमारे सामने हैं। आख़िर ऐसी ख़बर क्यों छापी या दिखाई जाती हैं? क्या यह केवल चूक हो सकती है? चूक तो विरले ही होती है। ख़बर को देखकर, यानी वह किसके बारे में है और उसके टाइमिंग क्या हैं जैसी कई बातों से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि उसका मक़सद क्या है।

एक ख़बरिया चैनल ने वर्षों पुरानी एक फ़ोटोशॉप की गयी फ़ोटो के आधार पर ख़बर चला दी कि केरल में हिंदुओं का धर्मांतरण करने के लिए रेट कार्ड के मुताबिक़ ब्राह्मण, पंजाबी, क्षत्रिय, ओबीसी, दलित और जनजातीय लड़की के क्या रेट तय किये गये हैं। क्या यह चूक होगी? इसी तरह अरुंधति

राय के हवाले से एक ख़बर आयी कि 'कश्मीर में 70 लाख भारतीय सैनिक आज़ादी गैंग को हरा नहीं सकते'। इस पर, विपक्ष के उठाये मुद्दों पर बहस से अक्सर परहेज़ करने वाले टीवी चैनलों में बहस भी हो गयी। बीजेपी सांसद परेश रावल ने अरुंधती पर हमला बोल दिया। बाद में *द वायर* की जांच-पड़ताल से सच सामने आया कि यह ख़बर झूठी थी। झूठी ख़बरों के ऐसे बहुत से मामले सामने आते रहते हैं जिनमें से कुछ आपके संज्ञान में भी आये होंगे। फ़ेक न्यूज़ के मामलों में यह भी देखने में आया है कि अख़बार तो फिर भी शर्म करते हुए माफ़ी मांग लेते हैं लेकिन न्यूज़ चैनल प्रायः अपने झूठ पर अफ़सोस तक ज़ाहिर नहीं करते और चुप्पी साध लेते हैं।

पत्रकारिता का सिद्धांत है कि अफ़वाह और अंधविश्वास फैलाने वाली ख़बरें नहीं छापनी चाहिए। लेकिन न्यूज़ चैनलों से लेकर अख़बारों तक में लगातार ऐसी ख़बरें जगह पाती हैं। दंगा-फ़साद भड़काने वाली ख़बरें बहुत सावधानी से छापनी चाहिए लेकिन कई बार उन्हें, घुमा-फिरा कर दोनों पक्षों की पहचान उजागर करते हुए पेश किया जाता है। विपक्ष जब भी किसी मुद्दे पर कोई गंभीर बहस छेड़ता या सत्ता पक्ष को घेरता है तो यह लगातार देखने में आया है कि उस ख़बर को या तो जगह नहीं मिलती, या इस तरह और इतनी कम जगह दी जाती है कि ख़बर का कोई वजूद ही नहीं रह जाता। यह एकदम नया चलन है। कुछ वर्ष पहले तक बड़ी ख़बर अक्सर विपक्ष की ओर से उठाये जाने वाले मुद्दों से बना करती थी। अब विदेश में भारत के प्रधानमंत्री का भव्य स्वागत बड़ी ख़बर होती है।

आप जानते हैं कि फ़ेसबुक के स्वामित्व वाली मैसेजिंग सर्विस ह्वट्सएप ने अभी हाल में आरोप लगाया था कि इज़राइली कंपनी एन.एस.ओ. के स्पाइवेयर 'पेगासस' के ज़रिये कई लोगों की जासूसी की गयी, जिनमें राजनयिक, पत्रकार राजनीतिक विरोधी और मानवाधिकार कार्यकर्ता शामिल हैं। भारत में भी दर्ज़नों पत्रकार और मानवाधिकार कार्यकर्ता इस जासूसी के शिकार हुए बताये गये थे। इससे भारतीय राजनीति में एकाएक तूफ़ान-सा आ गया था। इस पर गृह मंत्रालय ने कहा कि नागरिकों की निजता का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है और ऐसी ख़बरें भारत की छवि को धूमिल करने की कोशिश है। अंततः, यह जितना गंभीर मसला लगता था मीडिया ने उतनी ही 'गंभीरता' से इसे कुछ ही दोनों में भुला दिया। यह बहस ही निपट गयी कि भारत में जासूसी करने-कराने वाले अगर कोई थे तो कौन थे और उनका मक़सद क्या था। सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों के घाटे पर मीडिया में केवल सूचनाएं आती हैं, टीवी चैनलों में इस पर बहस नहीं होती कि ये कैसे डूब रही हैं? जिन मामलों को उजागर होना चाहिए उन्हें कोई तवज्जो न देने और ऐसी ख़बरों को छापने-दिखाने से, जो फ़र्ज़ी होती हैं व जिनका जनहित से या तो क़तई या फिर कोई ख़ास लेना-देना नहीं होता, मीडिया की विश्वसनीयता इधर के वर्षों में बुरी तरह घटी है।

ग़ौर करने की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में पत्रकारिता की विश्वसनीयता पर लगातार सवाल खड़े किये गये। ऐसे सवाल जिन्होंने इस संस्था को संदिग्ध बनाया। यह काम पिछले कई वर्षों के दौरान सत्ता पक्ष, विपक्ष या दोनों ने किया और मीडिया के ख़िलाफ़ जनमानस तैयार किया। ऐसा जान पड़ता है जैसे यह काम बड़े ही सुनियोजित तरीक़े से हुआ हो। बहरहाल, मीडिया पर हमलों में आयी यह तेज़ी उसकी विश्वसनीयता घटाने के कारणों में से एक रही है।

हालांकि ऐसा नहीं कि हमले केवल मीडिया पर हुए हैं। बौद्धिक जगत की राय और विपक्ष के आरोपों से स्पष्ट है कि नकारात्मक राजनीति के इस दौर में लोकतांत्रिक संस्थाओं, शिक्षण संस्थानों, राजनीतिक विरोधियों और वैचारिक रूप से असहमति रखने वालों की छवि बिगाड़ने का बाक़ायदा अभियान चल रहा है। यह भी कहा जाता है कि बहुसंख्यक और दबंग स्वर अल्पसंख्यक स्वरों को चुप

कराने में लगे हैं। अहमति के स्वरों को साज़िश क़रार देना इस दौर की सबसे बड़ी विडंबना है। आपको याद होगा, पिछली राजग सरकार के समय सुप्रीम कोर्ट की ओर से राष्ट्रीय न्यायिक जवाबदेही आयोग (एनजेएसी) क़ानून को निरस्त किये जाने पर उस वक्त के एक ज़िम्मेदार मंत्री ने कहा था कि 'ऐसे लोगों की निरंकुशता नहीं चल सकती जो चुने नहीं गये हों।' उन्होंने यह भी कहा था कि अगर निर्वाचितों को तवज्जो नहीं दी गयी तो लोकतंत्र ख़तरे में पड़ जायसेगा। ऐसे बयान ख़ुद प्रमाण बन जाते हैं कि लोकतंत्र में आपकी कितनी आस्था है।

वर्ष 2010 के बाद से ही मीडिया पर यह कहते हुए हमले होने लगे थे कि उसकी निष्पक्षता संदिग्ध है। यूपीए-दो के कार्यकाल में मीडिया पर लगाम कसे जाने और उसके स्वनियमन की चर्चाएं तेज़ होने लगी थीं। मीडिया के भीतर से भी और बाहर से भी उस पर हमले हो रहे थे। तब विपक्ष में रही भाजपा भी मीडिया को लेकर गहरा असंतोष जताती थी। सत्ता में आने के बाद और मीडिया के लगभग एकतरफ़ा हो जाने के बाद भी उसका यह असंतोष बरक़रार है, जो कई मौक़ों पर सामने आता रहता है। अरविंद केजरीवाल ने तो मीडिया का पब्लिक ट्रायल किये जाने का सुझाव दे दिया था, जिसके लिए उनकी कड़ी आलोचना हुई। असल में यह मीडिया पर दबाव बनाने की रणनीति ही थी, जो कामयाब रही और नये दौर के कमज़ोर संपादकों, मीडिया घरानों और उनमें काम करने वाले पत्रकारों ने बहुत हद तक घुटने टेक दिये। 2017 में वर्ल्ड प्रेस फ्रीडम रेंकिंग में भारत 136 वें स्थान पर यों ही नहीं चला गया था। सबसे निराशाजनक भूमिका तो हिंदी पत्रकारिता की नज़र आ रही है। हिंदी के अख़बारों में तो एजंसियों की वही ख़बरें अपनी ओर से थोड़ा फेरबदल के साथ चिपक दी जाती है जो एक तरह से शुद्ध प्रचार सामग्री जैसी होती है।

मुख्यधारा के मीडिया के 'सकारात्मक' बन जाने के बाद मौजूदा सरकार का ध्यान अब सोशल मीडिया में ख़बरों का 'संतुलन' बनाने पर है। यह संतुलन क्या है, इसे हम सब जानते हैं। सोशल मीडिया का किस तरह और किसने सबसे ज़्यादा दुरुपयोग किया इस पर विपक्ष ने संसद में भी आरोप लगाये हैं और बाहर भी। अब यह भी जगज़ाहिर है कि राजनीतिक दल आईटी सेल नाम की फ़र्ज़ी ख़बरें तैयार करने की फ़ैक्ट्रियां खोले बैठे हैं और सबसे भ्रामक और सबसे आक्रामक व सबसे बड़ी संख्या में सक्रिय आईटी सेल किसके पास हैं यह उनमें काम कर चुके लोगों के बयान सामने आने के बाद छुपा हुआ तथ्य नहीं रहा।

मीडिया में आज किसी ऐसी स्टोरी का फ़ॉलोअप नहीं हो रहा, जिसमें किसी बड़ी साज़िश के बीज छुपे नज़र आते हों और जो जनहित में हो। भीड़ हिंसा (मॉब लिंचिंग) को ही लीजिए। उसमें अब तक मारे गये लोगों की सही-सही संख्या क्या है? बच्चा चोर होने के शक में जिन्हें पीट-पीट कर मार डाला गया, वे सारे कौन थे? भीड़ हिंसा में हुई मौत की घटनाओं में क्या समानता थी? विस्तार से यह तथ्य सामने लाने की कोई गंभीर कोशिश किसी ने नहीं की। यह कोशिश भी नहीं हुई कि क्या कहीं भीड़ हिंसा के मामलों को निजी दुश्मनी या दूसरे तरह के मामलों में तब्दील किया गया? क्या अपराध की ख़बरों में पुलिस के बयान को ही अंतिम सत्य मान लेना पत्रकारिता है?

अरुण शौरी के पत्रकारिता में रहते बोफ़र्स मामले में कांग्रेस की बखिया उधेड़ देने वाला मीडिया अब केवल प्रवर्तन निदेशालय और सीबीआई के छापों की सूचना देता है। जैसे भ्रष्टाचार मुक्त भारत का निर्माण हो चुका हो। हालत यह है सबसे तेज़ होने का दावा करने वाले टीवी चैनलों और अख़बारों के संवाददाताओं को अब अपनी बीट की गतिविधियों की भनक तक नहीं लगती। अभी 23 नवंबर की सुबह जिस वक़्त लोग अख़बारों में यह ख़बर पढ़ रहे थे कि उद्धव ठाकरे का मुख्यमंत्री बनना तय हो

गया है, उसी वक़्त महाष्ट्र में देवेंद्र फडणवीस और अजित पवार शपथ ले रहे थे। भले बाद में उलटफेर हो गया हो, पर कितने आश्चर्य की बात है, मुंबई के राजभवन या दिल्ली के सियासी गलियारों में चल रही गतिविधियां उस वक़्त इतनी गोपनीय हो गयीं कि पत्रकार सूंघ भी नहीं पाये।

विपक्ष का आरोप है कि मीडिया ने उसका बहिष्कार किया हुआ है। यह केवल विपक्ष का ही आरोप नहीं है, बल्कि दूसरे हलक़ों में भी यह कहा और माना जा रहा है। पत्रकार भी इस सच्चाई को जानते हैं। रवीश कुमार तो साफ़-साफ़ कहते रहे हैं। कभी अपनी एक फ़ेसबुक पोस्ट पर उन्होंने लिखा था कि कई चैनलों के स्ट्रिंगरों को यहां तक निर्देश दिये जाते हैं कि विपक्ष का नेता मतदान भी करे तो ऐसी सामान्य फुटेज नहीं दिखानी हैं। उन्होंने आगे लिखा था कि न्यूज़ रूम में जिस न्यूज़ एजेंसी के ज़रिये जो वीडियो फुटेज पहुंचता है, उसमें विपक्ष की रैलियों का हिस्सा कम होता है। विपक्ष के नेताओं के भाषण या तो नहीं होते हैं या बहुत कम होते हैं। भरोसा है कि रवीश ने पूरी ज़िम्मेदारी के साथ ही यह बात कही होगी।

बहरहाल, विपक्ष का बहिष्कार हो या मीडिया को कमज़ोर, ग़ैरभरोसेमंद और संदिग्ध बनाना हो या जनहित की तरफ़ से उसका ध्यान भटकाना हो, यह काम राजनीतिकों और कारपोरेट के स्वार्थी गठजोड़ ने किया है। आप समझ सकते हैं कि जब कई-कई चैनलों में एक ही व्यक्ति की पूंजी लगी हो तो चैनलों की प्राथमिकता क्या होगी? मुख्यधारा के समानांतर सोशल मीडिया, न्यूज़ पोर्टल, यू-ट्यूब चैनल और तमाम दूसरे तरह के डिजिटल मीडिया से होड़ ने भी एक बड़ी चुनौती खड़ी की है। साथ ही उन्होंने मुख्यधारा के मीडिया की पोल खोलने का काम भी किया है। लेकिन इसके उलट सच्चाई यह भी है कि कुछ को छोड़ दें तो सोशल मीडिया और दूसरी जगहों पर नज़र आने वाली ख़बरें मुख्यधारा के मीडिया से भी ज़्यादा संदिग्ध हैं। कुछ तो बाक़ायदा भ्रामक और आपसी सौहार्द्र के लिए घातक सामग्री परोस रहे हैं। इस मामले में फ़र्ज़ी वेबसाइटों से लेकर ह्वटसएप समूहों तक की कारगुज़ारियों से आप सब परिचित हैं। उसे अलग से बताने की ज़रूरत नहीं है।

इलेक्ट्रनिक मीडिया के परिदृश्य में आने के बाद यह समझा गया था कि मीडिया एक व्यवसाय बन रहा है और अब उसका प्रमुख काम मनोरंजन करना और रोचक व हल्की-फुल्की सूचनाएं देना रह गया है। तब इसी पर गहरी चिंता जतायी जाती थी। लेकिन, कौन जानता था कि बहुत जल्दी वह टीवी पर होने वाली बहसों, लेखों और ख़बरों के ज़रिये विपक्ष के आरोपों पर सत्ताधारी पार्टी के प्रवक्ताओं की तरह स्पष्टीकरण देगा और बात-बात में एक पक्ष की तरह व्यवहार करेगा। जे.एन.यू को देश-विरोधी गतिविधियों के केंद्र के रूप में दिखाये-बताये जाने की कोशिशें इसका प्रमाण हैं। यह सोशल मीडिया में ज़्यादा हुआ। अगर वहां सचमुच देश-विरोधी गतिविधियां चल रही हैं तो यह किसकी नाकामी है? कन्हैया कुमार तो चुनौती देते हैं कि अगर उन्होंने राष्ट्र-विरोधी काम किया है तो उन पर मुक़दमा चलाने से किसने रोका है? कुल मिलाकर यह एक ख़तरनाक प्रवृत्ति है और इसके नतीजे हर उस राजनीतिक दल को भविष्य में भी भुगतने होंगे जो विपक्ष में बैठेगा।

मो. 9811807279

चुनाव प्रचार की नयी तकनीक

मुशर्रफ़ अली

यूरोप में ज्ञानोदय के दौर में सामंतवाद के ख़िलाफ़ जो संघर्ष शुरू हुआ उसका नेतृत्व उस दौर में जन्मे एक नये वर्ग ने किया। यह वर्ग पूंजीपति वर्ग था जिसने 18 वीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस में सामंतवाद को उखाड़ फेंका और राजा के स्थान पर एक ऐसी किताब का निर्माण किया जो संविधान कहलायी। इस संविधान में राजसत्ता चलाने के नियम बनाये गये और इन नियमों-क़ानूनों के आधार पर इतिहास में पहली बार प्रजा, नागरिक में बदल गयी जिसके कुछ कर्तव्य तथा कुछ अधिकार थे। जब तक जनता प्रजा थी उसके केवल कर्तव्य थे, बाक़ी अधिकार सारे राजा के पास थे। नये जन्मे पूंजीपति वर्ग ने सामंतवादी व्यवस्था के जवाब में संविधान के आधार पर नयी राजनीतिक व्यवस्था बनायी जिसे लोकतांत्रिक व्यवस्था कहा गया; लेकिन जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास होता गया, यह लोकतांत्रिक व्यवस्था पूंजीपति के मुनाफ़े और लगातार बढ़ते जा रहे लालच की राह में बाधा बनने लगी। अपने वर्गीय हितों के लिए पूंजीपति को राजसत्ता चाहिए थी और राजसत्ता पाने के लिए उसे उस जनता का समर्थन दरकार था जिसका वह निर्मम शोषण करता था। उसको यह समर्थन अपनी आर्थिक, राजनीतिक नीतियों के प्रति जनसहमति बनाने तथा चुनाव के समय मत हासिल करने के लिए चाहिए था। पूंजीवाद ने जनसहमति निर्माण पर काम 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में ही आरंभ कर दिया था। जनसहमति बनाने के लिए लोगों तक कौन सी प्रचार सामग्री पहुंचानी है इसका मनोवैज्ञानिक तरीक़ा मशहूर मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड के भतीजे एडवर्ड बरने को जाता है। प्रचार की तकनीक पर उन्होंने 1923 में *क्रिस्टीलाईज़िंग ऑफ़ पब्लिक ओपीनियन,* 1928 में *प्रोपेगेंडा,* 1945 में *पब्लिक रिलेशन* व 1955 में *इंजीनियरिंग ऑफ़ कन्सेन्ट* तथा इसी तरह की अनेक किताबें लिखीं जिनमें जनसहमति तैयार करने के तरीक़ों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया। अमरीका में उस ज़माने में महिलाएं सार्वजनिक-रूप से सिग्रेट नहीं पीती थीं। उनमें एक सामाजिक टैबू बना हुआ था। सिग्रेट बनाने वाली कंपनियों ने इस निषेध को तोड़ने के लिए एडवर्ड बरने से संपर्क किया क्योंकि आबादी का आधा हिस्सा उनके सिग्रेटों की बिक्री से बाहर बना हुआ था। एडवर्ड बरने ने महिलाओं की इस झिझक को तोड़ने के लिए फ़िल्मी एक्ट्रेसों और महिला मॉडल से संपर्क किया और सिग्रेट को महिलाओं की आज़ादी की मशाल (टार्च ऑफ़ फ्रीडम) से जोड़ दिया। इन महिलाओं के सिग्रेट पीते हुए बड़े-बड़े पोस्टर छापे गये और उनके सार्वजनिक रूप से सिग्रेट पीते जुलूस निकाले गये। इस मनोवैज्ञानिक प्रचार से सार्वजनिक स्थानों पर सिग्रेट पीने की महिलाओं की झिझक टूट गयी और वे सिग्रेट पीने लगीं। दूसरी मिसाल लैटिन अमरीकी देश ग्वाटेमाला के राष्ट्रपति जेकब आरबेन्ज की है जिन्होंने अपने देश में जब न्यूनतम वेतन क़ानून लागू किया तो उससे

ग्वाटेमाला में अपना कारोबार चला रही अमरीकी यूनाईटेड फ्रूट कंपनी के मुनाफ़े में कटौती हुई। कंपनी ने एडवर्ड बरने से संपर्क साधा और तब बरने ने ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रचार अभियान चलाया कि जनता में श्रमिकों के हित में काम करने वाले राष्ट्रपति को खलनायक और यूनाइटेड फ्रूट कंपनी को पीड़ित व उत्पीड़न का शिकार साबित कर दिया। इसके बाद सीआइए ने ग्वाटेमाला का सैनिक तख़्ता पलट कराकर एक तानाशाह को सत्ता सौंप दी।

असल में दिमाग़ पर नियंत्रण के कई लाभ पूंजीवाद देख रहा है। मक़सद साफ़ है कि तानाशाही निज़ाम में आर्थिक हितों को पूरा करने और शोषण को जारी रखने के लिए जनता के विरोध का दमन किया जा सकता है लेकिन जहां पूंजीवादी लोकतंत्र है वहां अगर जनता के दिमाग़ पर कब्ज़ा कर लिया जाये तो शोषण का वही काम जनसहमति के माध्यम से किया जा सकता है। इस काम के लिए पूंजीवाद, मनोवैज्ञानिकों और उनके द्वारा तैयार प्रचार तकनीक की मदद लेता रहा है। शासकों ने मस्तिष्क पर नियंत्रण के अनेक प्रयोग जनता पर पहले भी किये हैं और अब भी जारी रखे हुए हैं। एडवर्ड बरने के बाद हम देखते हैं कि 1957 में अमरीकी पत्रकार वेन्स पेकार्ड की *द हिडेन पर्सुएडर* नामक किताब प्रकाशित होती है जिसमें उत्पाद बेचने के लिए विज्ञापन के तरीक़े बताये गये। जनता को विज्ञापन के ज़रिये किस तरह से गोपनीय रूप से फुसलाया जाता है इस किताब में वह सारे मनोवैज्ञानिक तरीक़े बताये गये। इस किताब ने बाज़ार पर काफ़ी प्रभाव डाला। साथ ही इसी किताब में बताया गया कि व्यापारिक कंपनियां अपना उत्पाद बेचने के लिए जो तरीक़े अपनाती रही हैं उसी तरीक़े को राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। एक और योजना 'एमके अल्ट्रा' के तहत दिमाग़ पर नियंत्रण कैसे किया जाये इस पर रिसर्च करने के लिए अमरीकी सरकार ने 1953 में अपनी जासूसी एजेंसी सीआइए को अधिकृत किया और सीआइए ने लगभग 80 संस्थाओं के माध्यम से इंसानों पर नये प्रयोग किये। इन संस्थाओं में विश्वविद्यालय, कालेज, अस्पताल, जेलख़ाने व दवा कंपनियां शामिल थीं। इस प्रयोग में रसायन का इस्तेमाल किया गया। इसे सीआइए के ऑफ़िस ऑफ़ साइंटिफ़िक इंटेलीजेंस ने यूनायटेड स्टेट आर्मी बॉयोलाजिकल लेबोरेटरी के माध्यम से अंजाम दिया। इसमें मानव मस्तिष्क को पहले से निर्धारित दिशा में मोड़ने के लिए नशीली दवाओं (साइकोएक्टिव ड्रग, विशेषकर एलएसडी) की भारी ख़ुराक तथा यंत्रणा देने के अन्य तरीक़ों का प्रयोग किया गया। जनता के दिमाग़ पर नियंत्रण के अनेक प्रयोग लगातार किये जाते रहे हैं। अमरीका में ही 1952 से इस पर काम चल रहा है। आज भी न्यूरोलिंक कारपोरेशन के मालिक एलन मस्क तो आदमी के मस्तिष्क में चिप लगाने पर काम कर रहे हैं। एक ख़ास बात यह है कि पूंजीवादी शासक न केवल दूसरे देशों के नागरिकों के दिमाग़ पर नियंत्रण के प्रयोग करते रहते हैं बल्कि अपने देशों के नागरिकों को भी नहीं बख़्शते हैं। अमरीकी लेखिका केरोल रुट्ज़ की 1999 में प्रकाशित किताब, *ए नेशन बिट्रे* में अमरीकी शासकों द्वारा अपने देश के नागरिकों पर किये गये तरह तरह के अमानवीय प्रयोगों का ज़िक्र है। इसी तरह एक लेख जिसे अमरीकी जासूसी संस्था सीआइए की मैनुएल कहा जाता है उसमें किसी देश के लोगों के दिमाग़ पर कैसे नियंत्रण किया जाता है इसके तरीक़ों को बताया गया है। सांस्कृतिक क्षेत्र में बताया गया है कि जनता की रुचि को निम्न स्तर यानी सिक्स ग्रेड पर रखा जाये। इस मैनुएल का शीर्षक है, *द सायलेंट वैपन फ़ॉर क्वाइट वॉर*। इसे इंटरनेट से डाऊनलोड किया जा सकता है।

जनता के दिमाग़ को नियंत्रित करने का काम इंटरनेट ने और आसान कर दिया है। पहले प्रचार और सूचनाओं को लोगों तक पहुंचाने का माध्यम रेडियो, टीवी, अख़बार, पत्रिकाएं, जलसे-जुलूस, पोस्टर, वॉल राइटिंग आदि होते थे लेकिन इंटरनेट और ख़ासतौर पर सोशल मीडिया ने प्रचार के इस काम को

आसान, तीव्र गति और समय की बचत करने वाला और सस्ता बना दिया। स्मरण रहे कि 1991 में जब भारत में नियंत्रित आर्थिकनीति के स्थान पर अमरीका से आयातित मुक्त बाज़ार की आर्थिकनीति आयी तो उसके पक्ष में जनसहमति तैयार करने के लिए मीडियामुग़ल रूपर्ट मारडोक स्टार टीवी चैनल लेकर दाख़िल हुए। तब से अब तक टीवी लगातार न केवल पूंजीवादी आर्थिक नीतियों के पक्ष में जनसहमति का निर्माण कर रहा है बल्कि भारतवासियों में परस्पर द्वेष पैदा हो ऐसे सामाजिक-धार्मिक मुद्दों पर बहस चलाता रहा है। कोबरा पोस्ट के स्टिंग आप्रेशन 136 ने तो मीडिया घरानों के चेहरे पर पड़े आवरण को नोच कर फेंक दिया जिसमें न केवल इलेक्ट्रोनिक बल्कि प्रिंट मीडिया के अधिकारियों को समाज में परस्पर नफ़रत पैदा करने, दंगे कराने की ख़बरें चलाने के एवज़ में पैसे तय करते दिखाया गया है।

इंटरनेट ने जिस नये मीडिया यानी सोशल मीडिया को जन्म दिया उसकी मारक-क्षमता और पहुंच परंपरागत मीडिया से भी ज़्यादा है। सोशलमीडिया का ही यह चमत्कार है कि 23 मई 2019 को जब भारत की लोकसभा के चुनाव परिणाम आये तब वह बेहद चौंकाने वाले थे। विपक्ष को उम्मीद थी जनता का हर तबक़ा मोदी सरकार से परेशान है इसलिए वह विरोध में वोट देगा और सरकार विपक्ष की बन जायेगी; लेकिन विपक्ष की इस आशा पर तुषारापात हो गया और भाजपा 2014 के चुनाव से भी ज़्यादा सीटें लेकर आयी। लोगों ने इसके पीछे ईवीएम में की गयी हेराफेरी को कारण माना। ईवीएम द्वारा भी हेराफेरी की जा सकती है इस पर दो राय नहीं है; लेकिन यह बहुत छोटा कारण है। बड़ा कारण भाजपा द्वारा अपनायी गयी डिजिटल पॉलिटिकल मार्केटिंग है। इस तरह की मार्केटिंग में सूचनाओं को मतदाता तक पहुंचाने के लिए इंटरनेट की सहज उपलब्धता होनी ज़रूरी है। 2014 की तुलना में 2019 में मोबाइल धारकों तथा इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या में भारी वृद्धि हुई थी। 2015 में जियो के आने के बाद तो इंटरनेट काफ़ी सस्ता, लगभग मुफ़्त में उपलब्ध था। ट्राई के अनुसार 31 अगस्त 2019 में भारत में कुल मोबाइल फ़ोन उपयोगकर्ता 117 करोड़ थे जिसमें 34 करोड़ 82 लाख जियो के थे। इनमें से फ़रवरी 2019 तक भारत में फ़ेसबुक इस्तेमाल करने वाले 30 करोड़ 38 लाख 20 हज़ार लोग थे जो भारत की कुल आबादी का 22 प्रतिात होते हैं। इसमें 11 करोड़ 40 लाख 25 से 34 वर्ष आयु वर्ग के हैं। इसी तरह 77 लाख से ज़्यादा टुवीटर उपयोगकर्ता हैं।

सोशल मीडिया पर मौजूद इन 30 करोड़ से ज़्यादा लोगों तक चुनाव प्रचार पहुंचाना, इसी को डिजिटल पॉलिटिकल मार्केटिंग कहा जाता है। राजनीतिक प्रचार में सोशल मीडिया के इस्तेमाल की शुरुआत 21वीं सदी के पहले दशक में अमरीका से हुई। अमरीका के राज्य वारमोंट के गवर्नर हावर्ड डीन ने 2004 के राष्ट्रपति चुनाव में अपना नामांकन डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार के रूप में कराया। अपने प्रचार में हावर्ड डीन ने सोशल मीडिया का इस्तेमाल किया। उन्होंने अपनी वेबसाइट 'डीन फ़ॉर ए अमरीका डॉटकॉम व अपना ब्लॉग 'ब्लॉग फ़ॉर अमरीका डॉटकॉम व पहला सोशल मीडिया नेटवर्क 'मीटअप डॉट कॉम' पर प्रचार शुरू किया हालांकि वे इस चुनाव में हार गये लेकिन उनकी प्रसिद्धि ने उन्हें 'डेमोक्रेटिक नेशनल कमेटी' का अध्यक्ष बना दिया। 2008 में अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इस पद्धति को विस्तार दिया। उन्होंने अपने प्रचार के लिए फ़ेसबुक और टुवीटर का इस्तेमाल किया और जीत हासिल की। इसके बाद उन्होंने इन्ही आंकड़ों की मदद से सोशल मीडिया के प्लेटफ़ार्म का इस्तेमाल कर 2012 का चुनाव जीता। इसी का विस्तार हम 2016 में डोनाल्ड ट्रम्प के चुनाव में पाते हैं। राजनीतिक प्रचार में इस तकनीक का कामयाबी के साथ इस्तेमाल किया जा रहा है। इसका पता लोगों को नहीं लगता अगर ब्रिटिश अख़बार *द गार्जियन, द आब्ज़र्वर* व अमरीकी अख़बार न्यूयार्क टाइम्स और *चैनल-4* ने इसको उजागर न किया

होता। दिसंबर 2015 में *द गार्जियन* अख़बार में पत्रकार हैरी डेविस का एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उद्घाटित किया गया कि 2013 में स्थापित कैम्ब्रिज एनालिटिका नामक ब्रिटिश कंपनी ने फ़ेसबुक के माध्यम से 5 करोड़ अमरीकियों की निजी जानकारी बिना उनकी अनुमति के चुरायी और उसका उपयोग पहले अमरीका के सैनेटर टेडक्रूज़ व बाद को डोनाल्ड ट्रम्प के चुनाव प्रचार में किया। इसी तरह का आरोप स्विस पत्रिका ने 2016 तथा फ़रवरी 2017 में *द गार्जियन* और मार्च 2017 में *द इंटरसेप्ट* नामक अख़बार ने लगाया। आरोप में बताया गया कि ब्रिटेन की कंपनी 'ग्लोबल साइंस रिसर्च' को कैम्ब्रिज एनालीटिका नामक कंपनी ने इस काम के लिए नियुक्त किया कि वह फ़ेसबुक के लिए एक एप बनाये और उसके माध्यम से करोड़ों फेसबुक उपयोगकर्ताओं की निजी जानकारी एकत्रित करके कंपनी को उपलब्ध कराये। यह काम 'ग्लोबल साइंस रिसर्च' के संस्थापक और कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी में मनोविज्ञान के प्रोफ़ेसर एलेक्ज़ेन्डर कोगान को 8 लाख डालर के एवज़ में दिया गया और उन्होंने 'दिस इज़ माइ डिजिटल लाइफ़' नाम से एक एप बना दिया और उसे फ़ेसबुक पर डालकर लोगों से पूर्व निर्धारित सवालों को पूछकर उनके व्यक्तित्व संबंधी जानकारी मांगी। इस बारे में लोगों से कहा गया कि यह जानकारी शोध के मक़सद से मांगी गयी है। इस एप को 2 लाख 70 हज़ार लोगों ने डाऊनलोड किया और इसके माध्यम से इनके साथ प्रतिव्यक्ति जुड़े हुए 200 लोगों की भी जानकारी जो लगभग 5 करोड़ से ज़्यादा फ़ेसबुक उपयोगकर्ताओं की होती है प्रोफ़ेसर कोगान को हासिल हो गयी। इस जानकारी को कैम्ब्रिज एनालीटिका को दे दिया गया। इन 5 करोड़ फ़ेसबुक यूज़र में से केवल 2 लाख 70 हज़ार से उनके व्यक्तित्व संबंधी सवाल पूछे गये थे; लेकिन बाक़ी लोगों से जानकारी लेने के लिए कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी के एक दूसरे प्रोफ़ेसर माइकल कोसिंस्की की सहायता ली गयी। उन्होंने फ़ेसबुक यूज़र के व्यक्तित्व की विशेषताओं की जानकारी हासिल करने के लिए प्रति व्यक्ति 300 'लाइक' का विश्लेषण किया और उससे सटीक जानकारी निकाल ली। इसके बाद कैम्ब्रिज एनालीटिका ने आर्टीफ़ीशियल इंटेलीजेंस तकनीक का इस्तेमाल कर इन पांच करोड़ यूज़र में से प्रत्येक का मनोवृत्तिपरक, जनसांख्यकीय, भौगोलिक व स्वभाव के आधार पर विभाजन किया और हर व्यक्ति के 4 से 5 हज़ार व्यक्तिगत विशेषताओं वाले ईप्रोफ़ाइल तैयार कर लिये। ट्रम्प की टीम ने डेटा आधार बनाने के लिए लोगों को तैनात किया जिसको प्रोजेक्ट 'अलामो' नाम दिया गया। इसके द्वारा 22 करोड़ अमरीकियों की डिजिटल जानकारी एकत्रित की गयी। इसके बाद इनमें से समान रुचि व गुणों वाले लोगों के अलग-अलग समूह बनाये गये और डोनाल्ड ट्रम्प के चुनाव में उनको लक्षित करके उनकी मनपसंद सूचनाएं लिखित व मौखिक रूप में यानी लेख व वीडियो के माध्यम से भिजवायी गयीं। मतदाताओं को दिग्भ्रमित करने के लिए 'फ़ेक' यानी झूठी सूचनाएं व वीडियो बनाये गये और उन्हें लक्षित मतदाओं को भेजा गया। अब तक प्रोडक्ट को बेचने यानी व्यापार में ग्राहकों को प्रभावित करने के लिए इस तकनीक का इस्तेमाल होता रहा था; उसको पहली बार राजनीतिक प्रचार में मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया गया और डोनाल्ड ट्रम्प को चुनाव जिता दिया गया। डोनाल्ड ट्रम्प के सोशल मीडिया पर किये गये डिजिटल मार्केटिंग अभियान में शामिल जो एक प्रमुख नाम है वह ब्रेड पार्सकेल का है। वे उनके प्रचार के मुख्य कार्यकारी अधिकारी थे। उन्होंने 100 कर्मचारियों के साथ सान ऐन्टोनियो में मुख्यालय बनाया और वहां से सोशल मीडिया पर प्रचार को संगठित किया गया। उनके कर्मचारियों में सभी तरह के प्रचार विशेषज्ञ रखे गये। अभियान की शुरुआत 20 लाख डालर के फ़ेसबुक पर किये गये निवेश से की गयी। उन्होंने सबसे पहले ट्रम्प के सपोर्टर के नाम फ़ेसबुक पर अपलोड किये और जब वे मिल गये तब उस पर उनसे समानता रखने वालों की तलाश की। इसके अलावा दूसरे लोगों के लिए दसियों हज़ार अलग-अलग

वेबपेज लक्षित किये। ट्रम्प की डिजिटल टीम ने एक लाख से ज़्यादा तरह की अद्वितीय प्रचार सामग्री का निर्माण किया। हिलेरी क्लिंटन के वोटरों को लक्षित करके उन्हें वोट देने से हतोत्साहित किया गया। ये तीन समूह थे : एक श्वेत उदार अमरीकी, युवा महिलाएं और अफ्रीकन-अमरीकी। सभी को इस तरह के विज्ञापन पहुंचाये गये जैसे शैतान और ईसा मसीह पंजा लड़ा रहे हैं जिसमें शैतान कह रहा है कि 'मेरी जीत क्लिंटन की जीत होगी'। इसके जवाब में ईसा मसीह कह रहे हैं कि 'नहीं, काश मैं उसकी मदद कर सकता।' नीचे लिखा गया कि जीसस जीतें, इसकी मदद के लिए 'लाइक' के बटन पर क्लिक करें। वेबपेज का नाम 'जीसस आर्मी' रखा गया। ट्रम्प ने अपने विज्ञापन पर एक माह में 70 मिलियन डालर ख़र्च किये। हिलेरी क्लिंटन से काफ़ी ज़्यादा। चुनाव के दिन हिलेरी कमज़ोर पड़ गयीं, विशेषकर छितरे तथा पहली बार वोट डालने वाले मतदाताओं के बीच; जबकि ट्रम्प ने उनको अपनी ओर खींचने में कामयाबी हासिल कर ली।

इसी तरह का तरीक़ा ब्रिटेन में 'ब्रेक्ज़िट' के दौरान अपनाया गया और लोगों का सोशल मीडिया के माध्यम से ब्रेनवॉश करके उनसे यूरोपीय यूनियन से अलग होने के पक्ष में मतदान करा दिया गया। फ़ेसबुक ने अपने उपयोगकर्ताओं की जानकारी बिना उनकी अनुमति इस्तेमाल की है। इन आरोपों को फ़ेसबुक के संस्थापक मार्क ज़ुकरबर्ग ख़ारिज करते रहे। *द आब्ज़र्वर* नामक अख़बार ने 2017 में पत्रकार केरोल केडवेल्लर का लेख छापा जिसका शीर्षक था, 'द ग्रेट ब्रिटिश ब्रेक्ज़िट रोबरी'। इस लेख का स्रोत कैम्ब्रिज एनालिटिका के एक पूर्व कर्मचारी क्रिस्टोफ़र वाईल थे जो मार्च 2018 में बतौर व्हिसिल ब्लोअर ब्रिटेन की संसद की एक विशेष समिति के सामने पेश हुए और उन्होंने बताया कि कैम्ब्रिज एनालीटिका ने न केवल यूरोपीय यूनियन से ब्रिटेन के अलग होने के लिए कराये गये ब्रेक्ज़िट नामक मतदान को, फ़ेसबुक से चुरायी लोगों की निजी जानकारी के आधार पर प्रभावित किया है।

इस रहस्योद्घाटन के बाद फ़ेसबुक के ख़िलाफ़ 'डिलीट फेसबुक' अभियान शुरू हुआ और यह बात सामने आयी कि गूगल और फ़ेसबुक जैसी कंपनियां किसी देश की राजनीति को किस तरह प्रभावित करती हैं और वे उस देश में प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति बनाने में भी दख़ल दे सकती हैं। अमरीकन इंस्टीटयूट फ़ॉर बिहेवियरल रिसर्च एंड टेक्नोलॉजी के शोध मनोवैज्ञानिक रोबर्ट एप्सटीन तथा रोनाल्ड रोबर्टसन ने भारत व अमरीका में पांच चुनाव में 4556 ऐसे मतदाताओं पर शोध की जिनका किसी प्रत्याशी को मत देना पहले से तय नहीं था। पांचवां प्रयोग भारत में 2014 के चुनाव से पूर्व किया गया। इस शोध में शामिल होने के लिए ऐसे मतदाताओं का चयन विज्ञापन देकर किया गया जिनका मतदाता सूची में तो नाम था मगर उन्होंने किसको वोट देना है यह पहले से निर्धारित नहीं किया था। उन्होंने उनको तीन समूहों में बांटा और उनको तीन अलग-अलग सर्च इंजन दिये। एक सर्च इंजन, नरेंद्र मोदी, दूसरा अरविंद केजरीवाल व तीसरा राहुल गांधी के बारे में सूचनाएं लाता था। शोध में पाया गया कि प्रयोग में भाग लेने वाले मतदाताओं का दृष्टिकोण मैनुप्लेटेड सर्च इंजनों के कारण 20 से 60 प्रतिशत बदल गया। इस तकनीक को सर्च इंजन मैनुप्लेशन एफ़ेक्ट यानी 'सेमी' कहा गया। गूगल या याहू अथवा अन्य सर्च इंजन जो जानकारी आप तक पहुंचाते हैं वह ज़रूरी नहीं है कि सही ही हो; बल्कि यह मुमकिन है कि वे आपके दृष्टिकोण को मैनुप्लेट कर रहे हों। इसी तरह फ़ेसबुक ने 2012 में 5 लाख लोगों के दो समूह बनाये और एक समूह को दुःखभरी व दूसरे समूह को ख़ुशीभरी सूचनाएं पहुंचायीं। इसका नतीजा यह निकला कि एक समूह दुःख में डूब गया व दूसरा ख़ुशी से भर गया। इन प्रयोगों से यह नतीजा निकल कर आया कि सूचनाओं के द्वारा इंसान के मनोभाव और दृष्टिकोण को बदला जा सकता है। लोगों की निजी जानकारी हासिल करने के लिए फ़ेसबुक ने अप्रैल 2010 में इसकी शुरुआत की। इसके लिए फ़ेसबुक

ने 'ओपन-ग्राफ़' नाम से थर्ड पार्टी एप बनाया जिसके माध्यम से कोई भी व्यक्ति या फ़र्म फ़ेसबुक यूज़र यहां तक की उसके मित्रों तक की निजी जानकारी जैसे नाम, लिंग, निवास स्थान, जन्मतिथि, शिक्षा, राजनीतिक प्रतिबद्धता, निजी संबंध, धार्मिक दृष्टिकोण आदि प्राप्त कर सकता था। क्रिस्टोफ़र वाईल ने यह भी बताया कि कैम्ब्रिज एनालीटिका, दुनिया के अनेक देशों में, जिन में भारत भी शामिल है, चुनाव में सोशल मीडिया प्लेटफ़ार्म से हासिल की गयी निजी जानकारी के आधार पर डिजिटल राजनीतिक प्रचार का ठेका लेती रही है। भारत के बारे में उन्होंने बताया कि वहां भाजपा और कांग्रेस दोनों ने कैम्ब्रिज एनालिटिका की सेवाएं ली हैं हालांकि दोनों पार्टियां इस बात को इसलिए झुठलाती रही हैं कि बिना पूर्व अनुमति के किसी की निजी जानकारी लेना अपराध होने के साथ-साथ अनैतिक भी है।

स्मरण रहे कि कैम्ब्रिज एनालिटिका ब्रिटेन की एक दूसरी कंपनी स्ट्रेटीजिक कम्युनिकेशन लेबोरेटरी प्रा.लि.(एससीएल) की सहायक कंपनी है। प्रोफ़ेसर कोगान की कंपनी ग्लोबल साइंस रिसर्च व कैम्ब्रिज एनालिटिका की ग्लोबल आर्म एससीएल यानी स्ट्रेटिजिक कम्युनिकेशन लेबोरेटरीज़ का काम डेटा माईनिंग व डेटा एनालाईसिस है। यह श्रोता के व्यवहार को अपने ग्राहक की ज़रूरत के हिसाब से मोड़ने का काम करती है। यह खुद को ग्लोबल एलेक्शन मैनेजमेंट के तौर पर विज्ञापित करती है। 1990 में टीवी प्रोडक्शन व विज्ञापन से जुड़े नायजल ओक्स ने 'बिहेवियर डायनिमिक इंस्टीटयूट' को स्थापित किया और समूह के व्यवहार का विश्लेषण करने व उसको कैसे बदला जाये, इसके अध्ययन के लिए 1993 में 'स्ट्रेटिजिक कम्युनिकेशन लेबोरेटरीज़' यानी एससीएल की स्थापना की। एससीएल का कहना है कि वह 1994 से अब तक दुनिया में लगभग 25 चुनावी अभियानों में हिस्सा ले चुकी है। भारत में भी एससीएल इंडिया के नाम से उनकी कंपनी 16 नवंबर 2011 से रजिस्टर्ड है। क्रिस्टोफ़र वाईल ने ब्रिटेन की संसद को यह भी बताया कि एससीएल ने भारत में 600 शहरों व 7 लाख गांव के आंकड़ों का डेटा बेस तैयार किया है जिसे वह अपडेट रखती है। इसका गाज़ियाबाद में मुख्यालय है और 9 क्षेत्रीय कार्यालय हैं जो अहमदाबाद, बंगलौर, कटक, गोहाटी, हैदराबाद, इंदौर, पटना, कलकत्ता और पूना में हैं। एससीएल की वैबसाइट के अनुसार उसने इटली, लाटविया, यूक्रेन, अलबानिया, रोमानिया, दक्षिणी अफ्रीका, नाइजीरिया, केन्या, मारीशस, इंडिया, इंडोनेशिया, फ़िलिपीन, थाइलैंड, तायवान, कोलंबिया, एंटीगुआ, सेंट विन्सेंट एंड द ग्रेनाडीनेस, सेंट किट्स एंड नेविस, ट्रीनीडाड एंड टोबेको के चुनाव को प्रभावित किया। उसका दावा है कि उसकी पद्धति यूके व अमरीका की सरकार से मान्यता प्राप्त है।

भारत के संबंध में हुए इस रहस्योद्घाटन से पता चला कि इस ब्रिटिश कंपनी ने जनता दल (यूनाइटेड) के राष्ट्रीय महामंत्री के. सी. त्यागी के पुत्र अमरीश त्यागी को अपने काम के लिए नियुक्त किया। इस बात के सामने आने के बाद के. सी. त्यागी ने मीडिया में स्वीकारा कि उनके पुत्र का एससीएल व कैम्ब्रिज एनालिटिका के साथ कारोबारी रिश्ता है और 2010 में बिहार में हुए विधानसभा चुनाव में उसने जनता दल (यूनाइटेड) के लिए सोशल मीडिया पर किये गये प्रचार में प्रशांत किशोर के साथ काम किया था। उन्होंने यह भी बताया कि उनका पुत्र अमरीश त्यागी 2016 में डोनाल्ड ट्रम्प का चुनाव लड़ाने अमरीका भी गया था और उसने ट्रम्प के पक्ष में अमरीका में रह रहे भारतीयों के बीच प्रचार किया। यह भी पता चला कि जिस ब्रिटिश कंपनी एससीएल ने अपनी सहायक कंपनी कैम्ब्रिज एनालिटिका की स्थापना की थी उसी ने भारत में ओवलिना बिजनिस इंटेलीजेंस यानी ओबीआई नामक कंपनी 2010 में स्थापित की। इसमें दो भारतीय व दो विदेशी डायरेक्टर बनाये गये। भारतीय डायरेक्टरों में एक के. सी. त्यागी के पुत्र अमरीश त्यागी व दूसरे अवनीश कुमार राय। बाद को अवनीश कुमार राय व्हिसिल ब्लोअर बन गये और उन्होंने एनडीटीवी को दिये साक्षात्कार में बताया कि कैम्ब्रिज एनालिटिका

के मुख्यकार्यकारी अधिकारी एलेक्ज़ेंडर निक्स ने पहले कांग्रेस के लिए काम करने की ज़िम्मेदारी ली थी। उसके लिए उन्होंने तोहफ़े के तौर पर पांच लोकसभा क्षेत्र के आंकड़ों को जिसमें अमेठी व रायबरेली शामिल थे, राहुल गांधी को भेंट करने का प्रोग्राम बनाया था लेकिन उससे पहले एलेक्ज़ेंडर निक्स ने बताया कि वे भारत में कांग्रेस को हराने व बीजेपी को जिताने आये हैं। 'मेरी नज़र में यह पेशे की नैतिकता के ख़िलाफ़ था इसलिए मैंने इसका विरोध किया। इसके अलावा इस बात पर भी विवाद हुआ कि जो आंकड़े हमने एकत्रित किये थे उनको हम भारत में रखना चाहते थे जबकि निक्स उसे अमरीका के सरवर में।' ओवलिना बिजनिस इंटेलीजेंस यानी ओबीआई की वैबसाइट पर इसके एक और डायरेक्टर हिमांशु शर्मा ने अपनी प्रोफ़ाइल में यह जानकारी दे रखी थी कि उनकी कंपनी ने भाजपा के लिए चार चुनाव अभियान में काम किया है जिसमें मिशन 272 भी शामिल है। जब कैम्ब्रिज एनालिटिका, एससीएल इंडिया और ओवलिना बिजनिस इंटेलीजेंस यानी ओबीआई भारत में काम कर रही थी तभी यूएन में स्वास्थ्य विशेषज्ञ बिहार निवासी प्रशांत किशोर ने 2011 में गुजरात विधानसभा चुनाव प्रचार अभियान से अपने नये पेशे की शुरुआत की। हालांकि अभी तक यह पता नहीं लग पाया है कि वे एससीएल या कैम्ब्रिज एनालिटिका या किसी तीसरी एजेन्सी के लिए काम करते रहे हैं तथा इस तरह के काम का प्रशिक्षण व व्यावहारिक अनुभव उन्हें कहां से मिला है। लेकिन इस चुनाव में उन्होंने जो प्रचार रणनीति इस्तेमाल की उससे नरेंद्र मोदी तीसरी बार गुजरात के मुख्यमंत्री बने। इसके बाद उन्होंने मई 2014 में होने वाले लोकसभा चुनाव में मोदी के चुनाव प्रचार के लिए सिटीज़न फॉर एकाउंटेबल गवर्नमेंट (सीएजी) नामक संगठन बनाकर 200 ऐसे युवा पेशेवरों की टीम खड़ी की जिनमें बैंकिंग, बड़ी आर्थिक सलाहकार कंपनियों में कार्यरत व आईआईटी के पेशेवर थे। उन्ही की सलाह पर 2013 में सारवानी फ़ाउंडेशन नामक संगठन बनाया गया जिसमें उन महिलाओं को जोड़ा गया जो तेज़ाब के हमले से बच गयीं थी। इसके पीछे मक़सद था ऐसी महिलाओं के पक्ष में बनी सहानुभूति का इस्तेमाल करके बाक़ी महिलाओं में मोदी के पक्ष में प्रचार करना। अमित शाह ने बीजेपी अध्यक्ष बनने के बाद प्रशांत किशोर को हटा दिया और सारवानी फ़ाउंडेशन का नया नाम एसोसियेशन ऑफ़ बिलियन माइंड्स रखा। इसके 161 पूर्णकालिक वेतन पाने वाले पेशेवर कर्मचारी हैं और देशभर में 12 क्षेत्रीय कार्यालय हैं। यह एसोसियेशन अमित शाह के अधीन काम करती है। 2019 के लोकसभा चुनाव में भाजपा के लिए काम करने वाली डिजिटल पॉलिटिकल मार्केटिंग कंपनियों ने सोशल मीडिया तथा परंपरागत मीडिया के द्वारा इस तरह से सूचनाओं को मतदाता तक पहुंचाया कि उन्हें बाक़ी राजनीतिक पार्टियों और उनके नेताओं की तुलना में मोदी ज़्यादा बेहतर लगे और उन्हें 2014 से भी ज़्यादा सीटें प्राप्त हुईं। भाजपा ने अपने पुराने मतदाताओं का भरोसा क़ायम रखा तथा बिखरे हुए और नये बनने वाले मतदाताओं को लक्षित करके ऐसी सूचनाएं पहुंचायीं जिससे वे भ्रमित हो गये और उन्होंने भाजपा के पक्ष में मतदान किया। हालांकि इस तरह उन्होंने समाज में नफ़रत के बीज बो दिये; लेकिन इतिहास साक्षी है कि सत्ता हासिल करने के लिए पूंजीवादी शासक न इंसानों की परवाह करते हैं और न मानवीय मूल्यों की।

इस डिजिटल पॉलिटिकल मार्केटिंग के कारण ऐसी राजनीतिक पार्टी सत्ता में आ गयी है जो आंख बंद करके विश्वबैंक, आईएमएफ़ और विश्व व्यापार संगठन की नीतियों को तीव्रगति से लागू करने में लगी हुई है, उसने कल्याणकारी राज्य का मुखौटा पूरी तरह उतार फेंका है और जो सरकारी आर्थिक ढांचा 70 साल की मेहनत से तैयार हुआ था उसे तेज़ी से ध्वस्त करने में लगी हुई है तो उसका परिणाम जनता की ख़रीदने की ताक़त के पूरी तरह समाप्त हो जाने के रूप में सामने आयेगा ही। बहुसंख्यक जनता की ख़रीदने की ताक़त के समाप्त हो जाने का मतलब ही है कि बाज़ार का पूरी तरह रुक जाना

और समाज में असंतोष का धीरे-धीरे चरम पर पहुंचकर उसका विस्फोटक रूप धारण कर लेना। इसे रोकने के लिए ऐसी पार्टी को सत्ताच्युत करना होगा और इसके लिए उसकी चुनाव रणनीति का मुक़ाबला अपने सीमित साधनों के बल पर जनता को ही करना होगा।

ऐसे में अब सवाल यह उठता है कि हम जिनके पास संसाधनों की कमी है वे क्या करें? क्या ख़ामोशी से यह सब देखते रहें? नहीं, हमें हस्तक्षेप करना चाहिए। जिस तरह वियतनाम जैसे छोटे देश ने अपनी कुशल युद्धनीति और मामूली संसाधनों के बल पर अमरीका जैसे सैनिक साम्राज्य को धूल चटा दी थी हम भी डिजिटल पॉलिटिकल मार्केटिंग के हथियार को कुशलतापूर्वक अपना सकते हैं। वे झूठ और नफ़रत फैलाते हैं तो हमें सच और प्रेम का प्रचार करना होगा। इसके लिए आप जहां भी रहते हैं वह गांव हो, क़स्बा हो, शहर हो, वहां सबसे पहला काम अपने परिचितों, उनके मित्रों-संबंधियों के फ़ोन नंबर, मुमकिन हो तो ईमेल, फ़ेसबुक, टुवीटर, इंस्टाग्राम आईडी का संकलन करना है। यह आपका डेटा बेस या डेटा बैंक होगा। एक और काम करना होगा कि एक रजिस्टर में या अपने लैपटॉप या डेस्कटॉप में जिन लोगों के फ़ोन नंबर, सोशल मीडिया आईडी संकलित की है उसमें हर व्यक्ति के बारे में, कि उसका राजनीतिक, सामाजिक दृष्टिकोण, उसकी सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि क्या है, संक्षेप में विवरण दर्ज करना होगा। इसके बाद उनके व्हाटसअप ग्रुप बनायें। अब सबसे महत्त्वपूर्ण काम शुरू होता है कि उनको भेजी जाने वाली सामग्री का चयन, संकलन और निर्माण, इसके लिए एक सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना करना जिसमें लेखक कवि, शायर, नाटककार, गायक, संगीतकार आदि संस्कृतकर्मी शामिल हों। अब आपको अपने काम को कई हिस्सों में बांटना है। विरोधी संगठन क्योंकि अपनी सारी ताक़त ऐसी फ़ेक़ यानी झूठी सामग्री निर्माण में लगाये हुए हैं जिनसे देशावासियों में परस्पर दुश्मनी, नफ़रत पैदा हो रही है आपको एकता, प्रेम, भाईचारे पर अद्वितीय सामग्री का निर्माण करना है। अगर गीत, गज़ल, कविता तैयार करनी है तो उसकी धुनों, उसकी प्रस्तुति पर सबसे ज़्यादा मेहनत करनी है। हमें केवल लोगों तक बात पहुंचानी ही नहीं है बल्कि बेहतर और प्रभावाली तरीक़े से बात पहुंचानी है। हमें जनता में लोकप्रिय पुरानी धुनों, शैलियों के साथ साथ ऐतिहासिक पात्रों, नायकों-नायिकाओं का भी इस्तेमाल करना है। हमें विरोधियों द्वारा तैयार नये आख्यान यानी नैरेटिव के स्थान पर अपने आख्यान तैयार करने होंगे। उनके नैरेटिव को उन पर ही पलट देना होगा। केंद्र पर तैयार प्रचार की सामगी को ग्रुप में भेजने का काम करना होगा। उसके लिए ज़िम्मेदारियां बांटनी होंगी। यही काम राज्य व राष्ट्रीय स्तर के संगठनों को करना होगा। इस पर कार्यशालाओं का आयोजन व लोगों को प्रशिक्षित करना होगा। विज्ञापन के मनोवैज्ञानिक पहलुओं और तकनीक पर चर्चा करनी होगी और बिना समय गंवाये अपनी योजना को अमली जामा पहनाना होगा।

मो. : 9897023750

समीक्षा

लैला : डरावने भविष्य की चुनौती

जवरीमल्ल पारख

अंग्रेज़ी उपन्यासकार जॉर्ज आरवेल का प्रख्यात उपन्यास *1984* , जून 1949 में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने 35 साल बाद की एक ऐसी दुनिया की कल्पना की थी, जहां लोकतंत्र नहीं बल्कि एक सर्वसत्तावादी शासन व्यवस्था होगी और जो लोगों के जीवन पर ही नहीं उनके दिमाग़ पर भी नियंत्रण करेगी। लोगों के जीवन पर हर जगह और हर घड़ी नज़र रखी जायेगी। जॉर्ज आरवेल की इस कल्पना को 'डिस्टोपिया' नाम दिया गया। उज्ज्वल भविष्य के बजाय अंधकारपूर्ण भविष्य की कल्पना। जॉर्ज आरवेल ने 1949 के शीत युद्ध के दौर के आधार पर भविष्य में लोकतंत्र के कमज़ोर होने, देशों के बीच युद्धों के बढ़ने की जो आशंका जतायी थी, वह 1984 तक भले ही सच साबित न हुई हो, लेकिन सोवियत संघ के विघटन के बाद और ख़ास तौर पर 1990 के बाद नवउदारवादी दौर ने न केवल लोकतंत्र को कमज़ोर किया था बल्कि धर्म, जाति, नस्ल आदि की विभाजनकारी धारणाएं एक बार फिर सिर उठाने लगी थीं। यूरोप में अतिदक्षिणपंथ ही नहीं बल्कि नाज़ीवाद और फ़ासीवाद समर्थक राजनीतिक पार्टियां अपने विभाजनकारी एजेंडे के साथ आगे बढ़ती जा रही हैं। अमरीका जैसे देश में डोनाल्ड ट्रंप जैसा नस्लवादी, राष्ट्रपति के पद पर आसीन है। मुस्लिम देशों में धार्मिक तत्त्ववादियों का ज़ोर बढने लगा है और भारत में भी आर एस एस जैसे सांप्रदायिक फ़ासीवादी संगठन का न केवल विस्तार हुआ है बल्कि उससे संबद्ध भारतीय जनता पार्टी पहले 1998 में और उसके बाद 2014 और 2019 में सत्तासीन हो चुकी है।

2014 में सत्ता में आने के बाद से मोदी सरकार लगातार ऐसे क़दम उठाती रही है जिसका मक़सद धार्मिक अल्पसंख्यकों विशेष रूप से मुसलमानों को मुख्यधारा से अलग-थलग करना है। चाहे मसला, गोमांस या गोतस्करी का हो या लव जिहाद का या जय श्रीराम बोलने का, मक़सद यही है कि मुसलमानों में ऐसा भय पैदा किया जाये जिससे कि वे अपने को मुख्यधारा से अलग-थलग कर लें। हिंदू यह मानने लगे कि मुसलमान उनके लिए वैसे ही बोझ हैं जैसे हिटलर की जर्मनी में यहूदी। उनकी कोशिश यह भी है कि मुसलमानों को देश का दुश्मन और आतंकवादी बताया जाये। असम में राष्ट्रीय नागरिकता पंजीकरण का अभियान जिसे भविष्य में सारे देश में लागू करने की उनकी योजना है, कश्मीर से संबद्ध धारा 370 और 35 ए को हटाना और नागरिकता संशोधन विधेयक द्वारा सार्वभौम नागरिकता के संविधान आधारित विचार को हटाकर धर्म आधारित नागरिकता को क़ानूनी जामा पहनाना, धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को ख़त्म करना ही है। यह हिंदुस्तान के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय को दोयम दर्जे के नागरिक समुदाय में तब्दील करना ही है आर एस एस के मूल सिद्धांतों के अनुरूप ही है और जिसकी प्रेरणा उन्हें 1930 के दशक में फ़ासीवाद से मिली थी और आज भी उस पर क़ायम है। संघ की विचारधारा केवल धार्मिक अल्पसंख्यकों के ही विरुद्ध नहीं है वह दरअसल, ब्राह्मणवादी विचारधारा भी है और उसका एक बड़ा हिस्सा जितनी नफ़रत मुसलमानों से करता है उससे कम दलितों से नहीं करता। वे यह भी चाहते हैं कि दलितों को संविधान ने जो बराबरी का अधिकार दिया है, आरक्षण की सुविधा दी है वह भी उनसे छीन ली जाये। संघ का पूरा वैचारिक परिप्रेक्ष्य लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समानता और संघीय संरचना के विरोध में निर्मित हुआ है। उनके हमले का मूल निशाना यह संविधान ही है जिसे वे बदलना

चाहते हैं और *मनुस्मृति* लागू करना चाहते हैं। यह बात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कई भाजपा नेता कह चुके हैं।

नरेंद्र मोदी और उनकी सरकार ने संघ की हिंदू राष्ट्रवाद की अवधारणा को लागू करने की दिशा में कई क़दम उठाये हैं। अब यह काल्पनिक सवाल नहीं रह गया है कि आगे आने वाले सालों में संघ प्रेरित यह सरकार संविधान को ख़त्म करने की दिशा में किस हद तक जा सकती है। यानी भारत का भविष्य कैसा होगा, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समानता और सामाजिक न्याय के मानव मूल्यों पर आधारित या सांप्रदायिकता, ब्राह्मणवाद, पितृसत्तावाद पर आधारित हिंदू राष्ट्र। अगर आगे आने वाले वर्षों में हिंदू राष्ट्र की कल्पना वास्तविक रूप धारण कर लेती है तो भारत कैसा होगा, इसकी एक काल्पनिक तस्वीर 'नेटफ़्लिक्स' द्वारा प्रसारित 'लैला' नामक धारावाहिक में पेश की गयी है जिसमें 2047 में भारत क्या और कैसा होगा, यह दिखाया गया है। यह अंधकारमय भविष्य की तस्वीर है इसलिए इसे यूटोपिया की बजाय 'डिस्टोपिया' कहा गया है। अभी हाल में *लैला* ही नहीं *सेक्रेड गेम्स, गौल* आदि धारावाहिक भी 'डिस्टोपिया' की धारणा पर ही आधारित हैं और कमोबेश उसी तरह की आशंकाओं के सच होने की तरफ़ संकेत करते हैं जैसा *लैला* में दिखाया गया है। लेकिन *लैला* में इन आशंकाओं की तस्वीर ज़्यादा स्पष्ट, ज़्यादा मूर्त और वर्तमान से ज़्यादा संबद्ध दिखायी देती है। *लैला* धारावाहिक एक नितांत काल्पनिक कहानी पर आधारित होने के बावजूद हमारे देश और दुनिया से गहरे रूप में संबद्ध हैं और भविष्य की ऐसी डरावनी तस्वीर इसमें पेश की गयी है, जिसके सच हो जाने की आज से पहले शायद ही कभी किसी ने कल्पना की होगी।

लैला छह आख्यानों का अपेक्षाकृत छोटा धारावाहिक है, जिसका निर्माण *फ़ायर, वाटर* जैसी प्रख्यात फ़िल्में बनाने वाली दीपा मेहता और अन्यों ने मिलकर किया है। यह प्रयाग अकबर द्वारा लिखे गये अंग्रेजी उपन्यास, *लैला* पर आधारित है जिसका प्रकाशन 2017 में हुआ था। प्रत्येक आख्यान लगभग चालीस से पचास मिनट की अवधि का है और इस तरह छह आख्यान कुल चार घंटे से ज़्यादा अवधि के हैं। इसमें हुमा क़ुरैशी, राहुल खन्ना, सिद्धार्थ, सीमा विश्वास, आरिफ़ ज़कारिया, आकाश खुराना, अश्वत्थ भट्ट आदि जाने-पहचाने अभिनेता हैं। इसकी कहानी का संबंध भविष्य से है, सन 2047 यानी देश के आज़ाद होने के ठीक सौ साल बाद और हमारे वर्तमान समय से 28 साल बाद। जिस देश की कहानी कही गयी है वह भारत नहीं बल्कि आर्यावर्त है। लेकिन आर्यावर्त भारत का ही दूसरा नाम है। *लैला* में एक ऐसे समय की कल्पना की गयी है जब भारत का नाम बदल कर आर्यावर्त कर दिया गया है। इस आर्यावर्त में गांधी जी की तस्वीर लगाना अपराध है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को पढ़ना और सुनना ग़ैरक़ानूनी है और घर में ऐसी कोई किताब रखना अपराध है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में आर्यावर्त की संकल्पना के विरुद्ध हो। आर्यावर्त लोकतांत्रिक प्रणाली का देश नहीं है। एक परिषद है जो शासन करती है और जिसका प्रधान, डॉ. जोशी इस देश का शासक है। आर्यावर्त की मुख्य समस्या पानी है जिसकी भारी कमी है और जो आसानी से उपलब्ध नहीं है। सरकार ही तय करती है कि किसको कितना पानी मिलेगा। यह देश टेक्नोलॉजी के लिहाज से काफ़ी उन्नत है। प्रत्येक शहर को समुदायों के अनुसार विभाजित किया गया है। यानी एक समुदाय के लोग एक क्षेत्र (सेक्टर) में रहते हैं, उस सेक्टर में दूसरे समुदाय के लोग नहीं रह सकते और न ही आ-जा सकते हैं। सेक्टरों को ऊंची-ऊंची दीवारों से घेर लिया गया है ताकि उन्हें स्वच्छ हवा और पानी उपलब्ध कराया जा सके। इन सेक्टरों के बाहर बड़े-बड़े स्लम हैं जिनमें मेहनतकश ग़रीब लोग रहते हैं, लेकिन जिन्हें स्वच्छ हवा और साफ़ पानी दोनों ही उपलब्ध नहीं हैं और जहां कूड़े-कचरे के पहाड़ों के आकार के ढेर लगे हैं। स्लम बस्तियों में रहने वालों को आर्यावर्त में प्रवेश की अनुमति

नहीं हैं। इसी आर्यावर्त की कहानी इस धारावाहिक में कही गयी है।

कहानी शालिनी (हुमा कुरैशी) नामक एक स्त्री की है जिससे उसकी पांच-छह साल की बेटी, लैला (लैशा मांगे) छीन ली गयी है और उसकी तलाश ही से पूरे धारावाहिक की कहानी निर्मित हुई है और इसी तलाश के माध्यम से आर्यावर्त का वास्तविक चरित्र उजागर होता है। पहले आख्यान की शुरुआत रिज़वान चौधरी (राहुल खन्ना) नामक एक अमीर मुसलमान के घर से होती है जिसने शालिनी पाठक नामक एक ब्राह्मण स्त्री से विवाह किया है और जिनकी पांच-छह साल की लैला नाम की एक छोटी बेटी है। रिजवान चौधरी अपनी बेटी को स्वीमिंग पुल में तैरना सिखा रहा है और पुल के बाहर उसकी पत्नी शालिनी भी मौजूद है। उनकी बातचीत और तौर-तरीक़ों से ज़ाहिर होता है कि यह एक संपन्न और आधुनिक सोच का परिवार है। अचानक वहां कुछ लोग घुस आते हैं और उनके साथ यह कहते हुए मारपीट करने लगते हैं कि वे ग़लत ढंग से पानी बर्बाद कर रहे हैं। यह सरकार समर्थक गिरोह है जिसे 'पवित्र ब्रिगेड' के नाम से जाना जाता है और जो लोगों पर निगरानी रखती है। बिल्कुल उसी तरह के गिरोह जो आजकल गोरक्षकों के नाम पर नज़र आते हैं और गोरक्षा के नाम पर मुसलमानों और दलितों पर हमला करते हैं और कई बार उनकी हत्या तक कर डालते हैं। शालिनी को पकड़कर वहां से ले जाया जाता है और रिज़वान चौधरी की स्वीमिंग पुल में ही हत्या कर दी जाती है। शालिनी को नहीं पता कि उसकी बेटी का क्या हुआ और वह कहां है।

इसके बाद कहानी दो साल बाद शुरू होती है। शालिनी 'वनिता कल्याण केंद्र' नामक स्त्रियों के बंदीगृह में क़ैद है जहां उसकी तरह और भी कई स्त्रियां क़ैद हैं। यह एक तरह का सुधार गृह है जहां स्त्रियों को अपने पहले किये गये पापों का प्रायश्चित करना होता है। इस कथित सुधार गृह में स्त्रियों को गुरु मां (आरिफ़ ज़कारिया) नामक एक पुरुष के आदेशानुसार कार्य करना होता है। वहां क़ैद सभी स्त्रियों को एक सी वेशभूषा पहननी होती है। उस कथित सुधार गृह में स्त्रियों को यह बात बारबार रटायी जाती है कि उनका जन्म ही उनका कर्म है यानी जिस समुदाय में उन्होंने जन्म लिया है वही उनकी नियति है। उन्हें यह भी बार-बार कहना होता है कि यह मेरा सौभाग्य है कि मैंने इस धरती पर जन्म लिया है और आर्यावर्त दुनिया का सबसे महान देश है। इस देश का चिह्न भगवा रंग पर बने एक वृत्त में त्रिशूल सी आकृति है। यह आकृति टेटू के रूप में आर्यावर्त के प्रत्येक नागरिक के हाथ पर गुदी हुई है। इस टेटू से उनकी श्रेणीबद्धता का भी पता चलता है। 'जय हिंद' या 'भारत माता की जय' की तरह आर्यावर्त में संबोधन के रूप में बार-बार 'जय आर्यावर्त' कहना अनिवार्य है।

वहां शालिनी को मालूम पड़ता है कि उसका क़सूर यह भी है कि पंचकर्मी होकर उसने एक मुसलमान से विवाह किया है। आर्यावर्त में लोगों को इस बात की इजाज़त नहीं है कि वे दूसरे समुदाय में विवाह करें। आर्य (या हिंदू) भी पांच भागों में विभाजित हैं, सबसे ऊंचे पंचकर्मी, सभी ब्राह्मण स्त्री-पुरुषों को पंचकर्मी बताया गया है। उनके नीचे चतुर्थ कर्मी, त्रिकर्मी, द्विकर्मी आदि हैं। वहां पूजा त्रिपाठी नामक एक युवती को लाया जाता है जिसका क़सूर यह है कि उसने पंचकर्मी होकर द्विकर्मी यानी किसी निम्न जाति के व्यक्ति से शादी की है। अपने से निम्न या विजातीय समुदायों में विवाह करने वाली स्त्रियों के बच्चों को उनसे अलग कर दिया जाता है। मिश्रित यानी वर्णसंकर संतान पैदा करना आर्यावर्त में पाप है और इसके लिए दंडित किया जाता है। अगर स्त्री गर्भवती है तो उसका गर्भपात करा दिया जाता है। वहां स्त्रियों से शारीरिक श्रम कराया जाता है। मैदान से कंकड़-पत्थर चुनवाना, जूतों पर पॉलिश करवाना, पुरुषों के खाये झूठे खानों पर लोट-पोट होना और घर-परिवार वालों से मिलने की इजाज़त न दिया जाना उनको दी जाने वाली कुछ सज़ाएं हैं। वहां लायी गयी स्त्रियों के नवजात बच्चों की रक्त शुद्धता

की जांच की जाती है और यदि बच्चा मिश्रित रक्त का है तो उसे मार दिया जाता है। रक्त की शुद्धता का सिद्धांत फ़ासीवादी सिद्धांत है। हिटलर आर्य नस्ल के लोगों को श्रेष्ठ मानता था और ठीक यही विचारधारा आरएसएस की भी रही है जिसकी प्रेरणा फ़ासीवाद भी है और *मनुस्मृति* जैसे ब्राह्मणवादी ग्रंथ भी। इस विचारधारा का भारतीय संविधान से सीधा विरोध है। यहां इस बात को याद रखना ज़रूरी है कि जब संविधान को अंतिम रूप दिया (नवंबर 26, 1949) जा रहा था, तो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने *मनुस्मृति* को भारत का संविधान घोषित नहीं किये जाने पर ज़ोरदार आपत्ति की थी। यहां यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि *मनुस्मृति* वर्ण और जाति आधारित व्यवस्था को सख़्ती से लागू करने, श्रेणीबद्धता में सबसे निम्न बताये गये शूद्रों और स्त्रियों को हर तरह के मानव अधिकारों से वंचित करने की वकालत करती है। इसी विचारधारा को मानने वाले लोग आज भारत की शासन व्यवस्था पर आसीन हैं और पिछले पांच साल से जिस रास्ते पर चल रहे हैं उसको देखते हुए इस बात को काल्पनिक कहकर ठुकराया नहीं जा सकता कि वे कल को भारतीय संविधान को हटाकर उसकी जगह *मनुस्मृति* और फ़ासीवाद का रक्त शुद्धता का सिद्धांत लागू कर सकते हैं।

हिटलर ने अंधराष्ट्रवाद के ज़रिये लोगों को एकजुट करने का प्रयत्न किया था और जर्मन जाति की श्रेष्ठता के ज़रिये उन्हें यहूदियों के ख़िलाफ़ भड़काया था। आर एस एस के राष्ट्रवाद का आधार भी फ़ासीवाद ही है। *लैला* का आर्यावर्त ऐसा ही फ़ासीवादी राष्ट्र है। इसमें बहुत कुछ ऐसा होता है जो हिटलर के शासन की याद दिलाता है। स्त्रियों से शपथ दिलायी जाती है कि आर्यावर्त के लिए जान देना और जान लेना उनका कर्तव्य है। चाहे वह जान उनके अपने बच्चे की ही क्यों न हो। स्कूलों में बच्चों को सिखाया जाता है कि उनका जन्म ही उनका कर्म है और आर्यावर्त के दुश्मनों पर दया नहीं करनी चाहिए। पूजा त्रिपाठी नामक स्त्री को गैस चेंबर में इसलिए मार दिया जाता है कि उसके गर्भ में मिश्रित संतान है। हत्या करने का दायित्व शालिनी को सौंपा जाता है, वह जब इन्कार कर देती है तो उसे श्रम केंद्र भेजने की सज़ा दी जाती है।

श्रम केंद्र का एक अधिकारी भानु (सिद्धार्थ) शालिनी को वहां से ले जाता है। क़ैदियों को ले जाने वाली गाड़ी में दूसरी कई स्त्रियां बैठी हैं। शालिनी भी जाकर बैठ जाती है, तो उसे कहा जाता है कि वह पंचकर्मी वाली जगह पर जाकर बैठे। गाड़ी स्लम बस्तियों से गुज़रती है जहां एक जगह पानी के टैंकर के आसपास लोगों की भारी भीड़ है। पानी हासिल करने के लिए लोगों में मारामारी हो रही है। आर्यावर्त की गाड़ी देखकर लोग उस पर हमला कर देते हैं। स्लम बस्ती के लोग 'आर्यावर्त मुर्दाबाद' के नारे लगाने लगते हैं। लोग धक्के देकर गाड़ी को लुढ़का देते हैं। इस अफरातफरी में शालिनी को भागने का मौक़ा मिल जाता है और वह वहां से फ़रार हो जाती है। उसे भागते हुए भानु देख लेता है और वह उसके पीछे जाता है। स्लम बस्ती में रहने वाले लोग आर्यावर्त के लोगों से नफ़रत करते हैं। स्लम बस्ती गंदी नालियों, टूटे-फूटे मकानों, कच्ची सड़कों और फटेहाल लोगों की बस्ती हैं जिसके एक तरफ़ गंदगी के पहाड़ों की तरह ढेर लगे हुए हैं, जिनमें से उठता हुआ धुआं और जगह-जगह आग दिखायी देती है। स्लम बस्ती में रहने वालों को दूष कहा जाता है, दूष यानी दूषित और अपवित्र। न जिनका छुआ खाया जा सकता है और न ही जिनके साथ रहा जा सकता है। स्लम बस्ती में जगह-जगह दीवारों पर नारे लिखे होते हैं जैसे, 'हमें चाहिए आज़ादी', 'तुम उन्नति करो, हम आग में जलें' और 'जोशी का सपना, सारा माल अपना'। हर तरफ़ आर्यावर्त के रेडियो पर प्रसारित होने वाले समाचार सुनायी देते हैं। रेडियो से आर्यावर्त के लोगों को चेतावनी दी जाती है कि वे स्लम बस्ती में न जायें, यह उनके लिए ख़तरनाक हो सकता है। रेडियो से पंचकर्मियों के लाभ के लिए नयी-नयी घोषणाएं भी की जाती हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि

पंचकर्मी आर्यावर्त के श्रेष्ठ नागरिक हैं, शेष उनके नीचे। यह हिंदू वर्णव्यवस्था का ही प्रतिरूप है।

शालिनी भटकती हुई एक ऐसी अंधेरी, गंदी जगह पर पहुंचती है जहां कुछ छोटे-छोटे बच्चे एक पिंजरे जैसे कमरे में क़ैद हैं। वह उन बच्चों से पूछती है कि क्या वह यहां से फ़ोन कर सकती है। एक बच्ची रूप (मनीषा मेथरी) इस शर्त पर बताने के लिए तैयार होती है कि वह उसे वहां से आज़ाद करा दे। कमरे के बाहर दीवार पर ताले की चाबी लटकी होती है। शालिनी उसे आज़ाद करा देती है। लड़की भागने की कोशिश करती है लेकिन शालिनी उसे पकड़ लेती है। रूप उसे एक दुकान में ले जाती है जहां फ़ोन करने की सुविधा है। दुकानदार ने गांधी की तस्वीर दीवार पर टांग रखी है। इस तस्वीर के पीछे जोशी जी की तस्वीर लगी है। दुकान पर जब आर्यावर्त से कोई आता है तो वह गांधी जी की तस्वीर उलटकर छुपा देता है। शालिनी अपने ससुराल अपने देवर नाज़ से बात करने की कोशिश करती है, लेकिन नाकामयाब रहती है। शालिनी अशरफ़ गंज जाना चाहती है जहां उसकी ससुराल है। उसे उम्मीद है कि उसकी बेटी अपने दादा-दादी के यहां होगी। रास्ते में उन्नति जल बोर्ड का पानी का एटीएम दिखायी देता है। लड़की पानी पीना चाहती है लेकिन उस एटीएम से केवल आर्यावर्त के लोग ही पानी पी सकते हैं, स्लम बस्ती के नहीं। लड़की पैसे देती है और शालिनी अपने टेटू से मशीन चालू करती है और पानी की एक प्लास्टिक की थैली मशीन से निकल आती है। पानी की थैली ठंडी न होने पर लड़की गाली देते हुए कहती है, 'पूंजीवादी चोर'। यह गाली सुनकर शालिनी को आश्चर्य होता है। वह बच्ची से पूछती है कि यह उसने कहां से सीखा। बच्ची बताती है कि अपने पापा से जो विद्रोही थे और इसीलिए उन्हें और मां को मार दिया गया। इस छोटे से संकेत द्वारा धारावाहिक यह बताता है कि आर्यावर्त की फ़ासीवादी राजसत्ता पूंजीवादी राजसत्ता भी है। शालिनी रूप को पानी पीने के लिए थैली देती है, लेकिन वह लेने से यह कहते हुए इंकार करती है कि वह दूष है, अगर उसका छुआ पानी पियेगी तो शालिनी अशुद्ध हो जायेगी। लेकिन शालिनी के दबाव से वह पानी पी लेती है और बाद में शालिनी भी उसी थैली से पानी पीती है। फिर वह दोनों आगे बढ़ जाते हैं। दीवारों पर आर्यावर्त की सत्ता के ख़िलाफ़ नारे लिखे होते हैं, कार्टून बने होते हैं। इन्हें देखकर बच्ची शालिनी से पूछती है कि यह ताजमहल है ना। तो शालिनी को वह दिन याद आता है जब ताजमहल को बम से उड़ा दिया गया था। इस घटना से रिज़वान के माता-पिता और रिज़वान बहुत चिंतित हो गये थे।

ताजमहल विध्वंस की घटना कई अर्थों को व्यक्त करती है। यह बाबरी मस्जिद विध्वंस की याद दिलाती है। यह उसी समय ताजमहल पर हुए संघी हमले की भी याद दिलाती है। यह मध्यकालीन इमारतों ख़ासतौर पर मुस्लिम शासकों द्वारा बनायी गयी इमारतों के प्रति संघ परिवार की नफ़रत को भी व्यक्त करती हैं। संघ आरंभ से ही एक तरफ़ इन इमारतों को गुलामी का प्रतीक मानता रहा है तो दूसरी तरफ़ उन्हें हिंदू इमारत भी बताता है। बाबरी मस्जिद के नीचे राम जन्म भूमि होने का दावा किया जाता है तो ताजमहल को तेजोमय मंदिर बताया जाता है। ताजमहल प्रेम का प्रतीक है लेकिन संघियों के लिए वह नफ़रत का प्रतीक है। इसके विध्वंस द्वारा वे मुसलमानों में भय और असुरक्षा पैदा करते हैं ताकि वे आर्यावर्त में अपनी दोयम दर्जे की स्थिति को स्वीकार कर ले। ताजमहल के विध्वंस के समय जिस तरह की भावना रिज़वान चौधरी के परिवार में पैदा होती है, वैसी ही भावना लाखों-लाख मुसलमानों में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के समय पैदा हुई थी।

शालिनी को अपने ससुराल में लैला नहीं मिलती। भानु उसे वहां से ले जाता है। वह श्रम केंद्र पहुंच जाती है। वह एक गंदी, अंधेरे से घिरी बहुमंज़िली इमारत होती है। 21वें माले पर शालिनी को ठहरने की जगह दी जाती है जहां तक उसे सीढ़ियों से चढ़कर जाना होता है। रास्ते में शालिनी को सीढ़ियों

में बीमार से दिखते इधर-उधर बैठे या आते-जाते लोग नज़र आते हैं। ऊपर पहुंचने पर उसे गगनचुंबी इमारतों से जगमगाता आर्यावर्त नज़र आता है।

आर्यावर्त के शासकों का भी बुद्धिजीवियों के प्रति वही रवैया है जो हिटलर का था। उस समय जर्मनी में प्रोफ़ेसरों, बुद्धिजीवियों, लेखकों और कलाकारों को देश छोड़कर भागना पड़ा था, और जो भाग नहीं पाये थे, उन्हें चुप करा दिया गया था। भारत में भी संघी सरकार के दौर में यही स्थिति है। मौजूदा सत्ता का विरोध करने वाले लेखकों और बुद्धिजीवियों की हत्या, उनको झूठे मुक़दमों में फंसाकर जेल भेज देना, सोशल मीडिया द्वारा उनके साथ गाली-गलौज करना, धमकाना आम बात है। श्रम केंद्र से एक दिन भानु शालिनी, मधु और अन्य बंदियों को एक गाड़ी में बैठाकर राजनीति विज्ञान के एक प्रोफ़ेसर नकुल चौबे के यहां ले जाता है। नकुल चौबे के घर के बाहर एक उग्र भीड़ प्रदर्शन कर रही है और 'नकुल चौबे को फांसी दो', 'देशद्रोहियों को फांसी दो', 'आर्यावर्त ज़िंदाबाद' के नारे लगा रही है। घर के अंदर तलाशी चल रही है। एक अफ़सर दूसरे अफ़सर को एक किताब दिखाते हुए कहता है कि यहां सेन वाली किताब भी है। यहां सेन से तात्पर्य अमर्त्य सेन भी हो सकते हैं और ऐसा कोई भी लेखक जिसे आर्यावर्त में देशद्रोही घोषित किया गया हो। आगे के एक एपिसोड में बताया जाता है कि आर्यावर्त में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के काव्य को अपने पास रखना और उसे पढ़ना और सुनना ग़ैरक़ानूनी है। प्रोफ़ेसर के घर में रखी किताबें और दूसरी वस्तुओं को ज़ब्त कर लिया जाता है। पुलिस प्रोफ़ेसर को पकड़ कर ले जाती है और उसे भीड़ के बीच धकेल दिया जाता है। भीड़ उस पर टूट पड़ती है। उसे लात-घूंसों से मारा-पीटा जाता है। इस तरह भीड़ के हाथों प्रोफ़ेसर की हत्या कर दी जाती है। मॉब लिंचिंग की घटनाएं आज के हिंदुस्तान में आम बात हैं। मुसलमानों और दलितों को भीड़ द्वारा पीट-पीट कर जान से मार देने की घटनाएं रोज़ हो रही हैं और ऐसी घटनाओं का विरोध करने वाले लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों को भी सत्ता के गुस्से का शिकार होना पड़ता है।

इसी दौरान शालिनी को स्काइडोम नामक प्रोजेक्ट के चीफ़ इंजीनियर डॉ. दीक्षित के यहां काम के लिए भेजा जाता है। दीक्षित को डॉ. जोशी ने अमेरिका से ख़ासतौर पर आर्यावर्त बुलाया है। वह एक ऐसे प्रोजेक्ट पर काम कर रहा है, जिससे सभी को स्वच्छ हवा और पानी उपलब्ध हो सके। दीक्षित का पूरा परिवार जोशी का परम भक्त नज़र आता है। उसका मुख्य काम दीक्षित के छोटे बच्चे की देखभाल करना होता है। एक दिन पुलिस डॉ. दीक्षित को पकड़ के ले जाती है। श्रीमती दीक्षित इससे डर जाती है। उसे लगता है कि उसके बच्चे को भी ले जाया जायेगा। क्योंकि वह बच्चा उनका नहीं होता। वह एक मिश्रित बच्चा है जिसे उन्होंने पैसे देकर ख़रीदा था। शालिनी श्रीमती दीक्षित और बच्चे को भगाने में मदद करती है। तभी उसे मालूम पड़ता है कि भानु आर्यावर्त के विरुद्ध काम करने वाला विद्रोही है। शालिनी ने डॉ. दीक्षित का पीछा भी किया था और डस्टबिन में उनके द्वारा किसी और के लिए छोड़ा गया एक पैकेट भी उसने अपने पास छिपा लिया था।

भानु शालिनी को पोलिटिकल सेक्टर ले जाता है। वहां आर्यावर्त के एक शक्तिशाली नेता राव साहब (आकाश खुराना) का घर है। शालिनी को उनके यहां काम करते हुए यह समझ आ जाता है कि राव साहब जोशी को पसंद नहीं करता और उसे हटाकर खुद सत्ता हासिल करना चाहता है।

शालिनी दीक्षित से संबंधित पैकेट भानु को देती है। वह दीक्षित का वीडियो है जिसमें वह स्काइडोम प्रोजेक्ट के बारे में बता रहा है। वीडियो में दीक्षित अंग्रेज़ी में कहता हुआ नज़र आता है कि 'स्काइडोम एक विशाल एअर कंडीशनर के अलावा कुछ नहीं है जिसके चार निकास द्वार हैं जो बाहर की तरफ़ गर्म हवा छोड़ते हैं। ये चारों द्वार इतनी गर्म हवा छोड़ेंगे कि वह एक साथ उड़ने वाले 500 जेट विमानों के

बराबर होगी। बी निकास द्वार के पास ही वह विशाल कूड़ा डालने वाली जगह है। जो गैस छोड़ी जायेगी वह साठ सैकंड में आग पकड़ लेगी जिसे रोकना किसी के लिए भी मुमकिन नहीं होगा। यह आग दो घंटे में जो कुछ भी स्काइडोम के बाहर होगा उसे नष्ट कर देगी। मेरे विचार में यह जेनोसाइड के अलावा और कुछ नहीं है।' वीडियो से स्पष्ट है कि स्काइडोम की योजना का सीधा असर आर्यावर्त के बाहर स्लम बस्तियों में रहने वाले ग़रीब लोगों के लिए ख़तरनाक साबित होने वाला है। अगर यह योजना लागू हो जाती है तो स्लम बस्तियों में रहने वाले लोग ज़हरीली गैस से मरने को विवश होंगे। यह ग़ौरतलब है कि आधुनिक प्रोद्यौगिकी पर आधारित विकास का जो रास्ता अपनाया गया है उसने पर्यावरण को भयावह रूप से दूषित किया है और इसका सबसे ख़तरनाक असर उन ग़रीब लोगों पर पड़ रहा है जो झुग्गी बस्तियों में रहने के लिए मजबूर हैं।

जिस व्यक्ति राकेश सिंह ने शालिनी के घर पर हमला किया था, वही बच्चे बेचने का धंधा करता है। शालिनी बच्ची की खोज में उस तक पहुंच जाती है और उसे पीटती है। पुलिस उसे पकड़ कर ले जाती है और उसे वापस वनिता कल्याण केंद्र में भेज दिया जाता है। शालिनी को गुरु मां के सामने पेश किया जाता है। उसे अपने पाप गिनाने के लिए मजबूर किया जाता है। गुरु मां उसे कहता है कि तुम अब शुद्धि के परे हो। एक कलंक हो, आर्यावर्त की सभ्य महिलाओं के नाम पर। यानी गैस चेंबर में बंद कर उसे भी मारा जा सकता है।

भानु के और भी कई साथी हैं जो मौजूदा सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहते हैं। स्लम बस्ती में इनका एक गुप्त अड्डा भी है, जहां कंप्यूटर आदि लगे हैं। वे राकेश सिंह का अपहरण कर उसकी हत्या कर देते हैं। भानु को इस बात की सूचना मिल जाती है कि शालिनी को वनिता कल्याण केंद्र भेज दिया गया है। वह शालिनी को वहां से निकालने के लिए वनिता कल्याण केंद्र पहुंच जाता है। वह राव साहब का नाम लेकर उसे वहां से छुड़वाने में कामयाब हो जाता है। भानु शालिनी को बताता है कि राकेश सिंह को उन लोगों ने गायब किया है जिनको लगता है कि आर्यावर्त वालों के गले में हाथ डालकर यह देश वापस छीना जा सकता है। वह शालिनी को यह भी बताता है कि दीक्षित सर और उनकी पत्नी को बीच चौराहे पर लटकाकर मार दिया गया। जब उनकी गर्दन टूटी तो लोग ताली बजा रहे थे। शालिनी उनके बेटे के बारे में पूछती है, तो भानु बताता है, प्रोजेक्ट बली। यानी कि उस बच्चे को भी मार दिया गया है। शालिनी उससे जानना चाहती है कि यह प्रोजेक्ट बली क्या है और मिश्रित बच्चों को वहां क्यों ले जाते हैं। भानु इस बात का जवाब देने की बजाय कहता है कि हमें राव साहब से, किसी भी हालत में स्काइडोम के फंक्शन का प्लान चाहिए। और वह तुम राव साहब से निकलवा सकती हो। कुछ क्षण रुककर वह कहता है, तुम्हें अपनी बेटी चाहिए और हमें अपना देश। देश मिल गया तो जानकारी भी मिल जायेगी। शालिनी भानु की मदद करने के लिए तैयार हो जाती है और इस तरह वह भी विद्रोहियों में शामिल हो जाती है। वह शालिनी को रावसाहब के यहां दोबारा रखवा देता है।

विद्रोहियों के गुप्त अड्डे पर ड्रोन से बमबारी की जाती है। राव साहब को मालूम है कि शालिनी का संबंध अभिजात वर्ग से है। वह आर्यावर्त बनने से पहले के हालात का उल्लेख करते हुए उसके बनने को सही ठहराता है। वह कहता है, 'क्या होता था, तब। दिन दहाड़े चोरी-चकारी, छीना-झपटी, बलात्कार। और तुम जैसे लोगों को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। सब अपने में मस्त थे चाहे देश जाये भाड़ में। नाच-गाना, नौटंकी, पेंटिंग, पोइट्री। आर्ट फार्ट। ये सब कला नहीं बला है। समय भी बर्बाद होता है और दिमाग़ भी ख़राब होता है। जबसे सारे दूषितों को आर्यावर्त की सीमा से बाहर फेंका है, देखो कितनी शांति है यहां। ज़ीरो क्राइम रेट। जय आर्यावर्त।' फ़ासिस्ट हमेशा लोकतंत्र को कुचलने और तानाशाही

को लागू करने का औचित्य ऐसे ही तर्कों से साबित करने की कोशिश करते हैं। मूल रूप में जोशी और राव साहब की विचारधारा में कोई फ़र्क़ नहीं है। जब ताजमहल को बम से उड़ाया जा रहा था, उस समय जोशी और राव साहब दोनों साथ-साथ थे। लेकिन राव साहब को फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की शायरी बहुत पसंद है जिस पर प्रतिबंध लगा हुआ है। यह उसके व्यक्तित्व का अंतर्विरोध ज़रूर है लेकिन उसके गुनाह इससे कम नहीं हो जाते।

शालिनी को मालूम पड़ जाता है कि उसकी बेटी लैला जोशी के ख़ास आदमी आशीष यादव के घर में विजया यादव बनकर पल रही है। आशीष यादव सपना नामक स्त्री का पति है जो कभी शालिनी के यहां नौकर थी। सपना लैला को लौटाने से इन्कार कर देती है। उधर भानु शालिनी के जरिये स्काइडोम के फ़ंक्शन का प्लान हासिल करना चाहता है। जिसे कुछ कठिनाइयों के बाद शालिनी हासिल करने में कामयाब हो जाती है। शालिनी को जब मालूम पड़ता है कि उसकी बेटी स्काइडोम के फ़ंक्शन में भाग लेने वाली है तो वह भी उस फ़ंक्शन में जाना चाहती है। इसके लिए वह भानु के माध्यम से नूरजहां द्वारा गायी गयी फ़ैज़ की नज़्म 'मेरी पहली सी मोहब्बत' हासिल करती है और राव साहब को देती है। वह राव साहब को बताती है कि उसकी बेटी आशीष यादव के यहां विजया यादव बन कर पल रही है और उसने उसे काफ़ी समय से देखा नहीं है। वह यह भी बताती है कि उसकी बेटी मिश्रित संतान होने के कारण उससे छीन ली गयी है। वह स्काइडोम वाले फ़ंक्शन में परफ़ॉर्म करने वाली है। एक मिश्रित संतान का जोशी के ख़ास आदमी के घर में पलने की सूचना राव साहब के लिए चौंकाने वाली होती है। वह इस सूचना का इस्तेमाल जोशी को एक्सपोज़ करने के लिए करना चाहता है। इसलिए वह शालिनी को गेस्ट ऑफ़ ऑनर बनाकर ले जाने के लिए तैयार हो जाता है।

उधर भानु और उसके साथियों को समझ में आ जाता है कि कड़ी सुरक्षा के कारण उनके लिए फ़ंक्शन के दौरान कुछ करना मुश्किल है इसलिए वे जोशी पर हमला करने के लिए शालिनी का इस्तेमाल करते हैं। भानु शालिनी को जहरीली गैस से भरा एक बल्ब देता है जिसे आयोजन स्थल पर उसे भानु को देना होता है। वह पहले तो तैयार नहीं होती लेकिन अपनी बेटी और स्वयं को आर्यावर्त से बाहर निकाल ले जाने की उम्मीद में तैयार हो जाती है। वह भानु से कहती भी है कि हम टेररिस्ट नहीं हैं। अगर हम भी हिंसा का सहारा लेते हैं तो फिर हमारे में और उनमें फ़र्क़ क्या है। वह राव साहब के लंच में बल्ब छिपाकर ले जाती है और राव साहब के साथ होने के कारण सुरक्षित फ़ंक्शन हॉल में पहुंच जाती है।

जोशी के स्वागत में राव साहब जो भाषण देते हैं, उसमें वह रक्त की शुद्धता की फ़ासीवादी धारणा को महिमामंडित करता है और स्त्रियों पर लगे प्रतिबंधों को सही ठहराता है। वह इसे जोशी जी का कारनामा कहता है, 'यह कारनामा ही तो है कि जो लोग कीड़े-मकोड़े का जीवन जी रहे थे, आर्यावर्त ने उन्हें शुद्धता के मार्ग पर ला खड़ा किया। उन्हें मान दिया, सम्मान दिया। अपने दिल में स्थान दिया। इन्हें देखिए, जो महिलाएं बहक गयी थीं, जिन पर पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ गया था, जिन्हें शुद्ध अशुद्ध लगता था और अशुद्ध शुद्ध। जिनकी कोख से मिश्रित संतानों ने जन्म लिया। और यह जोशीजी के मार्गदर्शन का ही कमाल है कि जिन महिलाओं से आर्यावर्त की साख को ख़तरा था, आज वे संस्कृति की राह पर चल पड़ी हैं।' राव साहब तीन स्त्रियों को वहां पेश करते हैं, जिनमें शालिनी भी शामिल है। ध्यान देने की बात यह है कि तीनों स्त्रियां पंचकर्मी हैं यानी सबसे ऊंची जाति की स्त्रियां हैं लेकिन उनका गुनाह यह है कि उन्होंने नीच जाति के पुरुष से या मुसलमान से शादी की या पिता की संपत्ति में बराबरी का हिस्सा मांगा। ये तीनों बातें आर्यावर्त में अपराध हैं। ऐसे क़ानून किसी लोकतांत्रिक और समतावादी समाज में मुमकिन नहीं हैं। यह किसी फ़ासीवादी हिंदू राष्ट्र में ही संभव है।

शालिनी को जब जोशी के सामने पेश किया जाता है, तो वह बल्ब निकाल लेती है और जोशी को मारने की धमकी देकर अपनी बेटी वापस हासिल करने की कोशिश करती है। 'मुझे मेरी ज़िंदगी वापस चाहिए। मुझे मेरी आज़ादी वापस चाहिए। मुझे मेरी लैला वापस चाहिए'। लेकिन बेटी शालिनी के पास नहीं आती। वह उसे कहती है, 'तुम मेरी मां नहीं हो, मेरी मां आर्यावर्त है।' ज़ाहिर है कि उसकी पूरी तरह से 'ब्रेन वाशिंग' की जा चुकी है। आर्यावर्त ने उससे उसकी बेटी को भौतिक रूप से ही नहीं मानसिक रूप से भी छीन लिया है। शालिनी कहती है, 'मैं अपनी आज़ादी वापस लेकर रहूंगी' और जोशी कहता है कि 'तुम आर्यावर्त को नहीं जीत सकतीं'। जोशी बल्ब लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाता है लेकिन वह बल्ब पर अपना दबाव बढ़ाती है।

अंतिम एपिसोड यहीं समाप्त हो जाता है। धारावाहिक यह नहीं बताता कि अंत में क्या हुआ। वह उतना महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। *लैला* धारावाहिक एक फ़ासिस्ट हिंदू राष्ट्र किस तरह का हो सकता है, इसे बताने में काफ़ी हद तक कामयाब है। वह यह बताने में भी कामयाब है कि इस तरह की राजसत्ता में सबसे ज़्यादा उत्पीड़न ग़रीबों, अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों और उन सभी लोगों का होता है जो फ़ासिस्ट सत्ता का विरोध करते हैं। धारावाहिक में बहुत सी कमज़ोरियां हैं। कई पक्ष ठीक से उभरकर नहीं आये हैं। पंचकर्मी और अन्य कर्मी ठीक से परिभाषित नहीं हुए हैं। जनविद्रोह की कोई स्पष्ट तस्वीर नहीं उभरती। एक बड़ी आबादी को स्लम बस्तियों में धकेलना क्या इतना आसान है? आर्यावर्त में मुसलमानों की वास्तविक स्थिति ठीक से उभरकर नहीं आती। ज़ाहिर है कि *लैला* भविष्य की एक काल्पनिक कहानी ही है और आर्यावर्त एक काल्पनिक देश है। यह भी मुमकिन है कि यह डरावना समय कभी आये ही नहीं, लेकिन यह भी सच्चाई है कि यह आर्यावर्त टुकड़ों-टुकड़ों में आज भी हमारे बीच मौजूद है, भले ही हम अपनी सुरक्षित दुनिया में जीते हुए इसे देखने से इन्कार करें।

मोबाइल : 09810606751

समीक्षा

हिंदू दक्षिणपंथ की जन्मकुंडली

अनन्या वाजपेयी

संविधान-विशेषज्ञ, सर्वोच्च न्यायालय के वकील और एक दर्जन से अधिक पुस्तकों के लेखक, ए.जी. नूरानी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के ताल्लुक़ से और उसके ख़िलाफ़ लिखे गये अपने इतिहास तथा घोषणापत्र की शुरुआत इस बात से करते हैं, 'जो कुछ दांव पर लगा है वह केवल भारतीय सपना नहीं है। भारत की आत्मा दांव पर लगी है।'

उनकी पुस्तक का नाम किसी तरह की दुविधा से परे है : *आर.एस.एस : भारत के लिए ख़तरा*। उन्होंने 25 अध्यायों और 550 पृष्ठों के माध्यम से विचारों की उस रणभूमि को दिखाने का प्रयास किया है जिस पर 1857 से आगे का भारत निर्मित और पुनर्निर्मित हुआ है। मोदी और भाजपा के समकालीन प्रभुत्व की व्याख्या उस लड़ाई को समझे बिना संभव नहीं जो एक सदी से ज़्यादा समय से 'हिंद स्वराज' और 'हिंदू राष्ट्र' के बीच चली आ रही है।

भारत ने औपनिवेशिक शासन से आज़ादी कैसे हासिल की, इस कहानी को परंपरागत रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद और एक प्रतिरोधी भारतीय राष्ट्रवाद के बीच टकराव के परिणाम के रूप में पेश किया जाता रहा है। लेकिन इस आख्यान के समानांतर और साथ-साथ भारत के इतिहास, संस्कृति और राष्ट्रीयता के सांप्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष संस्करणों के बीच जारी एक संघर्ष भी मौजूद था। उपनिवेशवाद के सफल प्रतिकार और ब्रिटिश राज के अंत ने भारतीय और पाकिस्तानी राष्ट्र के जन्म की राह हमवार की। लेकिन भारत के सांप्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष विचारों के बीच के घातक संघर्ष को हल करने में हुई विफलता ने आज़ादी और वि-उपनिवेशीकरण के लम्हे को खून और पागलपन में डुबो दिया।

दक्षिणपंथियों की लोकप्रिय निर्वाचित सरकार के दूसरे कार्यकाल की शुरुआत में, जहां आज हम हैं, सात दशकों से भी अधिक गुज़र जाने के बाद भी विभाजन के अधूरेपन की गूंज समायी है और इसके साथ ही, औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत - दोनों में सांप्रदायिकता की आग को भड़काने, और 2014 में मोदी के पहले चुनाव की समाप्ति तक इसे धीमी गति से जलाये रखने में आर.एस.एस. का ख़तरनाक हाथ रहा है।

अपने आधिकारिक अध्ययन में, नूरानी ने उपमहाद्वीप के ऐतिहासिक जीवन में मुस्लिम उपस्थिति, भागीदारी और घुलनशीलता की सदियों पुरानी वास्तविकता को लगातार नकारने में आर.एस.एस. की भूमिका की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। 1925 में अपनी स्थापना के समय से आर.एस.एस. ने हमेशा भारत के समस्त अतीत और भविष्य में हिंदुओं की प्रधानता और पवित्रता के गल्प को आगे बढ़ाया है। इसने हिंदू पहचान को इस तरह से विकृत करने की कोशिश की है ताकि हिंदू धर्म के अंतर्निहित बहुआयामी और विकेंद्रीकृत चरित्र को ख़ारिज किया जा सके और उसकी जगह एक असमावेशी तथा कट्टरपंथी नयी विचारधारा – हिंदुत्व – को स्थापित किया जा सके।

नूरानी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि आर.एस.एस. के केवल 'सांस्कृतिक संगठन' होने की धारणा जिस रूप में आर.एस.एस. ख़ुद को प्रोजेक्ट करना पसंद करता है—पूरी तरह से ग़लत और भ्रामक है, भले ही वह अन्य राजनीतिक दलों की तरह सीधे चुनावी मैदान में न उतरता हो। दरअसल, आर.एस.एस. का हमेशा एक राजनीतिक एजेंडा रहा है—हिंदू राष्ट्र का निर्माण, जहां 'राष्ट्र' को 'राष्ट्र' के रूप में कम और 'राइख़' के रूप में ज़्यादा समझा जाना चाहिए, जिसमें फ़ासीवाद और नाज़ीवाद की सभी धारणाएं समाहित हैं और जो आर.एस.एस. के संस्थापकों को प्रेरणा देती हैं। इस राष्ट्र में मुसलमानों के लिए या वस्तुतः किसी भी तरह के धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए कोई जगह नहीं है।

नूरानी के मुताबिक़, मुख्यधारा के राष्ट्रवादियों के सबसे रूढ़िवादी और हिंदू सोच वाले लोग भी—जिनमें तिलक, लाला लाजपत राय और मदन मोहन मालवीय शामिल थे और जो निश्चित रूप से गांधी, टैगोर और नेहरू के मुक़ाबले दक्षिणपंथी थे—भारतीय परिदृश्य में विभिन्न धर्मों के अलग-अलग वजूद को लेकर किसी सांप्रदायिक सोच के शिकार न थे। इसके विपरीत, सावरकर, गोलवलकर और हेडगेवार जैसे आर.एस.एस. के विचारक 1920 के दशक के बाद से इटली और जर्मनी के सर्वाधिकारवाद से प्रेरणा लेते हुए साफ़ तौर पर मुस्लिमविरोधी एवं बहुसंख्यावादी थे और जो भारत में तथा ब्रिटिश साम्राज्य के दीगर हिस्सों में भी मुस्लिम सत्ता के ख़िलाफ़ औपनिवेशिक शत्रुता के समर्थक थे।

उन्होंने ऐसी भारत माता की फंतासी रची जो केवल हिंदू धर्म के अनुयायियों, हिंदी भाषा के बोलने वालों, पवित्र गाय के उपासकों और सवर्ण समाज के सदस्यों से आबाद है और जिसका भू-सांस्कृतिक इलाक़ा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र-तट तक विस्तृत है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्थक और सावरकर के अनुयायी नाथूराम गोड्से ने जनवरी 1948 में महात्मा गांधी की हत्या कर दी। नेहरू और आंबेडकर ने आर.एस.एस. के हर क़दम को नाकाम किया और एक समतावादी और धर्मनिरपेक्ष संविधान लिखकर जनवरी 1950 में इसे लागू किया। टैगोर के 'आइडिया ऑफ़ इंडिया' को हड़पने और इसे सावरकर के 'हिंदू राष्ट्र' के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने के निरंतर प्रयासों के ख़िलाफ़ यह संविधान एक रक्षा-कवच के रूप में खड़ा है।

यह इस संविधान की बदौलत ही है कि 1964 में नेहरू की मृत्यु, 1970 के दशक के मध्य में आपातकाल, 1984 के बाद राम जन्मभूमि आंदोलन, लालकृष्ण आडवाणी के जनोत्तेजन कार्य, 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद का विध्वंस, 1990 के दशक के अंत में ए.बी. वाजपेयी की पहली भाजपा-नीत गठबंधन सरकार, 2002 में मुसलमानों के ख़िलाफ़ गुजरात कांड और 2014 में राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य पर नरेंद्र मोदी और अमित शाह का आगमन (2019 में उनकी सामूहिक अपील दोहरायी गयी) के बावजूद भारत का एक लोकतांत्रिक, मिश्रित, विविध और समावेशी गणतंत्र बचा हुआ है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की गाथा को बहुत बारीक़ी से देखते हुए नूरानी हमें स्पष्ट रूप से समझाना चाहते हैं कि गांधी का स्वराज, टैगोर की 'विविधता में एकता', नेहरू की धर्मनिरपेक्षता और आंबेडकर का संविधान—इन सभी को हिंदू दक्षिणपंथ से ख़तरा है। इसमें एबीवीपी, विश्व हिंदू परिषद् और बजरंग दल जैसे संघ परिवार के वंशज शामिल हैं। भाजपा और आर.एस.एस., आर्थिक राष्ट्रवाद और सांस्कृतिक बहुसंख्यवाद, नरम भगवा हिंदुत्व और स्पष्ट इस्लामोफ़ोबिया—इन सबके बीच के अंतर महज़ दिखावे के हैं।

अब जबकि चुनावी लोकतंत्र, हमारे सहजबोध के विपरीत, प्राचीनतावाद और घर वापसी , बीफ़ बैन और लिंचिंग जैसे अत्याचारों पर आधारित एक शासन को वैधता प्रदान करता है, तो एक उम्मीद की किरण, तथाकथित हिंदुत्ववादी विचारकों के ऐतिहासिक ज्ञान एवं राजनीतिक कल्पना की अत्यल्पता में

निहित है। आर.एस.एस. के विचारकों-संस्थापकों से लेकर वर्तमान समर्थकों तक के बारे में नूरानी ऐसी ही राय रखते हैं। उनका साफ़ मानना है कि भारत का निर्माण बुद्धिजीवियों द्वारा किया गया था—इसे बुद्धिजीवियों द्वारा ही बचाया भी जाना चाहिए।

लोकलुभावनवाद और अधिनायकवाद द्वारा लोकतांत्रिक प्रक्रिया में जो भी विकृतियां पैदा की गयी हों, अंततः हिंदू दक्षिणपंथ इतिहास-प्रवाह के किनारों पर फेंक दिये जाने के लिए अभिशप्त है। इसके झूठ को उस एक सिद्धांत से परास्त होना है जिसके बारे में गांधी ने हमें बताया था कि वही वस्तुतः राजनीति को सहारा देता है। वह सिद्धांत है : सत्य।

अंग्रेज़ी दैनिक, *द हिंदू* से साभार
अनुवाद : अशोक तिवारी
मो. : 9312061821

पुस्तक : *द आर.एस.एस. : ए मेनेस टू इंडिया* (अंग्रेज़ी)
लेखक : ए.जी. नूरानी ,
प्रकाशक : लेफ़्टवर्ड बुक्स,
मूल्य : 1500 रुपये

नया पथ के उपलब्ध अंक (सीमित प्रतियां)

अंक	मूल्य
1. अक्टूबर-दिसंबर 2008	30 रु.
2. अप्रैल-जून 2009	30 ,,
3. जुलाई-सितंबर 2009	30 ,,
4. अप्रैल-जून 2010	50 ,,
5. जुलाई-सितंबर 2010 (त्रिपुरा विशेषांक)	50 ,,
6. अक्टूबर-दिसंबर 2010 (फ़ैज़ विशेषांक)	100 ,,
7. जुलाई-दिसंबर 2012 (*बालाबोधिनी* अंक)	60 ,,
8. जुलाई-सितंबर 2013	60 ,,
9. अक्टूबर-दिसंबर 2013 (राजेंद्र यादव अंक)	60 ,,
10. अक्टूबर 2014-मार्च 2015	60 ,,
11. जुलाई 2016-मार्च 2017 (इस्मत चुग़ताई अंक)	100 ,,
12. अप्रैल-सितंबर 2017 (मुक्तिबोध अंक)	100 ,,
13. अक्टूबर 2017- मार्च 2018	100 ,,
14 अप्रैल-सितंबर 2018 (रज़िया सज्जाद अंक)	60 ,,
15. अक्टूबर-दिसंबर 2018 (भैरवप्रसाद गुप्त अंक)	80 ,,

नोट : आर्डर के साथ डाकख़र्च 30 रुपये भी भेजें :

संपादक *नया पथ,*
ख़सरा नं 258, लेन नं 3,
चंपा गली, वेस्ट एंड मार्ग,
सैदुल्लाजाब, साकेत मैट्रो के पास,
नयी दिल्ली-110030